❀ ओ३म् ❀

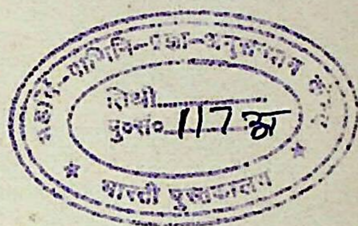
उणादि-कोष:

[आर्यसमाज-शताब्दी-संस्करणम्]

✲ ✲

व्याख्याकार—

स्वामी दयानन्द सरस्वती



ডা০ [illegible]
তারিখ: 12.12.81।

उणादि-कोषः

भगवत्पाद-दयानन्द सरस्वती स्वामिना विरचितया
वैदिक-लौकिक-कोषाभिधया व्याख्यया सहितः
विविधाभिष्टिप्पणीभिः सूचीभिश्च संयुतः

सम्पादकः—
युधिष्ठिरो मीमांसकः

प्रकाशकः—

चौधरी प्रतापसिंह

प्रधान-रा० ब० चौ० नारायणसिंह
धर्मार्थ ट्रस्ट, ५७ एल०, माडल टाउन,
करनाल

प्राप्ति-स्थानम्—

रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़
(सोनीपत, हरयाणा)

प्रथमं संस्करणम्—१०००
सं० २०३१, सन् १९७४

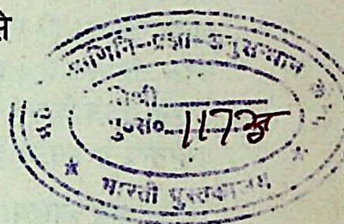
मूल्यम्—सजिल्द १०-००
अजिल्द ७-००

मुद्रकः—

सुरेन्द्र कुमार कपूर
रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस
बहालगढ़ (सोनीपत)

स म र्प ण

अनार्ष ग्रन्थों के अध्ययन से उत्पन्न
अविद्यारूपी गहन अन्धकार से
सहस्रों वर्षों से विलुप्त-प्राय
आर्ष-ग्रन्थों के समुद्धारक



गुरुवर श्री दण्डी विरजानन्द सरस्वती

एवं

उनके गुरु-भक्त शिष्य

श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती

की

पावन स्मृति में

समर्पित

करता हूं।

—प्रतापसिंह (करनाल)

प्रकाशकीय

ऋषि दयानन्द सरस्वती ने अपने वेदभाष्य में ब्राह्मण-ग्रन्थों के पश्चात् यास्कमुनि विरचित निघण्टु-निरुक्त और पाणिनि मुनिरचित व्याकरणशास्त्र को प्रमाणरूप में विशेष रूप से उद्धृत किया है। पाणिनीय व्याकरण का ही एक भाग उणादि-सूत्र वा उणादि-कोष है। यह वेदार्थ में परम सहायक है। इसकी यद्यपि अनेक प्राचीन व्याख्यायें उपलब्ध होती हैं, परन्तु उनसे वेदार्थ में विशेष सहायता नहीं मिलती। यह जानकर ऋषि दयानन्द ने इसकी वेदार्थोपयोगी एक सुन्दर व्याख्या लिखी है।

यह व्याख्या यद्यपि वैदिक यन्त्रालय से कई बार छप चुकी है, परन्तु इसका जैसा सुन्दर उपयोगी संस्करण छपना चाहिये था, वैसा अभी तक नहीं छपा। इस कमी की ओर श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया। इस ग्रन्थ की वेदार्थ में विशेष उपयोगिता देखकर हमने इसके प्रकाशन की व्यवस्था की है।

श्री मीमांसक जी ने जहां इस ग्रन्थ के शुद्ध सम्पादन का कार्य किया, वहां स्थान-स्थान पर उपयोगी टिप्पणियां, तथा अन्त में विविध प्रकार की १सूचियां देकर इस ग्रन्थ की उपयोगिता को विशेष रूप से बढ़ाया है। उन के इस कार्य से जहां पाणिनीय व्याकरण के अध्येता छात्रों को विशेष लाभ पहुंचेगा, वहां वेदार्थ-जिज्ञासु विद्वज्जनों को भी यह उपादेय होगा।

इस ग्रन्थ को शुद्ध सुन्दर छपवाने के लिये श्री पं० महेन्द्र शास्त्री जी का, और रामलाल कपूर ट्रस्ट तथा उसके प्रेस के कर्मचारियों का भी धन्यवाद करता हूं।

वर्तमान समय में कागज का मूल्य और छपाई का व्यय अत्यधिक बढ़ जाने के कारण प्रति पुस्तक अजिल्द लागत ही इतनी अधिक आई है कि तदनुसार मूल्य न्यूनातिन्यून १५-१६ रु० रखना चाहिये था, परन्तु छात्रगण भी इससे लाभ उठा सकें, इसलिये मूल्य कम रखा हैं। हमारी यही कामना है कि ऋषि दयानन्द की इस व्याख्या से प्रत्येक व्याकरण पढ़ने-पढ़ाने वाले छात्र वा विद्वान् अधिक-से-अधिक लाभ उठावें।

५७ एल०, माडल टाउन,
करनाल (हरयाणा)
१ आश्विन, सं० २०३१

निवेदक —
प्रतापसिंह
प्रधान—रा० ब० चौ० नारायणसिंह
धर्मार्थ ट्रस्ट, करनाल (हरयाणा)

सम्पादकीय

संस्कृत-वाङ्मय में व्याकरणशास्त्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। वेद के अध्ययन में यह परम सहायक है। यदि यह कहा जाय कि व्याकरणशास्त्र के परिज्ञान के विना शब्दस्वरूप का यथावत् ज्ञान ही नहीं हो सकता है, तो अत्युक्ति नहीं होगी। शब्दस्वरूप के यथावत् ज्ञान के अभाव में अर्थज्ञान की तो कथा ही स्वयं निरस्त हो जाती है।

उपलब्ध व्याकरण-तन्त्रों में सब से प्राचीन व्याकरण इस समय पाणिनीय ही उपलब्ध होता है[1]। अन्य जितने व्याकरणशास्त्र मिलते हैं, वे सब पाणिनीय-तन्त्र से उत्तरवर्ती हैं।[2]

यह परम सौभाग्य का विषय है कि पाणिनीय-तन्त्र न केवल अपने खिल पाठों के साथ पूर्णरूप में उपलब्ध होता है, अपितु इस पर भाष्य-वार्तिक-वृत्ति-टीका-व्याख्या-विवरण आदि के रूप में लिखे गये २०० सौ से ऊपर ग्रन्थ भी सम्प्रति उपलब्ध हैं।[3]

पाणिनीय-शास्त्र के साथ पञ्चपादी और दशपादी दो प्रकार के उणादि-पाठों का सम्बन्ध पाणिनीय वैयाकरणों ने स्वीकार किया है,[4]

---

१. पाणिनि से पूर्ववर्ती अनेक ऋषि-मुनि-आचार्यों ने व्याकरणशास्त्र का प्रवचन किया था। उनमें से जिन आचार्यों के ग्रन्थों का निर्देश हमें विशाल संस्कृत वाङ्मय में उपलब्ध हुआ, उनका वर्णन हमने अपने 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' नामक ग्रन्थ में विस्तार से किया है।

२. पाणिनि से उत्तरवर्ती समस्त विज्ञात व्याकरण-प्रवक्ताओं का इतिहास भी उक्त 'सं० व्या० शा० का इतिहास' ग्रन्थ में विस्तार से लिखा है।

३. आचार्य पाणिनि एवं उनके शास्त्र पर विविध रूप में व्याख्याग्रन्थ लिखनेवाले सभी ज्ञात वैयाकरणों का इतिवृत्त भी उक्त 'सं० व्या० शा० का इतिहास' ग्रन्थ में विस्तार से दिया है।

४. सभी उणादिसूत्र-प्रवक्ता आचार्यों एवं उन पर वृत्ति टीका आदि लिखनेवाले वैयाकरणों के परिचय के लिये 'सं० व्या० शा० का इतिहास' ग्रन्थ का २४वां अध्याय (भाग २, पृष्ठ१८९-२५२) देखें। इनका नामतः उल्लेख अगले 'उणादिसूत्रों और उनकी व्याख्याओं का संक्षिप्त परिचय' शीर्षक लेख में किया है।

परन्तु अधिकांश व्याख्याकारों ने पञ्चपादी उणादिपाठ पर ही अपने वृत्ति-ग्रन्थ लिखे हैं ।

प्रकृत व्याख्या के सम्पादन में प्रेरणा—मैंने वि० सं० १९८८ से संवत् १९९५ (सन् १९३१–१९३८) तक दशपादी उणादिपाठ की एक प्राचीन वृत्ति का सम्पादन किया ।[1] इसके सम्पादन के लिये जहां दशपादी-वत्ति के हस्तलेखों का संकलन किया, वहां पञ्चपादीपाठ के भी हस्त-लिखित एवं मुद्रित कई वृत्ति-ग्रन्थों को संगृहीत किया ।

दशपादी-वृत्ति के सम्पादन-काल में समस्त उपलब्ध वृत्तियों के तुलनात्मक अध्ययन से मैं इस परिणाम पर पहुंचा कि वैदिक वाङ्मय के अध्ययन के लिये स्वामी दयानन्द सरस्वती विरचित उणादिव्याख्या स्वल्पाक्षरा होते हुए भी अन्य सभी वृत्तियों की अपेक्षा अधिक सहायक है । यदि यह कहा जाये कि वैदिक वाङ्मय के शब्दों की मूल आत्मा शब्दों का धातुजत्व होना, इसी व्याख्या से परिपुष्ट होती है, तो अत्युक्ति न होगी । इसके साथ ही व्याख्याकार ने औणादिक शब्दों के लोकप्रसिद्ध अर्थों को देते हुए वैदिक वाङ्मय में प्रसिद्ध अर्थों को भी इस व्याख्या में पदे-पदे दर्शाया है। इसका एकमात्र कारण यही है कि अन्य उणादि-व्याख्याकार केवल वैया-करण थे, परन्तु इस वृत्ति के लेखक वैयाकरण होते हुए वैदिक वाङ्मय के भी परिनिष्ठ विद्वान् थे । अतः मैंने दशपादी-वृत्ति के सम्पादन के अनन्तर इस व्याख्या का सम्पादन किया । यह कार्य संवत् १९९७ (सन् १९४०) में पूर्ण हो गया ।

विवरण लेखन—प्रस्तुत व्याख्या की महत्ता को जानने और उसके सम्पादन के अनन्तर तीव्र भावना जागृत हुई कि यदि इस वृत्ति पर वैदिक वाङ्मय की दृष्टि से विस्तृत विवरण लिखा जाये, तो वैदिक वाङ्मय के अध्येताओं को जहां लाभ होगा, वहां वैयाकरणों को भी उणादिशास्त्र एवं इस वृत्ति के गौरव का बोध होगा। इस विचार से मैंने इस व्याख्या पर विवरण लिखने का उपक्रम किया, परन्तु अनेक विघ्न-बाधाओं के कारण

---

१. यद्यपि दशपादी-वृत्ति का सम्पादन-कार्य संवत् १९९५ (सन् १९३८) में समाप्त हो गया था, परन्तु प्रेस के अति मन्थर गति से मुद्रण कार्य सम्पन्न करने के कारण इसका प्रकाशन वि० सं० १९९९ (सन् १९४२) में पूर्ण हुआ । यह ग्रन्थ भूतपूर्व संस्कृत महाविद्यालय (वर्तमान में संस्कृत विश्वविद्यालय) काशी की सर-स्वती ग्रन्थमाला में छपा है ।

मैं इस महत्त्वपूर्ण कार्य को पूर्ण न कर सका। मैंने इस वृत्ति पर विवरण लिखने की जो रूपरेखा निर्धारित की थी, उसके अनुसार लिखा गया केवल प्रथम सूत्रवृत्ति का विवरण इस वृत्ति के अन्त में प्रथम परिशिष्ट में दिया जा रहा है।

प्रस्तुत उणादि-व्याख्या का मुद्रित पाठ—इस व्याख्या के उणादिकोष के नाम से वैदिक यन्त्रालय अजमेर से ६ संस्करण अभी तक प्रकाशित हुये हैं। उन्हें देखने से हस्तामलकवत् यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि यह व्याख्या जितनी ही महत्त्वपूर्ण है,उतनी ही मुद्रणादि दोषों से परिपूरित भी है। वैदिक यन्त्रालय से मुद्रित छः संस्करण भी परस्पर पूरे तौर पर नहीं मिलते। इसके पाठों में कई बार मुद्रण-पत्र (=प्रूफ) संशोधकों ने हस्तक्षेप किया है।

हमने इस वृत्ति के सम्पादन के लिये वैदिक यन्त्रालय मुद्रित १-२-३-४-६ संस्करणों का पाठ प्रतिपद मिलाया है। ५वां संस्करण हमें ग्रन्थ के अधिकांश भाग के मुद्रण के पश्चात् मिला। अतः उसका उपयोग बहुत स्वल्प हुआ है।

सोदाहरण सूत्र-पाठ और व्याख्या के आधार-ग्रन्थ—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सूत्रपाठ के कण्ठस्थीकरण के लिये इस व्याख्या के मुद्रण में सोदाहरण सूत्रपाठ व्याख्या के ऊपर पृथक् रूप से छपवाया था। (द्र०—भूमिका, पृष्ठ ५)। इस सोदाहरण सूत्रपाठ का आधार एक हस्तलिखित ग्रन्थ है। यह हस्तलेख परोपकारिणी सभा के संग्रह में सुरक्षित है।

यद्यपि उणादि-व्याख्या के बनाने में स्वामी दयानन्द सरस्वती का अपना विशिष्ट दर्शन है। इसके प्रति शब्द निर्वचन में विद्यमान होने पर भी इस वृत्ति के लेखन में उज्ज्वलदत्त विरचित वृत्ति का पर्याप्त आश्रय लिया गया है। यह बात दोनों वृत्ति-ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है। ग्रन्थकार ने यद्यपि इस वृत्ति का नामतः उल्लेख नहीं किया है, पुनरपि स्वीय भूमिका पृष्ठ ५ पर इसका संकेत किया है।

भ्रष्ट-पाठों का वर्गीकरणपूर्वक उदाहरण—अब हम वैदिक यन्त्रालय मुद्रित इस व्याख्या के भ्रष्ट-पाठों का वर्गीकरणपूर्वक एक-एक उदाहरण नीचे देते हैं—

१—आधार-ग्रन्थ के कारण पाठभ्रंश—पूर्व-निर्दिष्ट सोदाहरण सूत्रपाठ के हस्तलेख में विद्यमान भ्रष्ट-पाठ इस वृत्ति में मुद्रित सूत्रपाठ में भी देखने में आते हैं। यथा—

(क) **सूत्रपाठ का त्रुटित होना**—प्रकृत व्याख्यास्थ सूत्रपाठ में पाद २ में संख्या २३, ६६, तथा पाद ४ में संख्या १५ के सूत्र त्रुटित हैं। अतः वैयमुद्रित संस्करणों में ये सूत्र नहीं मिलते, परन्तु इन सूत्रों की वृत्ति पूर्वसूत्र की व्याख्या के अन्तर्गत छपी हुई उपलब्ध होती है। द्र०—इन सूत्रों पर हमारी टिप्पणियां।

(ख) **सूत्रपाठ के स्थान में वृत्तिपाठ का निर्देश**—उणादिपाठ पाद ३।६७ का सूत्र है—**दधिषाय्यः**, परन्तु वैदिक यन्त्रालय अजमेर के संस्करणों में इसके स्थान पर पाठ मिलता है—**दधातेर्द्वित्वमित्वं षुक् च**। यह सिद्धांत कौमुदी के अन्तर्गत उणादिसूत्र **दिधिषाय्यः** की भट्टोजिदीक्षित की वृत्ति का पाठ है (द्र०—पृष्ठ १०१, टि० १)।

इसी प्रकार उणादिपाठ पाद ४ सूत्र २३७, २३८, २३९ (वै० य० अज० संस्करण में संख्या २३६, २३७, २३८) पर वैदिक यन्त्रालय के संस्करणों में क्रमशः **अङ्गेरसिः, सर्त्तेरप्पूर्वादसिः, विदिभुजिभ्यां विश्वेऽसिः** पाठ मिलता है। यह किसी वृत्ति का पाठ है (प्रथम पाठ उज्ज्वलदत्तीय वृत्ति का है, अन्य दो अन्वेषणार्ह हैं),यह उक्त पाठ से तथा अन्य वृत्ति-ग्रन्थों में निर्दिष्ट सूत्रपाठ से स्पष्ट है (द्र०—इन सूत्रों पर हमारी टिप्पणियां)।

२—**आश्रियमाण वृत्ति के कारण पाठभ्रंश**—प्रस्तुत व्याख्या को लिखते समय लेखक के सम्मुख उज्ज्वलदत्तीय उणादिवृत्ति विद्यमान थी। अतः उस वृत्ति का आश्रय लेने से भी प्रस्तुत व्याख्या में अनेक स्थानों पर पाठभ्रंश हुआ है। उणादिपाठ पाद १ सूत्र १९ के उदाहरण और व्याख्या में 'बल्गु' ओष्ठ्यादि शब्द दर्शाया है (द्र०—अजमेर सं०), जबकि'वल्गु'शब्द अन्तःस्थ वकारवान् है। इस पर हमारी टिप्पणी (पृष्ठ १३, टि० १, २) देखें।

३—**लेखक-प्रमाद से पाठ की त्रुटि**—लेखक-प्रमाद से इस व्याख्या में बहुत्र पाठ त्रुटित उपलब्ध होता है। हमने सर्वत्र त्रुटित पाठों को चतुरस्र [ ] कोष्ठकों में रखकर पूरा किया है।

४—**लेखक-प्रमाद से पाठ-भ्रंश**—इस व्याख्या में लेखक-प्रमाद से बहुत्र पाठ भ्रष्ट हुआ है। यथा—उणादि १।८९ की अजमेर-मुद्रित वृत्ति में '**तृधातोर्दुगागमः**' पाठ मिलता है। धातु को 'दुक्' का आगम करने पर लघूपध न होने से गुण न होकर 'तृदू' रूप निष्पन्न होगा, इष्ट 'तर्दू' रूप है। इतना ही नहीं, सूत्र में 'दुट्' निर्देश स्पष्ट है। 'दुट्' के टित् होने से वह

प्रत्यय के आदि में होगा। अतः हमने यहां **'प्रत्ययस्य डुडागमः'** इस प्रकार पाठ शोधा है।

५-लेखक-प्रमाद से पूर्वापर स्थान में व्यत्यास—इस व्याख्या में लेखक-प्रमाद से पचासों स्थानों में पाठ अस्थान में पूर्वापर छपा हुआ मिलता है। यथा—वै० य० मुद्रित संस्करण में **'बाहुलकात् मनधातोरपि। मन्यते जानातीति मनुः, मनुषी।'** पाठ जनेरुसिः (अज० स० २।११५, यह सं० २।११७) सूत्र की वृत्ति के अन्त में मिलता है। जबकि **'मनुः'** के आद्युदात्त होने से **अर्तिपृ······भ्यो नित्** (अज० सं० २।११७, यह सं० २।११९) की वृत्ति के अन्त में होना चाहिये।

६-संशोधकों द्वारा पाठ-भ्रंश—इस वृत्ति के अजमेर-मुद्रित संस्करणों में मुद्रणपत्र (प्रूफ) संशोधकों ने प्रमाद वा अज्ञान से पाठों में परिवर्तन किया है। यथा उणादि १।२८ में 'पृथु' शब्द की व्युत्पत्ति प्रथम संस्करण में **'प्रथते कीर्ति वा विस्तारयति स पृथुः राजविशेषो, विस्तीर्णः पदार्थो वा'** पाठ था। वृत्तिकार को प्रथ धातु का विस्तार अर्थ ही अभिप्रेत है। आगे १।१५० सूत्र की वृत्ति में भी **'प्रथते विस्तीर्णा भवति'** पाठ है। सत्यार्थप्रकाश समु० १ पृष्ठ १६ अजमेर सं० ३ में **प्रथ विस्तारे** पाठ ही मिलता है। परन्तु उणादिव्याख्या संस्क० २ के संशोधक ने इसे अशुद्ध समझकर **'प्रथते कीर्ति वा प्रख्यापयति स पृथुः राजविशेषो प्रख्यातः पदार्थो वा'** इस प्रकार बदल दिया। उसने प्रथम संस्करण में **'विस्तीर्णः'** पद परे होने से 'राजविशेषो' में जा सन्धि के कारण ओकार हो रहा था, उसे वैसा ही रहने दिया, अर्थात् **'राजविशेषः प्रख्यातः'** इस प्रकार सन्धि का शोधन नहीं किया।

इसी प्रकार उ० ४।११३ (प्रस्तुत सं० ४।११४) के सूत्रोदाहरण में 'पर्वं' शुद्ध पाठ को षष्ठ संस्करण में 'पर्वा' बनाकर भ्रष्ट किया है। वृत्ति में 'पर्वं' पाठ ही छपा है।

७-प्रथम संस्करण के शोधनपत्र में संशोधित पाठों को पुनः भ्रष्ट करना—अजमेरमुद्रित संस्करणों में ऐसे अनेक पाठ हैं, जिनका प्रथम संस्करणस्थ संशोधनपत्र में शोधन कर दिया था, परन्तु संशोधकों ने उस पर ध्यान न देकर पुनः अशुद्ध छापा है। यथा—उ० २।२ सूत्र के उदाहरण में प्रथम संस्करण में **'हाथः'** पाठ छप गया था, उसे अन्त में संशोधनपत्र में **'हथः'** संशोधन किया गया, परन्तु चतुर्थ सं० में पुनः **'हाथः'** अशुद्ध छपा गया।

इसी प्रकार उ० २।१६ की वृत्ति में प्रथम संस्करण में 'तदन्नम्' अशुद्ध पाठ को संशोधनपत्र में 'तदान्नम्' इस प्रकार शुद्ध कर दिया था, परन्तु चतुर्थ संस्करण के संशोधक ने उसे पुनः तदन्नम् अशुद्ध बना दिया।

इसी कारण स्वामी दयानन्दकृत प्रस्तुत उणादि-व्याख्या के वैशिष्टय का वर्णन करने के पश्चात् हमें अपने 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ (भाग २, पृष्ठ २२८ संवत् २०३०) में खेदसहित लिखना पड़ा—

'इस प्रकार यह अत्यन्त उपयोगी और श्रेष्ठतम वृत्ति भी पाठ-भ्रंश आदि दोषों के कारण सर्वथा अनुपयोगी-सी बनी हुई है।'

प्रस्तुत उणादिपाठ और उसकी व्याख्या में जो पाठभ्रंश बहुतायत से उपलब्ध होते हैं, उनका वर्गीकरण करके प्रतिवर्ग एक-एक दो-दो उदाहरण यहां दर्शाये हैं। हमने प्रस्तुत संस्करण में अजमेरमुद्रित ग्रन्थ के जिन अपपाठों का संशोधन किया है, उन्हें प्रायः हमने नीचे टिप्पणी में दर्शा दिया है।

अब हम टिप्पणी में जिन विषयों पर विशेषरूप से विचार किया है, उन विषयों का सोदाहरण संक्षेप से निदर्शन कराते हैं—

१. **सूत्रपाठान्तर-निदर्शन**—उणादिसूत्रों की विभिन्न वृत्तियों में सूत्रपाठ में न्यूनाधिक्य तथा पाठान्तर बहुधा उपलब्ध होते हैं। उन सब का निदर्शन कराना एक स्वतन्त्र कार्य है। अतः हमने अपनी टिप्पणियों में अत्यावश्यक पाठान्तरों का ही निदर्शन कराया है। यथा—पृष्ठ २५, टि० ३; पृष्ठ ३६, टि० १।

२. **स्वरानुरोध से सूत्रपाठ-विवेचन**—कई स्थानों पर व्याक्रियमाण शब्द के स्वर को ध्यान में रखकर सूत्रों के पाठभेदों का विवेचन किया है। यथा—पृष्ठ २५, टि० २, ३; पृष्ठ ३६, टि० १।

३. **विशिष्ट-सूत्रपाठ-विवेचन**—कहीं-कहीं पर वृत्तिकारों द्वारा विशिष्ट पाठों का विवेचन किया है। यथा—पृष्ठ ७६, टि० १; पृष्ठ ९५, टि० १।

४. **अनुवृत्ति-निर्णय**—स्वरविशेष के अनुरोध से पठचमान नित् चित् आदि पदों की अनुवृत्तियां कहां तक जाती हैं, इसका निर्णय वैदिक वाङ्मय में पठित सस्वर शब्दों के साहाय्य से किया है। यथा—पृष्ठ १०, टि० २ में 'नित्' पद की अनुवृत्ति का।

५. **स्वर-विशेष का चिन्तन**—कई स्थानों में औणादिक शब्दों का स्वरविषयक विशेष विचार किया है। यथा—पृष्ठ १७, टि० १; पृष्ठ ५८, टि० ६; पृष्ठ १४५, टि० २।

६. **विशिष्ट-वैदिकपद-विवेचन** अनेक स्थानों पर औणादिक पदों के साथ कुछ साम्य रखनेवाले वैदिक पदों के विषय में भी टिप्पणी में विवेचन किया है। यथा—पृष्ठ ९, टि० २; पृष्ठ १७, टि० २; पृष्ठ ५५, टि० ४।

७. **सूत्र-पदार्थ-विवेचन**—कुछ स्थानों में सूत्रगत विशिष्ट पदों के सम्बन्ध में मतभेद है। उनके विषय में भी यथास्थान टिप्पणी में विचार किया है। यथा—पृष्ठ ४५, टि० ५; पृष्ठ १४९, टि० ३।

८. **व्युत्पत्त्यन्तर-विचार**—कतिपय उणादिसिद्ध शब्दों के व्युत्पत्त्यन्तर के विषय में भी टिप्पणी में विचार प्रस्तुत किया है। यथा—पृष्ठ ५४, टि० २; पृष्ठ ८७, टि० २।

९. **लिङ्ग-विचार**—प्रसंगवश कुछ शब्दों के लिङ्ग के विषय में भी टिप्पणी में लिखा गया है। यथा—पृष्ठ १८, टि० ३; पृष्ठ ४१, टि० ३।

१०. **वृत्त्यन्तर-मत-विवेचन**—कहीं-कहीं पर उणादिसूत्रों की अन्य वृत्तियों के मतों का भी विवेचन टिप्पणी में किया है। यथा—पृष्ठ १६, टि० ३; पृष्ठ ४६, टि० २, ३; पृष्ठ १६०, टि० २।

११. **वृत्त्यन्तरों के विशिष्ट उद्धरण**—कतिपय स्थानों में औणादिक पदों के सम्बन्ध में वृत्त्यन्तरों के विशिष्ट पाठ उद्धृत किये हैं। यथा—पृष्ठ १३, टि० ४; पृष्ठ ७१, टि० ५; पृष्ठ ७२, टि० १।

१२. **वैयाकरणीय मत-विवेचन**—औणादिक पदों से साक्षात् संबद्ध विभिन्न वैयाकरणों के मतों का भी टिप्पणी में विवेचन प्रस्तुत किया है। यथा—पृष्ठ १२, टि० ३; पृष्ठ ४१, टि० ४।

१३. **व्याख्यात्मक टिप्पणियां**—वृत्ति के अंश-विशेषों की व्याख्या के रूप में अनेक स्थानों पर टिप्पणियां दी हैं। यथा—पृष्ठ १, टि० २; पृष्ठ ७, टि० ३; पृष्ठ १५, टि० १; पृष्ठ ४२, टि० २।

इन १३ प्रकार की टिप्पणियों के अतिरिक्त अनेक प्रकार की अन्य टिप्पणियां भी हमने प्रस्तुत संस्करण में दी हैं।

विविध परिशिष्ट—प्रस्तुत संस्करण को छात्रों विद्वानों एवं शोध-कर्ताओं की दृष्टि से उपयोगी बनाने के लिये हमने अन्त में १२ परि-शिष्ट दिये हैं। वैदिक यन्त्रालय अजमेर मुद्रित संस्करण में केवल शब्द सूची ही दी है। अन्य वृत्ति-ग्रन्थों में सूत्र-सूची और शब्द-सूची उप-लब्ध होती है। दशपादी उणादिवृत्ति के स्वसम्पादित संस्करण में हमने प्रत्यय-सूची और वृत्ति में उद्धृत उद्धरणों की सूची दी थी। प्रत्यय-सूची वैदिक शब्दों की सिद्धि के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसके साहाय्य से उणादिसूत्रों से अव्युत्पद्यमान शब्दों की सिद्धि जानने में महत् सुगमता होती है। इसी प्रकार अन्य सूचियां भी बहुत उप-योगी हैं।

अन्त के १२ वें परिशिष्ट में संशोधन-परिवर्तन-परिवर्धन दर्शाया है।

आशा ही नहीं, हमें पूर्ण विश्वास है कि हमारे प्रस्तुत सम्पादन-कार्य से जहां इस महनीय व्याख्या के सौन्दर्य का निखार हुआ है, वहां व्याकरणशास्त्र के विशेषकर वेद के अध्येताओं को विशेष लाभ होगा।

पाठकों से अभ्यर्थना—बहुत सावधानता वर्तने पर भी मानव-सुलभ अल्पज्ञता प्रमाद वा दृष्टिदोष से मुद्रण वा टिप्पणी-लेखन में कुछ अशुद्धियां हो गई हैं। उनमें से आपातत: जो हमारी दृष्टि में आ गईं, उनका संशोधन ग्रन्थ के अन्त में १२वें परिशिष्ट में कर दिया है। पाठक उसके अनुसार ग्रन्थ को प्रथम शोधकर उपयोग में लें, ऐसी हमारी पाठकों से अभ्यर्थना है।

इस ग्रन्थ के संशोधन में हमारे सहयोगी श्री पं० महेन्द्र जी शास्त्री से बहुत सहयोग मिला है। ग्रन्थ के मुद्रणपत्रों (=प्रूफों) का संशोधन आपने ही किया है, उसके लिये हम आपके आभारी हैं। उदाहरण-सूची का कार्य हमारे पाणिनीय विद्यालय के ब्र० धर्मवीर शास्त्री ने सम्पन्न किया है। इसके लिये मैं उन्हें आशीर्वाद देता हूं। और आशा करता हूं कि भावी कार्यों के सम्पादन में भी इसी प्रकार सहयोग देते रहेंगे।

भाद्र पूर्णिमा २०३१, सितम्बर १९७४

विदुषां वशंवदः—
युधिष्ठिर मीमांसक

[रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़, सोनीपत (हरयाणा)]

उणादि-सूत्र और उनकी व्याख्याओं का संक्षिप्त परिचय

अति पुराकाल में जब संस्कृतभाषा के सम्पूर्ण नाम (जाति-द्रव्य-गुण-शब्द) और अव्यय (स्वरादि-निपात) शब्द एक स्वर से यौगिक माने जाते थे, उस समय उणादिसूत्र शब्दानुशासन के कृदन्त प्रकरण के अन्तर्गत ही थे। परन्तु उत्तरकाल में मनुष्यों की धारणाशक्ति और मेधा के ह्रास के कारण जब यौगिक शब्दों के धातु-प्रत्यय-संबद्ध यौगिकार्थ की अप्रतीति होने लगी, तब यौगिकार्थ की अप्रतीति तथा स्वरवर्णानुपूर्वी विशिष्ट समुदाय से अर्थविशेष की प्रतीति होने के कारण संस्कृतभाषा के सहस्रों शब्द वैयाकरणों द्वारा रूढ मान लिये गये। इस अवस्था में भी वैयाकरणों में शाकटायन तथा नैरुक्तों में गार्ग्य से भिन्न सभी आचार्य तथाकथित रूढशब्दों को भी यौगिक ही मानते रहे। यास्कीय निरुक्त के प्रथमाध्याय के १२, १३, १४वें खण्डों में इस विषय की गम्भीर विवेचना की गई है, और अन्त में तथाकथित रूढ शब्दों के यौगिकत्व पक्ष की स्थापना की गई है।

शाकटायन के अतिरिक्त प्रायः सभी वैयाकरणों द्वारा सहस्रों शब्दों को रूढ मान लेने पर भी उन्होंने यौगिकत्वरूपी प्राचीन पक्ष की रक्षा तथा नैरुक्त आचार्यों के सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुए रूढ शब्दों के धातु-प्रत्यय-निदर्शन के लिये उणादिसूत्ररूपी कृदन्त भाग को शब्दानुशासन से पृथक् करके उसे शब्दानुशासन के खिलपाठ अथवा परिशिष्ट का रूप दिया।

इस प्रकार उणादिसूत्रों को शब्दानुशासन का परिशिष्ट बना देने पर वैयाकरणों की दृष्टि में चाहे इनका मूल्य कुछ स्वल्प हो गया हो, परन्तु नैरुक्त आचार्यों के मतानुसार सम्पूर्ण शब्दों को यौगिक माननेवाले वैदिक विद्वानों की दृष्टि में इनका मूल्य शब्दानुशासन के कृदन्त भाग की अपेक्षा किसी प्रकार अल्प नहीं है।

उणादिसूत्रों की निदर्शनार्थता

कोई भी शब्दानुशासन चाहे कितना ही विशाल क्यों न हो, वह

अनन्तशब्दराशि के सम्पूर्ण शब्दों का संग्राहक नहीं हो सकता। इसलिये समस्त शब्दानुशासन, चाहे वे कितने ही विस्तृत क्यों न हों, निदर्शकमात्र ही होते हैं। पुनरपि उणादिसूत्र अत्यन्त स्वल्पकाय होने के कारण विशेष रूप से तथाकथित रूढ शब्दों के प्रकृति-प्रत्यय-विभाग के निदर्शकमात्र ही हैं। भगवान् पतञ्जलि ने उणादिसूत्रों के महत्त्व और निदर्शनत्व के विषय में लिखा है--

'बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः प्रायः समुच्चयनादपि तेषाम्।
कार्यसशेषविधेश्च तदुक्तं नैगमरूढिभवं हि सुसाधु।
नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।
यन्न पदार्थविशेषसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्।
कार्याद्विद्यादनूबन्धम् एतच्छास्त्रमुणादिषु ॥३।३।१॥

अर्थात्—उणादयो बहुलम् (३।३।१) सूत्र में बहुल पद का निर्देश इसलिये किया है कि थोड़ी सी धातुओं से उणादि-प्रत्ययों का विधान देखा जाता है। प्रत्ययों का भी प्रायः करके समुच्चय किया है, सब का समुच्चय (पाठ) नहीं किया। प्रकृति-प्रत्यय के कार्य भी शेष रखे हैं। सूत्रों के द्वारा सब कार्यों का विधान नहीं किया। [सूत्रकार ने ऐसा क्यों किया, इसका उत्तर यह है कि] सभी निगम=वेद में पठित तथा रूढ शब्दों के साधुत्व का परिज्ञान हो जाये। निरुक्त में सभी नामशब्दों को धातुज= यौगिक कहा है, और व्याकरण में शकट के पुत्र=शाकटायन का भी यही मत है। इसलिये जिन शब्दों का प्रकृति-प्रत्यय आदि विशिष्ट स्वरूप लक्षणों से समुत्थ=ज्ञात नहीं है, उनमें प्रकृति को देखकर प्रत्यय की ऊहा करनी चाहिये, और प्रत्यय को देखकर प्रकृति की। इसी प्रकार धातु-प्रत्यय-गत कार्यविशेष को देखकर अनुबन्धों का ज्ञान करना चाहिये।

उणादिपाठ के नामान्तर

प्राचीन ग्रन्थकारों ने उणादिपाठ के लिये उणादिकोश, उणादि-निघण्टु तथा उणादिगण शब्दों का भी व्यवहार किया है—

१-उणादिकोश (कोष)—पञ्चपादी उणादिपाठ के व्याख्याकार महादेव वेदान्ती तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती प्रभृति वैयाकरणों ने उणादिपाठ के लिये उणादिकोश (कोष) शब्द का प्रयोग किया है। यथा—

क—इत्युणादिकोशे निजविनोदाभिधेये वेदान्तिमहादेवविरचिते **पञ्चमः पादः सम्पूर्णः।**

ख—इति श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीकृतोणादिव्याख्यायां वैदिक-लौकिककोषे पञ्चमः पादः समाप्तः।

ग—... पानीविषिभ्यः पः इति पः पानीयम् इत्युणादिकोषः। शब्दकल्पद्रुम, पृष्ठ ५०६।

घ—शिवराम तथा रामशर्मा ने भी उणादिपाठ का 'उणादिकोश' नाम से व्यवहार किया है[1]।

२-उणादि-निघण्टु—निघण्टु शब्दकोश का पर्यायवाची है। अतः वेङ्कटेश्वर नाम के वृत्तिकार ने उणादिपाठ का उणादि-निघण्टु शब्द से भी व्यवहार किया है[2]।

३-उणादिगण—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उणादिसूत्रों के लिये उणादिगण शब्द का भी व्यवहार किया है। यथा—

क—इस उणादिगण की एक वृत्ति भी छपी है। उणादिकोष, भूमिका, पृष्ठ ४।

ख—भूयात् सोऽयमुणादिरुत्तमगणोऽध्येतुर्यशोवृद्धये। उणादिकोष व्याख्या के अन्त में।

ग—इसी प्रकार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संस्कारविधि तथा पत्रों और विज्ञापनों में भी उणादिगण शब्द का व्यवहार किया है।

घ—हैमोणादिवृत्ति के हस्तलेख में—हैमोणादिवृत्ति के सम्पादक जोहन किर्स्टे ने अपनी भूमिका (पृष्ठ १) में एक हस्तलेख का अन्तिम पाठ इस प्रकार उद्धृत किया है—

'इत्याचार्यहेमचन्द्रकृतं स्वोपज्ञोणादिगणसूत्रविवरणं समाप्तम्।'

उणादि के लिये कोष वा निघण्टु शब्द के प्रयोग का कारण—उणादि-सूत्रों के लिये कोष वा निघण्टु शब्द का व्यवहार क्यों आरम्भ हुआ, इसके सम्बन्ध में निश्चितरूप से हम कुछ नहीं कह सकते। सम्भव है

---

१. काव्यानि पञ्च नुतयोऽपि पञ्चसंख्याकाः, टीकाश्च सप्तदश चैक उणादि-कोशः। शिवरामकृत लक्ष्मीविलास काव्य।

रामशर्माकृत उणादिकोशव्याख्या। द्र०—सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग २, पृष्ठ २२४ (संवत् २०३० संस्क०)।

२. सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग २, पृष्ठ २२०।

दशपादी उणादि का संकलन मातृका (=वर्णमाला) क्रमानुसार अन्त्य-वर्णक्रम से होने के कारण अन्य मेदिनी आदि कोशों के सादृश्य से इन शब्दों का व्यवहार उणादिपाठ के लिये आरम्भ हुआ हो। अथवा दशपादी के संकलन में प्राचीन कोशक्रम कारण रहा हो।

उपलभ्यमान प्राचीन उणादिसूत्र

इस समय जितने उणादिसूत्र उपलब्ध हैं, उनमें पञ्चपादी और दशपादी उणादिसूत्र प्राचीन हैं। इनमें भी पञ्चपादी उणादिसूत्र प्राचीनतर हैं। दशपादी उणादिसूत्रों का आधार पञ्चपादी उणादिसूत्र ही हैं, यह हमने अपने सं० व्या० शास्त्र के इतिहास (भाग २, पृष्ठ २२९–२३१) में सप्रमाण सिद्ध किया है।

पाणिनीय वैयाकरणों के दो सम्प्रदाय—पाणिनीय वैयाकरणों द्वारा पञ्चपादी और दशपादी दोनों प्रकार के ही उणादिसूत्र समादृत हैं। सिद्धान्तकौमुदी के रचयिता भट्टोजि दीक्षित ने पञ्चपादी उणादिसूत्रों को अपने ग्रन्थ में स्थान दिया है। प्रक्रिया-कौमुदी के व्याख्याता विट्ठल ने अपनी व्याख्या में दशपादी उणादिसूत्रों की व्याख्या की है। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक पाणिनीय वैयाकरणों ने दोनों प्रकार के उणादिसूत्रों पर वृत्ति-ग्रन्थ लिखे हैं। इन दोनों में से कौनसा पाठ पाणिनीय है, इसकी विवेचना हमने अपने सं० व्या० शास्त्र का इतिहास ग्रन्थ में पाणिनीय उणादिपाठ के प्रकरण (भाग २, पृष्ठ १६५-२०२) में विस्तार से की है। भट्ट नारायण महाकवि माघ और स्वामी दयानन्द सरस्वती का मत है कि 'पञ्चपादी उणादिसूत्र पाणिनीय हैं।' (द्र०—सं०व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग २, पृष्ठ १९६-१९७)।

पञ्चपादी उणादिसूत्र शाकटायन प्रोक्त नहीं—कैयट, श्वेतवन-वासी, नागेश भट्ट और वासुदेव प्रभृति पाणिनीय वैयाकरण पञ्चपादी पाठ को शाकटायन-प्रोक्त मानते हैं। यह भ्रान्त धारणा केवल महाभाष्यकार के पूर्व उद्धृत (पृष्ठ १०) **व्याकरणे शकटस्य च तोकम्** वचन पर आधृत है। परन्तु उक्त वचन का तात्पर्य 'शाकटायन समस्त नाम शब्दों को धातुज मानता है' इतना ही है।

प्रत्येक शब्दानुशासन के प्रवक्ता को धातुपाठ गणपाठ उणादिसूत्र और लिङ्गानुशासनरूपी खिलपाठों का प्रवचन करना होता है। इसलिये

प्रत्येक शब्दानुशासन के प्रवक्ता ने उणादिसूत्रों का खिलरूप से प्रवचन किया होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु सम्प्रति न तो पाणिनि से पूर्ववर्ती वैयाकरणों के उणादिपाठ ही उपलब्ध हैं, और न उनके सम्बन्ध में कोई सूचना ही प्राप्त होती है। इसलिये जिन प्राचीन वैयाकरणों के उणादिप्रवक्तृत्व में कुछ भी सकेत उपलब्ध होते हैं, अथवा जिनके उणादिपाठ सम्प्रति उपलब्ध हैं, उनके नाम ये हैं—

विज्ञात प्राचीन आचार्य—

१-काशकृत्स्न (३१०० वि० पूर्व)
२-शन्तनु (२९००-३२०० वि० पूर्व)
३-आपिशलि (२९०० वि० पूर्व)
४-पाणिनि (२८०० वि० पूर्व)

पाणिनि से उत्तरवर्ती आचार्य—

५-कातन्त्र-उणादिकार (२००० वि० पूर्व)
६-चन्द्राचार्य (१००० वि० पूर्व)
७-क्षपणक (विक्रम प्रथमशती)
८-देवनन्दी (वि० सं० ५०० से पूर्व)
९-वामन (वि० सं० ३५० अथवा ६०० से पूर्व)
१०-पाल्यकीर्ति (वि० सं० ८७१-९२४)
११-भोजदेव (वि० सं० १०७५-१११०)
१२-बुद्धिसागर सूरि (वि० सं० १०८०)
१३-हेमचन्द्र सूरि (वि० सं० ११४५-१२२९)
१४-मलयगिरि (वि० सं० ११८८-१२५०)
१५-क्रमदीश्वर (वि० सं० १३०० से पूर्व)
१६-सारस्वत व्याकरणकार (वि० सं० १३०० के समीप)
१७-रामाश्रम (वि० सं० १७४१ से पूर्व)
१८-पद्मनाभदत्त (वि० सं० १४००)

इन सब उणादिसूत्रों के प्रवक्ता आचार्यों का वर्णन हमने अपने सं०

व्याकरण शास्त्र के इतिहास, भाग २ पृष्ठ १६२-२५१ तक विस्तार से किया है। पाठक इस विषय के विस्तार के लिये उक्त प्रकरण देखें।

पञ्चपादी उणादिपाठ के व्याख्याकार

उणादिसूत्रों के जिस पाठ पर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी प्रस्तुत व्याख्या लिखी है, उस पर निम्न प्राचीन व्याख्याकारों की वृत्तियां ज्ञात वा उपलब्ध हैं—

१-भाष्यकार (अज्ञात काल)
२-गोवर्धन (वि० सं० १२०० से पूर्व)
३-दामोदर (वि० सं० १२०० से पूर्व)
४-पुरुषोत्तमदेव (वि० सं० १२००)
५-सूतिवृत्तिकार (वि० सं० १२००)
६-उज्ज्वलदत्त (१३वीं शती वि० का आरम्भ)
७-विद्याशील (वि० सं० १२५० के लगभग)
८-श्वेतवनवासी (वि० सं० १३ शती)
९-भट्टोजिदीक्षित (वि० सं० १५७०-१६५०)
१०-नारायणभट्ट (वि० सं० १६१७-१७३२)
११-महादेव वेदान्ती (वि० सं० १७२०-१७७०)
१२-रामभद्र दीक्षित (वि० सं० १७१०-१७६०)
१३-वेङ्कटेश्वर (वि० सं० १७६० के समीप)
१४-पेरुसूरि (वि० सं० १७६०-१८००)
१५-नारायण सुधी (वि० सं० १८०० से पूर्व)
१६-शिवराम (वि० सं० १८५० के समीप)
१७-रामशर्मा (वि० सं० १९४० से पूर्व)
१८-स्वामी दयानन्द सरस्वती (वि० सं० १९३९)

दशपादी उणादिपाठ के व्याख्याता

१-अज्ञातनामा (वि० सं० ७०० से पूर्व)

२-अज्ञातनामा (वि० सं० १२०० से पूर्व)

३-विठ्ठलार्य (वि० सं० १५२०)

इसी प्रकार पाणिनि से उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा प्रोक्त उणादिसूत्रों पर भी अनेक वैयाकरणों ने व्याख्यायें लिखी हैं। उणादिसूत्रों पर व्याख्या-वृत्ति-विवरण आदि लिखनेवाले सभी वैयाकरणों का इतिवृत्त हमने स० व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग २, पृष्ठ २०४ से २५२ तक विस्तार से दिया है।

हमारे पास संकलित उणादिवृत्तियां

व्याकरणशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन अनुशीलन और शोध मेरा प्रिय विषय है। व्याकरणशास्त्र के विविध अङ्गों में भी उणादिसूत्रों के प्रति मेरी अतिशय आसक्ति है। इसलिये मैंने पाणिनीय एवं तदितर उणादिसूत्रों की अनेक मुद्रित एवं हस्तलिखित वृत्तियों का संग्रह एवं अनुशीलन किया है। मेरे पास उणादिसूत्रों की निम्न वृत्तियां हैं—

पञ्चपादीपाठ पर वृत्तियां—

१-उज्ज्वलदत्त कृत (मुद्रित)

२-श्वेतवनवासी कृत (मुद्रित)

३-भट्टोजिदीक्षित कृत „ (सि० कौ० अन्तर्गत)

व्याख्यायें—प्रौढमनोरमा, तत्त्वबोधिनी, बालमनोरमा।

४-नारायणभट्टकृत (मुद्रित)

५-महादेव वेदान्तीकृत „

६-पेरूसूरि कृत „

७-स्वामीदयानन्द कृत „

दशपादीपाठ पर वृत्तियां—

१-अज्ञातनाम कृत (मुद्रित)

२- „ „ (हस्तलिखित)

३-विठ्ठलार्य कृत (मुद्रित) (प्र० कौ० टीकान्तर्गत)

पाणिनीयेतर उणादिसूत्रों पर वृत्तियां—

१-कातन्त्र-दुर्गसिंह कृत (मुद्रित)

२-चान्द्र—चन्द्राचार्य मुद्रित उदाहरणमात्र

३-सरस्वती कण्ठाभरण—दण्डनाथ कृत (मुद्रित)

४-हैम—हेमचन्द्राचार्यकृत ,,

५-सिद्धान्तचन्द्रिका—रामाश्रम कृत ,,

व्याख्यायें—लोकेशकर कृत ,,

सदानन्द कृत ,,

व्युत्पत्तिसार (हस्तलिखित)

इस प्रकार हमारे पास उणादिसूत्रों के ७+३+५=१५ साक्षात् वृत्ति-ग्रन्थ हैं। उन पर ६ टीकाओं को मिलाकर २१ संख्या होती है। लघु एवं बृहत् शब्देन्दुशेखर नामक टीकाओं को इनमें इसलिये नहीं गिना है कि उनमें उणादि पर स्वल्प विचार किया गया है। उक्त वृत्तियों में, जो एक से अधिक स्थानों पर छपी हैं, तथा कतिपय वृत्तियों के मुद्रण से पूर्व जिनके हस्तलेख हमने संगृहीत किये थे, उन सब की गणना की जाये, तो इन की संख्या लगभग ३० हो जाती है।

मुद्र्यमाण व्याख्या के रचयिता—स्वामी दयानन्द सरस्वती

परिचय—स्वामी दयानन्दसरस्वती का जन्म काठियावाड़ के अन्तर्गत भूतपूर्व मोरवी राज्य के टंकारा नगर में औदीच्य ब्राह्मणकुल में संवत् १८८१ में हुआ था। इनके पिता का नाम कर्शन जी तिवाड़ी, पितामह का विश्राम जी तिवाड़ी अपरनाम लाल जी तिवाड़ी था। स्वामी दयानन्द का जन्मनाम मूलशंकर अपरनाम दयाल जी था। मूल जी के पिता शैवमतावलम्बी धर्मनिष्ठ दृढचरित्र एवं वैभवशाली व्यक्ति थे। वे मोरवी राज्य की ओर से टंकारा में कर-आदाता थे।

प्रारम्भिक अध्ययन—मूलजी का पांच वर्ष की अवस्था में विद्यारम्भ और आठ वर्ष की अवस्था में उपनयन-संस्कार हुआ था। मूलतः सामवेदी होने पर भी शैव मतावलम्बी होने के कारण इनके पिता ने प्रथम रुद्राध्याय और पश्चात् समग्र यजुर्वेद कण्ठाग्र कराया था। घर में रहते हुए मूल जी ने व्याकरण आदि का भी कुछ अध्ययन किया था। बाल्यकाल में ही सहोदरा छोटी भगिनी एवं चाचा की मृत्यु से इनके मन में वैराग्य की भावना जागृत हुई, और वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली गई। इन के पिता ने मूल जी की मनोभावना को समझकर इन्हें विवाह-बन्धन में बांधने का प्रयत्न

किया। परन्तु मूलजी अपने संकल्प में दृढ़ थे। अतः विवाह की सम्पूर्ण तैयारी हो जाने पर उन्होंने एक दिन सायंकाल अपने पिता का भौतिक-सम्पत्ति से पूर्ण गृह सदा के लिये त्याग दिया। इस समय इनकी अवस्था २२ वर्ष की थी। यह घटना संवत् १९०३ के आरम्भ की है।

गृहत्याग के अनन्तर मृत्यु पर विजय पाने की कामना से योगीजनों के अन्वेषण और सच्चे शिव का दर्शन पाने के लिये १५ वर्ष हिंस्र जन्तुओं से परिपूर्ण भयानक वन कन्दरा और हिमालय की ऊंची सदा हिममण्डित चोटियों पर भ्रमण करते रहे। इस अवधि में योग की विविध क्रियाओं और अनेक शास्त्रों का अनुशीलन किया।

गुरु—मूल जी नें आरम्भ में नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की दीक्षा ली। तत् पश्चात् स्वामी पूर्णानन्द से संन्यास ग्रहण किया। हिमालय की यात्रा के पश्चात् अनुगंग विचरण करते हुए नर्मदा के स्रोत की ओर गतिशील हुए। इसी अवसर में उन्होंने मथुरा-निवासी प्रज्ञाचक्षु दण्डी विरजानन्द स्वामी के पाण्डित्य की यशोगाथा सुनी। अत. उन्होंने नर्मदा-स्रोत की यात्रा पूर्ण करनें के पश्चात् मथुरा पहुंचकर संवत् १९१७–१९२० तक लगभग ३ वर्ष स्वामी विरजानन्द सरस्वती से व्याकरणादि शास्त्रों का अध्ययन किया।

अध्ययन के पश्चात् लगभग १०-११ वर्ष वे अवधूत अवस्था में गङ्गा के किनारे विचरते रहे। इस काल में सत्संगी जनों को वेदानुकूल आचरण करनें का आदेश देते रहे, और स्वयं वेदादि सच्छास्त्रों के गम्भीर अनु-शीलन में लगे रहे।

वि० सं० १९३१ से आप वेद प्रचार, वेदविरुद्ध मतों का खण्डन, भिन्न मतवालों से शास्त्रार्थ और ग्रन्थलेखन के कार्य में प्रवृत्त हुये। आप का दीपावली संवत् १९४० को अजमेर नगर में स्वर्गवास हुआ।

इस ९-१० वर्ष की स्वल्पावधि में छोटी पुस्तिकाओं से लेकर ऋग्वेद और यजुर्वेद के भाष्य सदृश बृहत्काय ग्रन्थ पर्यन्त २० ग्रन्थ लिखे, और चार ग्रन्थों का पुनः संस्करण किया। इसके साथ ही संस्कृतभाषा के लिये १४ भागों में **वेदाङ्गप्रकाश** नाम की ग्रन्थावली प्रकाशित की। इन सभी ग्रन्थों का ऐतिहासिक विवरण हमने **'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास'** नामक ग्रन्थ में विस्तार से दिया है।

उणादि-सूत्र-व्याख्या—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पञ्चपादी

उणादिसूत्रों पर **उणादिकोष** नाम की वृत्ति लिखी । यह वेदाङ्ग-प्रकाश ग्रन्थावली में १३वें भाग के रूप में प्रकाशित हुई ।

वृत्ति-निर्माण काल वा स्थान—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस उणादिवृत्ति की रचना महाराणा सज्जनसिंह के राज्यकाल में मेवाड़ की राजधानी उदयपुर नगर में संवत् १९३९ में की थी। इस की भूमिका के अन्त में ग्रन्थ-रचना का समय **संवत् १९३९, माघ कृष्णा प्रतिपद्** अङ्कित है।

वृत्ति का वैशिष्ट्य—यद्यपि यह वृत्ति स्वल्पाक्षरा है, पुनरपि उणादिवाङ्मय में यह सब से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

महत्ता का कारण—महाभाष्यकार पतञ्जलि ने **उणादयो बहुलम्** (अष्टा० ३।३।१) सूत्रस्थ बहुल पद का प्रयोजन बताते हुए लिखा है—

'नैगमरूढिभवं हि सुसाधु । नैगमाश्च रूढिभवाश्चौणादिकाः सुसाधवः कथं स्युः ।'

अर्थात्=नैगम और रूढ औणादिक शब्दों के भले प्रकार साधुत्व-ज्ञापन के लिये पाणिनि ने **'बहुल'** शब्द का निर्देश किया है।

इस कथन से स्पष्ट है कि भाष्यकार के मत में वेद में रूढ शब्द नहीं हैं। दूसरे शब्दों में पतञ्जलि वैदिक शब्दों को यौगिक तथा योगरूढ मानते हैं।

इसी प्रसङ्ग में पतञ्जलि ने शाकटायन के मत में सम्पूर्ण शब्दों को धातुज कहा है। नैरुक्त आचार्यों का भी यही मत है।

महाभाष्यकार के इन निर्देशों के अनुसार सभी औणादिक शब्द यौगिक अथवा योगरूढ भी हैं। इतना ही नहीं, उणादिपाठ में स्थान-स्थान पर **संज्ञायाम्**[1] पद का निर्देश होने से अन्तःसाक्ष्य से भी यही विदित होता है कि सम्पूर्ण औणादिक पद रूढ नहीं हैं। अतएव स्वामी दयानन्द ने २।८३ सूत्र की वृत्ति में संज्ञा-ग्रहण का प्रयोजन लिखा है—

'अत्र संज्ञाग्रहणेन ज्ञायते--उणादयः सामान्यार्थे यौगिका भवन्तीति ।'

इसलिये उणादिवृत्तिकार का कर्त्तव्य है कि वह दोनों पक्षों का

---

१. उणादि कोश २।३३, ८३, ११३ इत्यादि ।

समन्वय करता हुआ प्रत्येक औणादिक पद के यौगिक, योगरूढ तथा रूढ अर्थों का निर्देश करे। इस समय उणादिसूत्रों की जितनी भी वृत्तियां उपलब्ध हैं। उन सभी में औणादिक शब्दों को रूढ मानकर ही अर्थ-निर्देश किया है।

यद्यपि सिद्धान्तचन्द्रिका की सुबोधिनी-वृत्ति के रचयिता सदानन्द और व्युत्पत्तिसार नामक वृत्ति के अज्ञातनामा लेखक ने उणादिसिद्ध पदों का यौगिक अर्थ स्वीकार किया है,[1] परन्तु वे इस सिद्धान्त का सर्वत्र परिपालन न कर सके।

स्वामी दयानन्द सरस्वती का साहस—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वैयाकरणों की उत्तरकालीन उक्त परम्परा का सर्वथा परित्याग करके अपनी वृत्ति में प्रत्येक औणादिक शब्द के यौगिक और रूढ दोनों प्रकार के अर्थों का निर्देश कि .ा है। यथा—

करोतीति कारुः—कर्ता, शिल्पी वा।[2]

वाति गच्छति जानाति वेति वायुः—पवनः, परमेश्वरो वा।[2]

पाति रक्षति स पायुः—रक्षकः, गुदेन्द्रियं वा।[2]

इन उद्धरणों में प्रथम और तृतीय पाठ में कर्ता और रक्षक ये यौगिक अर्थ हैं, तथा शिल्पी और गुदेन्द्रिय योगरूढ वा रूढ अर्थ हैं।

भगवान् पतञ्जलि तथा नैरुक्त आचार्यों के मतानुसार वेद में प्रयुक्त कारु और पायु शब्द के यौगिक अर्थ कर्ता और रक्षक ही सामान्यरूप से हैं, केवल शिल्पी और गुदेन्द्रिय नहीं हैं। यही अभिप्राय वृत्तिकार ने यौगिक अर्थों का निर्देश करके दर्शाया है।

द्वितीय पाठ में भी सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः[3] इस प्राचीन मत के अनु-

---

१. रूढियौगिकाभ्यामुणादौ शब्दाः सिद्ध्यन्ति। यौगिके तु धात्वर्थं प्रति कारकान्वयो भवत्येव। तथा च भट्टिः—'राघवस्य ततः कार्यं कारुर्वानरपुंगवः' भट्टि श्लोक ४६२)। व्युत्पत्तिसार, हमारा हस्तलेख, पृष्ठ १। ऐसा ही सुबोधिनी-वृत्ति में सदानन्द ने भी लिखा है (सिद्धान्तचन्द्रिका, भाग २, पृष्ठ २८६)।

२. उणादिकोष १।१ व्याख्या में।

३. द्र०—हेमहंसगणि विरचित न्यायसंग्रह, बृहद्वृत्तिसहित, पृष्ठ ९३; स्कन्द निरुक्तटीका, भाग २, पृष्ठ ९२; तैत्तिरीय आरण्यक भट्टभास्कर भाष्य, भाग १, पृष्ठ २७६। इसी प्रकार अन्यत्र भी।

सार वाति के जानाति अर्थ का भी निर्देश किया है। इस अर्थ के अनुसार सर्वज्ञ भगवान् परमेश्वर का भी वायु पद से ग्रहण होता है, यह दर्शाया है।[1] इसी अर्थ को यजुर्वेद का—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥३२।१॥

मन्त्र भी व्यक्त कर रहा है। इस मन्त्र में ब्रह्म प्रजापति आदि का वायु पद से भी संकीर्तन किया है।

इतना ही नहीं, निघण्टु निरुक्त तथा ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में वैदिक अग्नि-वायु-आदित्य आदि शब्दों के जितने अर्थ दर्शाये हैं, वे सब मूलभूत एक धात्वर्थ को स्वीकार करके ही उपपन्न हो सकते हैं। यदि उन सब अर्थों को धात्वर्थमूलक न मानकर रूढ माना जाये, तो एक शब्द की विभिन्न अर्थों में वाचक-शक्ति अथवा संकेत स्वीकार करना होगा। इस इस प्रकार बहुत गौरव होगा।

अन्य वैशिष्टय—प्रतिशब्द यौगिक अर्थों के निर्देश के अतिरिक्त इस वृत्ति में एक और विशेषता है। वह है—स्थान-स्थान पर निरुक्त निघण्टु ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में निर्दिष्ट वैदिक अर्थों का उल्लेख करना। यथा—

वर्तते सदैवासौ वृत्रः—मेघः, शत्रुः, तमः, पर्वतः, चक्रं वा।

इसीलिये स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उणादि-व्याख्या के प्रत्येक पाद के अन्त में **उणादिव्याख्यायां वैदिकलौकिककोषे** विशिष्ट पद का निर्देश किया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती से पूर्ववर्त्ती कतिपय वृत्तिकारों ने केवल **उणादिकोश** शब्द का व्यवहार किया है, परन्तु स्वामी दयानन्द ने अपनी व्याख्या के लिये **वैदिक लौकिक-कोष-पद** का उल्लेख किया है।

इस दृष्टि से स्वामी दयानन्द सरस्वती की यह स्वल्पाक्षरा वृत्ति संपूर्ण उणादि-वाङ्मय में मूर्धाभिषिक्त है।

---

१. अग्नि वायु आदित्य प्रभृति वैदिक शब्द धात्वर्थ को निमित्त मानकर ईश्वर के भी वाचक होते हैं। इसके लिये स्वामी शंकराचार्य का 'अग्निशब्दोऽप्यग्रणीत्वादियोगाश्रयेण परमात्मविषय एव भविष्यति' (वेदान्तभाष्य १।२।२८) वचन द्रष्टव्य है।

हम चिरकाल से इस महत्त्वपूर्ण वृत्ति के विशुद्ध संस्करण की आवश्यकता अनुभव करते थे। सन् १९४० में हमने इसका सम्पादन कार्य भी पूरा कर लिया था। परन्तु इसके प्रकाशन में हम अब समर्थ हो रहे हैं। इस वृत्ति का प्रकाशन इस समय भी सम्भव नहीं होता, यदि करनालनिवासी श्री चौधरी प्रताप सिंह जी इसके प्रकाशन में आर्थिक सहयोग न देते। अतः जहां हम उनका इस महत् कार्य के प्रकाशन के लिये धन्यवाद करते हैं, वहां आप संस्कृत वाङ्मय विशेषकर व्याकरणवाङ्मय के अध्येताओं के द्वारा भी धन्यवादार्ह हैं।

रामलाल कपूर ट्रस्ट, विदुषां वशंवदः—
बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा) युधिष्ठिर मीमांसक

सव्याख्यस्योणादिसूत्रपाठस्य विषय-सूची

—:०:—

उणादि-कोषः व्याख्या-सहितः



ओ३म्

अथ भूमिका

सब उणादिगणस्थ शब्द इस वक्ष्यमाण एक सूत्र की विशेष व्याख्या में हैं—

उणादयो बहुलम् ॥ अ० ३ । ३ । १ ॥

वर्तमान काल में धातुओं से उणादि प्रत्यय बहुल करके होते हैं। और—

भूतेऽपि दृश्यन्ते ॥ अ० ३ । ३ । २ ॥

कहीं-कहीं भूतकाल में भी इनका विधान दीख पड़ता है। और—

भविष्यति गम्यादयः ॥ अ० ३ । ३ । ३ ॥

गमी आदि गणपठित वक्ष्यमाण शब्द भविष्यत्काल में[1] होते हैं।

उणादिप्रत्ययों के होने के लिये यह तीनों काल का नियम है।

गम्यादि शब्द—गमी। आगामी। प्रस्थायी। प्रतिरोधी। प्रतिबोधी। प्रतियोधी। प्रतियोगी। प्रतियायी। आयायी। भावी।

इनसे अन्य शब्द भूत और वर्तमान अर्थों के बोधक होते हैं।[2]

---

१. वैयमु 'में ही' पाठ है। गम्यादि शब्दों का क्वचित् कालान्तर में भी प्रयोग होने से 'ही' पाठ व्यर्थ है।

२. सामान्यरूप से कृत्प्रत्ययान्त शब्द तीनों कालों में होते हैं। यथा—पचतीति पाचकः, अपाक्षीदिति पाचकः, पक्ष्यतीति पाचकः। उणादि प्रत्यय भी कृत्संज्ञक हैं, अतः सामान्यरूप से तीनों कालों में इन का भी प्रयोग जानना चाहिये। यथा—करोतीति कारुः, अकार्षीदिति कारुः, करिष्यतीति कारुः=शिल्पी। पुनः यहां उणादिप्रत्ययों के सम्बन्ध में काल-निर्देश इसलिये किया है कि औणादिक शब्दों के सम्बन्ध में वैयाकरणों में दो प्रकार की धारणा है। एक पक्ष इन्हें व्युत्पन्न (=धातुज) मानता है, और दूसरा अव्युत्पन्न। आचार्य पाणिनि ने भी उक्त दोनों पक्षों को ध्यान में रखकर औणादिक शब्दों का साधुत्व कृत्-प्रकरण में न दिखाकर पृथक् खिलपाठ (=परिशिष्ट) के रूप में दर्शाया है। अत एव उनके काल-निर्देश का पृथक् प्रयत्न भी किया है।

अब जितनी प्रकृतियों में जितने उणादि प्रत्यय कहे हैं, उतने ही जानना चाहिये वा कुछ विशेष ? इसलिये—

बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम् ।
कार्यसशेषविधेश्च तदुक्तं नैगमरूढिभवं हि सुसाधु ॥ १ ॥
नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम् ।
यन्न पदार्थविशेषसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम् ॥ २ ॥
संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे ।
कार्याद् विद्यादनुबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥३॥ महाभाष्ये [३।३।१]

इसी (अ० ३।३।१) सूत्र की व्याख्या में महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि उणादिपाठ की व्यवस्था बांधते हैं कि—

(बाहुलकम्०) उणादिपाठ में थोड़े से धातुओं से प्रत्यय-विधान किया है । सो बहुल के होने से वे प्रत्यय अन्य धातुओं से भी होते हैं । इसी प्रकार प्रत्यय भी थोड़े से संकेतमात्र पढ़े हैं । सत्प्रयोगों[1] में देखके इनसे अन्य भी नवीन प्रत्ययों की कल्पना कर लेनी चाहिये । जैसे 'ऋफिडः' इस शब्द में 'ऋ' धातु से फिड प्रत्यय समझा जाता है[2] । इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये । तथा जितने शब्द उणादिगण से सिद्ध होते हैं, उनमें जितने कार्य सूत्रों से प्राप्त हैं, वे सब नहीं होते, यह भी बहुल[3] ग्रहण का ही प्रताप है ।

इसमें यदि कोई ऐसा प्रश्न करे कि उणादिपाठ में जितने धातुओं से जितने प्रत्यय विधान किये, और शब्दों की सिद्धि में जितने कार्य सूत्रों से हो सकते हैं, उनसे अधिक वा न्यून क्यों होते हैं ? तो इसका उत्तर यह है कि—

(नैगम०) वैदिक शब्द और लौकिक संज्ञा शब्द ये सब [4]सम्पूर्ण

---

१. वेद वेदाङ्ग आदि के पारदृष्टा मनीषी शिष्ट जन ही शब्दप्रयोग के विषय में प्रमाणभूत हैं (द्र०—महा० ६।१।१०८) । ऐसे सत्पुरुषों का प्रयोग ही यहां अभिप्रेत है ।

२. एषोऽपि ऋफिडः ऋफिड्डश्च । कथम् ? अतिप्रवृत्तिश्चैव लोके लक्ष्यते, फिडफिड्डावप्यौणादिकौ प्रत्ययौ । महा० ऋलृक् सूत्रे ।

३. वैयमु सं० ६ में 'बहुल' पद नहीं है ।

४. वैयमु में 'अच्छे प्रकार' अपपाठ है ।

रूप से सिद्ध नहीं हो सकते, इसलिये पूर्वोक्त तीन प्रकार के कार्य उणादि-गण में बहुल वचन से होते हैं। इस [प्रकार] बहुल के होने से अनेक प्रकार के सहस्रों शब्द सिद्ध होते हैं ॥१॥

संज्ञा-शब्द वे ही कहाते हैं जो किसी निज वाच्य के साथ सम्बन्ध रक्खें, फिर उनकी सिद्धि करने से क्या प्रयोजन है, क्योंकि वे संज्ञा-शब्द जिस निज अर्थ के बोधक हैं, उसका बोध तो प्रकृति-प्रत्ययार्थसम्बन्ध के विना भी कराते ही हैं, वही पश्चात् होगा। इसलिये (नाम च०)—इस विषय में निरुक्तकारों और वैयाकरणों में शाकटायन ऋषि का ऐसा मत है कि सब संज्ञा (='रूढ) शब्द प्रकृति-प्रत्ययार्थ के सम्बन्ध से यौगिक[2] तथा योग-रूढता से अर्थों के बोधक होते हैं। इनसे भिन्न अन्य ऋषियों के मतानुसार सब संज्ञाशब्द [1]रूढ अर्थात् अव्युत्पन्न होते हैं।

अब जहां शब्दों में प्रकृति [वा] प्रत्यय[3] नहीं जान पड़ता वहां (प्रत्ययतः) यदि प्रत्यय जान पड़े तो धातु की कल्पना, और [(प्रकृतेः)] धातु जान पड़े तो नवीन प्रत्यय की कल्पना कर लेनी चाहिये। इस प्रकार उन शब्दों का अर्थज्ञान कर लेना चाहिये ॥२॥

संज्ञा-शब्दों में धातुओं का रूप पूर्व भाग में और शब्द के पर भाग में धातु से परे प्रत्यय की कल्पना करनी चाहिये। और जिस शब्द में जिस अनुबन्ध का कार्य दीख पड़े, वैसे ही सानुबन्धक धातु वा प्रत्ययों की ऊहा करनी चाहिये। अर्थात् [4]इडागम का विकल्प दीख पड़े, तो ऊदित् धातु

१. वैयमु में 'रूढि' अपपाठ है।

२. रूढियौगिकाभ्यामुणादौ शब्दाः सिद्धचन्ति। यौगिके तु धात्वर्थं प्रति कारकान्वयो भवत्येव। तथा च भट्टिः—राघवस्य ततः कार्यं कारुर्वानरपुंगवः (भट्टि ४६२ बम्बई सं०) इति व्यत्पत्तिसारकारः (अस्मद् हस्तलेख, पृष्ठ १)। इत्थमेव सिद्धान्तचन्द्रिकाया सुबोधिनीवृत्तिकारः (भाग २, पृष्ठ २८६, काशीसंस्कृतसीरिज, सन् १९३१)।

३. वैयमु में इसके आगे 'कुछ भी' असम्बद्ध पाठ है। उत्तर वाक्य से प्रकृति वा प्रत्यय में से एकदेश की अप्रतीति ही यहां अभिप्रेत है। दोनों की एक साथ अप्रतीति होने पर अन्यतर की ऊहा (=कल्पना) का विधान उपपन्न नहीं हो सकता है।

४. वैयमु में 'आत्मनेपद दीख पड़े तो अनुदात्तेत् वा ङित् धातु जानना' अपपाठ है। प्रकरण उणादिसूत्रों का है, उस में आत्मनेपद का प्रसङ्ग ही नहीं है। अतः हमने प्रसंगानुसार पाठ शोधा है।

जानना। और जो आद्युदात्त स्वर हो, तो ञित् वा नित् प्रत्यय की कल्पना करनी चाहिये। यह कल्पना सर्वत्र नहीं करनी, किन्तु वैदिक वा लौकिक सत्प्रयुक्त शब्दों के अर्थ जानने के लिये [ही] शब्दों के पूर्व भाग में धात्वर्थ की, और पर भाग में प्रत्ययार्थ की कल्पना करनी चाहिये।

यह सब सम्बन्ध ऋषि लोगों ने इसलिये बांधा है कि [1]अगाध शब्द-सागर की थाह व्याकरण से भी नहीं मिल सकती। जो कहें कि ऐसा व्याकरण क्यों नहीं बनाया कि जिससे शब्द-सागर के पार पहुंच जाते, तो यह समझना चाहिये कि कितने ही पोथा बनाते, और जन्म-जन्मान्तरों भर पढ़ते, तो भी पार होना दुर्लभ ही था।[2] इसलिये यह पूर्वोक्त व्याकरण से सब प्रबन्ध जताया है ॥३॥

उणादिगण में कारक-व्यवस्था का यह नियम है कि—

दाशगोघ्नौ संप्रदाने ॥ अ० ३ । ४ । ७३ ॥

यह सूत्र सामान्य कृदन्त का नियामक है कि दाश और गोघ्न शब्द औणादिक हों, वा अष्टाध्यायी से सिद्ध हों, परन्तु प्रत्यय संप्रदान कारक[3] में हों। इस नियम से ये दो[4] शब्द संप्रदान में होते हैं[5]।

भीमादयोऽपादाने ॥ अ० ३ । ४ । ७४ ॥

भीमादि शब्दों में अपादन कारक में[6] प्रत्यय होते हैं। भीमादि शब्द औणादिक हैं। जैसे—

---

१. वैयमु कुछ संस्करणों में 'अथाह शब्दों के सागर की' पाठ है।

२. द्रष्टव्य—एवं हि श्रूयते—बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, न चान्तं जगाम। महा० १।१ आ० १॥

महान् शब्दस्य प्रयोगविषयः। सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः; चत्वारो वेदाः; साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्नाः। एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, नवधाऽथर्वणो वेदः, वाकोवाक्यम्, इतिहासः, पुराणम्, वैद्यकम् इत्येतावाञ्छब्दस्य प्रयोगविषयः। महा० १।१ आ० १॥

३. वैयमु में 'कारक में ही हों' पाठ है। यहां तथा उत्तरत्र अवधारणार्थक 'ही' पद अनर्थक है। ये सूत्र सामान्य नियम दर्शाते हैं, अवधारण नहीं करते।

४. वैयमु में 'दो ही शब्द' पाठ है।

५. वैयमु में 'होते है अन्य नहीं'? पाठ है। 'अन्य नहीं' यह अनावश्यक है। द्रष्टव्य आगे पृष्ठ ५ पर 'भूमि' शब्दविषयक टिप्पणी १।

६. वैयमु में 'में ही प्रत्यय' पाठ है। द्रष्टव्य—अगले पेज की टिप्पणी १।

भीमः । भीष्मः । भयानकः । वरुः । चरुः। भूमिः[१]। रजः । संस्कारः । संक्रन्दनः । प्रपतनः । समुद्रः । स्रुचः । स्रुक् । खलतिः । इति भीमादिगणः ।

ताभ्यामन्यत्रोणादयः ॥ अ० ३ । ४ । ७५ ॥

उन संप्रदान और अपादान दोनों कारकों से भिन्न अन्य कारकों में उणादि प्रत्यय होते हैं ।

व्युत्पन्न पक्ष में उणादिप्रत्ययान्त शब्दों के यौगिक होने से प्रत्ययों को कृत्संज्ञक मानके कर्त्ता में प्राप्त हैं, इसलिये यह कारकनियम है । और भाव में भी उणादि प्रत्यय होते हैं । संप्रदान और अपादान को छोड़के अन्य कारकों में तो उणादि-प्रत्ययों का यथेष्ट विधान है, परन्तु बहुलवचन से कहीं संप्रदान [और अपादान] में भी कोई प्रत्यय कर दिये हों, तो चिन्ता नहीं ।

इस उणादिगण की एक वृत्ति छपी भी है[२] । परन्तु वही पोपलीला आदि का जगड्वाल[३] बहुत, और प्रयोजन थोड़ा सिद्ध होता है; इसलिये यह कोष[४] बनाना पड़ा । इस ग्रन्थ में सूत्रों का पाठ तथा अर्थ बहुधा सुगम है, इसीलिये प्रतिसूत्र का अर्थ वृत्ति में नहीं किया । और जहां कुछ कठिन जान पड़ा, वहां खोल दिया है । अनुवृत्ति भी बहुधा जनादी है ।

इसका मूल ऊपर-ऊपर पृथक् इसलिये छपवाया है कि अध्येता लोगों को पाठ करने और घोषण-से कण्ठस्थ करने में सुगमता रहेगी[५] । जो

---

१. ग्रन्थकार ने उ० ४।४६ में 'भवन्ति पदार्था अस्यामिति भूमिः उत्पत्ति-स्थानम्' व्युत्पत्ति द्वारा उक्त कारक-नियमों का प्रायिकत्व दर्शाया है । इसी सन्दर्भ के अन्त में भी ग्रन्थकार ने यही बात स्पष्ट कही है । अत एव हमने वैयमु पाठ में जो अवधारणार्थक पद थे, उन्हें हटा दिया है । अर्थ अवधारण कर देने पर कारकान्तर में व्युत्पत्ति दर्शाना चिन्त्य मानना होगा ।

२. यह संकेत उज्ज्वलदत्त विरचित वृत्ति की ओर है ।

३. देखो – वासुदेव (उ० १।१), तरु (उ० १।७), चरु (उ० १।७), विधु (उ० १।२४) आदि शब्दों की उज्ज्वलदत्तकृत व्युत्पत्तियां तथा अर्थ ।

४. अर्थात् उणादि कोष की वृत्ति बनानी पड़ी । 'तादर्थ्ये ताच्छब्द्यम्' नियम से, अथवा व्याख्येय-व्याख्यान के अभेदोपचार से 'यह कोष बनाना पड़ा' लेख है ।

५. इसका एक प्रयोजन उणादिकोष के एक हस्तलेख का संरक्षण भीहै। ग्रन्थ-कार के पुस्तक-संग्रह में उणादिकोष का एक हस्तलेख अभी तक सुरक्षित है । उस में सूत्रपाठ के अनन्तर उदाहरण भी दिये हैं । ग्रन्थकार ने उसी हस्तलेख के आधार पर

अङ्क सूत्र के अन्त में लिखा है, वही नीचे वृत्ति के आदि में डाल दिया है, इससे वड़ी सुगमता होगी ।

इसमें विशेष करके लौकिक शब्द, और सामान्य से वैदिक लौकिक दोनों ही सिद्ध किये हैं । निघण्टु में जितने वैदिक शब्द हैं, उनमें से बहुतों का निर्वचन वृत्ति में मिलेगा । सो दोनों की अकारादि सूची को देखके खोज लेना चाहिये । निर्वचन तो सब शब्दों का कर दिया है, परन्तु वे धातु [जिन से प्रत्यय का विधान किया है], गण अनुबन्ध और अर्थ के सहित यहां नहीं लिखे हैं, क्योंकि ग्रन्थ बहुत वढ़ जाता । इसलिये धातु के प्रयोग से गण अनुबन्ध, तथा उसके पर्य्याय शब्द से धातु के अर्थ का बोध कर लेना चाहिये ।

संस्कृत में वृत्ति बनाने का यही प्रयोजन है कि जो लोग पठनपाठन-व्यवस्था के पहिले पुस्तकों को पढ़ेंगे, उनके लिये संस्कृत कुछ कठिन नहीं होगा । और संस्कृत भी सरल ही बनाया है । कई शब्दों के अर्थ इति शब्द लगाकर भाषा में भी खोल दिये हैं ।।

स्थान महाराणाजी का उदयपुर
माघकृष्ण १, संवत् १९३९ **दयानन्द सरस्वती**

ऊपर सूत्रपाठ और उदाहरण छापे हैं,यह दोनों की तुलना से स्पष्ट है । उक्त हस्तलेख में कतिपय स्थानों पर सूत्र के स्थान में सूत्रवृत्ति पठित है । उक्त कोष को आधार बनाने से इस वृत्ति में भी यह दोष उपलब्ध होता है । उसका यथास्थान संकेत-पुरस्सर शोधन कर दिया है ।

* ओ३म् *

अथोणादिकोष:

[अथ प्रथमपादारम्भ:]

कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण् ॥ १ ॥—कारुः । वायुः । पायुः । जायुः । मायुः । स्वादु । साधुः । आशु, आशुः ॥१॥

१. करोतीति **कारुः** [1]कर्त्ता, [2]शिल्पी वा । वाति गच्छति जानाति वेति **वायुः** पवनः, परमेश्वरो वा । पाति रक्षति स **पायुः** रक्षकः, गुदेन्द्रियं वा । जयत्यभिभवति तिरस्करोति शत्रूनिति **जायुः** शूरः; जयति रोगानिति **जायुः** औषधं, वैद्यो वा । यो मिनोति प्रक्षिपति स **मायुः**; अथवा मिनोति प्रक्षिपत्यूष्माणमिति **मायुः** पित्तम्[3] । गां विकृतां वाचं मिनोतीति '**गोमायुः**'[4] श्रृगालो [वा] । स्वद्यते भोक्तुमभीप्स्यते तत् **स्वादु**, भोज्यमन्नं वा । साध्नोति धर्म्यं कर्मेति [5]**साधुः** सज्जनः । अश्नुते व्याप्नोति तत् **आशु** शीघ्रम् । अश्नुते सद्योऽध्वानमिति **आशुः** अश्वो वा; अश्यते

१. अयं यौगिकार्थः । यौगिकार्थे च धात्वर्थं प्रति कारकान्वयो भवत्येव । द्र०—पूर्वत्र पृष्ठ ३, टि० २ ।

२. 'तत्र [ग्रामे] अवरतः पञ्च कारुकी भवति' इति महाभाष्यम् (अ० १।१।४७) । बाहुलकात् केषांचिद् ऋषीणामपीयं संज्ञा । तथा चोक्तं गोपथब्राह्मणे—'अथापि कारवो ह नाम ऋषयो अल्पस्वा आसन्' इति (१।३।१७) ॥

३. ग्रन्थकारस्येयं शैली यत्स व्युत्पत्त्या तावद् यौगिकमर्थं निदर्शयति (क्वचित् स यौगिकार्थं यौगिकपर्यायपदेनापि स्पष्टयति । यथा—कारुः कर्त्ता, पायुः रक्षकः) तदनु लौकिकमर्थं प्रदर्शयन् तस्य यौगिकार्थाद् भिन्नत्वं द्योतनाय 'वा' शब्दं पठति । बहुत्र लेखकप्रमादाद् 'वा' पदं नोपलभ्यते, तस्यास्माभिर्ग्रन्थकारशैलीमनुरुद्ध्य सर्वत्र पूर्तिः क्रियते ।

४. गोमायुरजमायुश्च मण्डूकभेदौ। द्र०—ऋ० ७ । १०३ । ६ ॥

५. साधुशब्दो वैदिकवाङ्मयेऽन्तोदात्त उपलभ्यते, ऋते 'साधु कृण्वन्तमवसे' (ऋ० ८।३२।१०) इति मन्त्रवर्णात् । तत्राद्युदात्तत्वं कथमिति न प्रतीमः ।

छन्दसीणः ॥ २ ॥—आयुः ॥ २ ॥

दृसनिजनिचरिचटिरहिभ्यो ञुण् ॥ ३ ॥—दारु । सानुः । जानु । चारु । चाटु । राहुः ॥ ३ ॥

किंजरयोः श्रिणः ॥ ४ ॥—किंशारुः । जरायुः ॥ ४ ॥

त्रो रश्च लः ॥ ५ ॥—तालुः ॥ ५ ॥

भुज्यते शीघ्रमिति **आशुः** धान्यं व्रीहि [र्वा] ।

बहुलवचनात्—स्नाति शोधयत्यङ्गानीति **स्नायुः**, नाडी वा । कक्यते लोलश्चञ्चलो भवति येनेति **काकुः** भयादिः, ध्वनेर्विकारो वा । हल्यते छिद्यतेऽन्नमनेनेति **हालुः**, दन्तो वा । वसति जगदस्मिन् सर्वस्मिन् वा यो वसति स **वासुः** ईश्वरः, इत्यादि ॥

२. वेद इण् धातोरुण् । एति प्राप्नोति सर्वानिति **आयुः** जीवनकालः। सान्तस्तु द्वितीयपादे वक्ष्यते[1] ॥

३. दीर्यते भिद्यते इति **दारु**, काष्ठं वा । सनति सम्भजति सनोति ददाति वा स **सानुः**; पर्वतैकदेश[2]शृङ्गबुधमार्गवात्यापर्णवनानि च **सानूनि** वा । जायन्तेऽस्मात् तत् **जानु**, जङ्घाया उपरिभागो वा । **जनिवध्योश्च** [७ । ३ । ३५] इति प्रतिषिद्धाऽप्यनुबन्धद्वयसामर्थ्याद् वृद्धिर्भवति । चरति चक्षुरादिष्विति **चारु** शोभनम् । चटति भिनत्तीति **चाटु**[3], प्रियं वचो वा । रहति त्यजति दोषानिति **राहुः**, ग्रहविशेषो वा ॥

४. किं [4]शृणात्यनेनेति **किंशारुः**, धान्यविशेषो वा । जरां जीर्णतामेतीति **जरायुः** गर्भाशयो, गर्भावरणं वा ॥

५. 'तॄ' धातोञुण् रेफस्य लत्वम् । तरन्ति निःसरन्ति वर्णा यत इति **तालुः** मुखैकदेशः ।

---

१. 'एतेर्णिच्च' (२।१२१) इत्यनेन सूत्रेणेति शेषः ।

२. पर्वतैकदेशशृङ्गादत्र पश्वादिशृङ्गं विवक्षितम् न पर्वतशृङ्गम्, तस्य पर्वतैकदेशशब्देनोक्तत्वात् ।

३. बाहुलकात् संज्ञापूर्वको विधिरनित्य इति वा वृद्ध्यभावे 'चटु' इत्यप्यस्मिन्नेवार्थे ।

४. वैयमुद्रितेषु क्वचित् 'शीर्यतेऽनेनेति' इत्यपपाठः । प्रथमसंस्करणस्थे शोधनपत्रेऽस्य शोधनं विहितम्, तृतीयसंस्करणेऽपि शुद्ध एव पाठो दृश्यते । चतुर्थे पुनर्भ्रष्टतां गतः ।

कृके वचः कश्च ॥ ६ ॥—कृकवाकुः ॥ ६ ॥

भृमृशीङ्तॄचरित्सरितनिधनिमिमस्जिभ्य उः ॥ ७ ॥—भरुः । मरुः । शयुः । तरुः । चरुः । त्सरुः । तनुः । धनुः । मद्गुः ॥ ७ ॥

बाहुलकात्—अर्यते प्राप्यत इति आलु भक्ष्यं कन्दं वा । भृणाति स्वतापेन छेदयति पदार्थानिति भालुः, सूर्यः [वा] । शृणाति चित्तं हिनस्तीति शालुः, कषायद्रव्यं वा इत्यादि ॥

६. कृकोपपदाद् वचधातोर्ञुण् । कृकेन कण्ठेन[1] वक्तीति कृकवाकुः[2] यवनादिर्मयूरो वा ॥

७. भरति बिभर्त्ति वेति भरुः स्वामी । म्रियन्ते भूतान्यस्मिन्निति मरुः निर्जलो देशो वा । शेतेऽसौ शयुः शयनशीलः [अजगरो वा] । यस्तरति येन वा स तरुः वृक्षो वा । चरति चर्यतेऽग्निना भक्ष्यत इति चरुः[3] यज्ञपाको वा । त्सरति कुटिलं गच्छतीति त्सरुः खड्गमुष्टिर्वा । तन्यन्ते कर्माण्यनेनेति तनुः शरीरं, स्वल्पं वा । धन्यते धनं प्राप्यतेऽनेनेति धनुः[4] शास्त्रं[5] शस्त्रं वा । मिनोति सुशब्दं प्रक्षिपतीति [6]मयुः वानरो वा । मज्जति शुद्धो भवतीति मद्गुः जलप्लवी पक्षी वा । न्यङ्क्वादित्वात् [द्र०—७।३।५३] कुत्वम्, [झलां जश् झशि (अ० ८।४।५२) इति सकारस्य दकारः] ।

बाहुलकात्—गण्डति [यः] स गण्डुः वदनैकदेशः, उपधानम् 'तकिया' इति प्रसिद्धं, तैलं[7] वा ॥

---

१. कृक शब्दो हिंसायामपि इति सायणः (ऋग्भाष्य १।२९।७) ।

२. कृकदाशुः—बाहुलकात् दाशेरप्युण् इति दयानन्दसायणौ (ऋग्भाष्य १।२९।७) ।

३. निघण्टौ (१।१०) मेघनामसु पठ्यते । एवम् ऋग्भाष्ये (१।७।६) दयानन्दोऽप्याह ।

४. सान्तोऽग्रे वक्ष्यते २।१२०॥

५. द्र०—उज्ज्वलवृत्तिः (१।७) ।

६. बाहुलकादत्र 'मीनातिमीनोतिदीङां ल्यपि च' (अ० ६।१।५०) इत्यात्वं न भवति ।

७. वैयमुद्रितेषु केषुचित् संस्करणेषु 'नैलं' इत्यपपाठः ।

अणश्च ॥ ८ ॥—**अणुः** ॥ ८ ॥

धान्ये नित् ॥ ९ ॥—**अणवः** ॥ ९ ॥

शॄस्वृस्निहित्रप्यसिवसिहनिक्लिदिबन्धिमनिभ्यश्च ॥ १० ॥—**शरुः** । स्वरुः । स्नेहुः । त्रपु । असुः । वसु । हनुः । क्लेदुः । बन्धुः । मनुः ॥ १० ॥

---

८. अणति शब्दयतीति **अणुः** अतिसूक्ष्मं वा ।

अत्र चकारग्रहणाद् [**बाहुलकाद्**] वा कटति विकारयतीति **कटुः** रसः । वटति गुणकर्माणि विभजतीति **वटुः** द्विजसुतो वा ॥

९. अणन्ति शब्दायन्ते यैस्ते[1] **अणवः** अन्नविशेषा वा । नित्करणमाद्युदात्तस्वरार्थम्[2] ॥

१०. अत्र चाद् उप्रत्ययो निदिति सम्बन्धः, एवमर्थ एव पृथक्पाठः । शृणाति हिनस्ति येनेति **शरुः** आयुधं कोपो वा । स्वर्यन्त उपतप्यन्ते प्राणिनोऽनेनेति **स्वरुः** वज्रम् [वा] । स्निह्यति यस्मिन् स **स्नेहुः**, व्याधिर्वा ।

---

१. वैयमुद्रितेषु 'यैस्तोऽणवो०' इत्यपपाठः ।

२. उज्ज्वलदत्तो (उ० वृ० १।१०, पृ० ८) भट्टोजिदीक्षितश्च (सि० कौ० अत्रैव सूत्रे) 'फलिपाटि०' (उ० १।१८) सूत्रमभिव्याप्य नित्सम्बध्यते इत्याहतुः । दशपादीवृत्तिकारस्तु 'यो द्वे च' (द० वृ० १।१०६, पं० उ० १।२१) इति यावन्निद्ग्रहणमनुवर्तयति । यदाह स उत्तरसूत्रे (द० वृ० १।१०७) 'निद् इति निवृत्तम्' इति । युक्तं चैतत् 'ययुर्नामासि शिशुर्नामासि' (यजुः २२।१९) इत्यत्र ययुशिशुशब्दयोराद्युदात्तत्वदर्शनात् । यत्तु अथर्वणि ४।२४।२ 'ययुः' इत्यन्तोदात्तः पाठः, स प्रामादिकः । सायणस्त्वत्र 'युयुः' पाठं मनुते । 'शिश्वा विभुर्दूरेभाः' इति मन्त्रव्याख्याने (ऋ० १।६५।५) शिशुशब्दस्य नित्त्वादाद्युदात्तत्वमाह सायणः । कुरुगार्हपत० (अ० ६।२।४२) सूत्रस्य लघुशब्देन्दुशेखरे नागेशः कुरुशब्दस्याद्युदात्तार्थं केषाञ्चिन्मते निदनुवृत्तिमाह । काशिकाकारस्तु कुरुशब्दमन्तोदात्तमाह (अ० ६।२।४२) । निघण्टौ ऋत्विङ्नामसु (३।१८) कुरुशब्दोऽन्तोदात्तो दृश्यते । शतपथे (२।४।४।५) त्वाद्युदात्त उपलभ्यते । श्वेतवनवासी तु 'अर्जिदृशि०' (उ० १।२७) इत्यादि सूत्रपर्यन्तं निदग्रहणमनुवर्तयति (द्र०—श्वे० उ० वृ० १।२७) । अग्रिमसूत्रे (१।२८) व्युत्पाद्यमानो भृगुशब्दोऽप्याद्युदात्त उपलभ्यते । मध्ये केचन शब्दा अन्तोदात्ता अपि दृश्यन्ते । तत्र बाहुलकात् स्वरव्यत्ययो वक्तव्यः । वस्तुतो निदनुवृत्तिः सन्दिग्धैव वर्तते ।

स्यन्देः सम्प्रसारणं धश्च ॥ ११ ॥—सिन्धुः ॥ ११ ॥

उन्देरिच्चादेः ॥ १२ ॥—इन्दुः ॥ १२ ॥

ईषेः किच्च ॥ १३ ॥—इषुः ॥ १३ ॥

स्कन्देः सलोपश्च ॥ १४ ॥ कन्दुः ॥ १४ ॥

अग्नि प्राप्य यत् त्रपते लज्जितमिव भवतीति तत् **त्रपु** सीसकं रङ्गं[1] वा। अस्यति प्रक्षिपति वायुमिति **असुः** प्राणः। असुं प्राणं राति ददातीति **असुरो** मेघः। वस्त आच्छादयति दुःखं येन तद् **वसु** धनं वा; वसन्ति प्राणिनो येषु [वासयन्ति वा ये][2] ते वसवः अग्न्यादयोऽष्टौ[3]। हन्यतेऽनेनेति **हनुः** कपोलावयवः प्रहरणं मृत्युर्वा। क्लिद्यत्यार्द्रीकरोति चित्तमिति **क्लेदुः** चन्द्रमा वा। प्रेम्णा बध्नातीति **बन्धुः** सज्जनो वा। मन्यते चराचरं जगज्जानातीति **मनुः** ईश्वरः; मनुतेऽवबुध्यते शास्त्रमिति **मनुः** विद्वान् राजर्षिः।

बहुलवचनात्—विन्दत्यवयवीभवतीति **बिन्दुः** परिमाणं जलादिकणो वा॥

११. स्यन्दन्ते प्रस्रवन्त्युदकान्यस्मिन्निति **सिन्धुः** [समुद्रो नदीविशेषो वा]॥

१२. उन्द धातोरुः प्रत्यय आदिवर्णस्येकारादेशश्च। उनत्त्यार्द्रीकरोति पदार्थानिति **इन्दुः** चन्द्रमा वा॥

१३. अत्र [4]चकारादिच्चादेरित्यनुवर्त्तते, तेन दीर्घस्य ह्रस्वो भवति। ईषति गच्छति हिनस्ति वा शत्रूनिति **इषुः** बाणो वीरो वा। कित्त्वाद् गुणाभावः॥

१४. स्कन्दति गच्छति शुष्यति वा येन स **कन्दुः** कुमाराणां क्रीडायै 'गेंद' इति प्रसिद्धं वा॥

---

१. 'रांगा' इति भाषायां प्रसिद्धम्।

२. द्र०—तद् यदिदं सर्वं वासयन्ते तस्माद् वसवः। शत० १४।६।९।४॥

३. अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसवः। शत० १४।६।९।४॥

४. वैयमुद्रितेषु 'चकारादिच्चेत्यनुवर्तते' इत्यपपाठः, आदिपदस्याननुवर्तनेऽन्त्यस्येकारादेशः स्यात्।

सृजेरसुम् च ॥ १५ ॥—रज्जुः ॥ १५ ॥

कृतेराद्यन्तविपर्ययश्च ॥ १६ ॥—तर्कुः ॥ १६ ॥

नावञ्चेः ॥ १७ ॥—न्यङ्कुः ॥ १७ ॥

फलिपाटिनमिमनिजनां गुक्पटिनाकिधतश्च ॥ १८ ॥—फल्गुः । पटुः । नाकुः । मधुः । जतुः ॥ १८ ॥

---

१५. अत्र पूर्वसूत्रात् सलोप इत्यनुवर्तते। धातोरसुमागम आदिसकारलोपश्च[1]। पुनर्ऋकारस्य यणादेश आगमसकारस्य जश्त्वं च। सृजन्त्युदकनिस्सारणायेति **रज्जुः** जलोद्धरणं वा ॥

१६. आद्यन्तविपर्ययोऽर्थादादौ तकारोऽन्ते ककारः, उश्च प्रत्ययः। कृन्तति छिनत्ति वस्त्रादिकमनेन स **तर्कुः** कर्तनी[2] वा ॥

१७. ये नितरामञ्चन्ति गच्छन्ति ते **न्यङ्कवः**[3] जातिविशेषाः हरिणा वा ॥

१८. उप्रत्यये 'फल' धातोर्गुगागमः। फलति निष्पद्यते स **फल्गुः** असारो वा। नपुंसके '**फल्गु**' फलम्। 'पाटि' धातोः पटिरादेशः। पाटयति ज्ञापयति सदसत्पदार्थान् स **पटुः** वाग्मी विशारदो वा। 'नम'धातोर्नाकिरादेशः। नमतीति **नाकुः** वल्मीको वा। 'मन'धातोर्धकारादेशः। मन्यन्ते विशेषेण जानन्ति यस्मिन् स **मधुः** चैत्रो मासः। **मधूको** मद्यं क्षौद्रं पुष्परसो वा। 'जन'धातोस्तकारादेशः। जायते प्रादुर्भूयतेऽनेनेति **जतु** लाक्षा वा ॥

---

१. अयंभावः—असुमागमविधानसामर्थ्याद् आगमसकारस्य लोपाभावे धातोरेव सकारस्यानेन लोपो विधीयते। श्वेतवनवासी तु पक्षान्तरे मण्डूकप्लुतगत्या आदिग्रहणमनुवर्तयति। दशपादीवृत्तिकारस्तु सर्वत्रैवादिग्रहणमनुवर्तयति।

२. वैयमुद्रितेषु 'कर्तनो वा' इत्यपपाठः।

३. 'न्यङ्क्वादीनां च' (अ० ७।३।५३) इति कुत्वम्। 'वृक्षशुशकुनयोनोरन्यत्र न्यञ्चु स्वेदविन्दुः' इति क्षीरस्वामी (द्र०—क्षीरतरङ्गिणी १।१११ पृष्ठ ३६) न्यङ्कोर्विकारोऽवयवो मांसं वा नैयङ्कवम् न्याङ्कवम् इत्युभयथा प्रयुज्यते। द्र० अस्मद्विरचितः 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' नामा ग्रन्थः (भाग १, पृष्ठ २७, २८, सं० २०३०)।

[1]वलेर्गुक् च ॥ १९ ॥—वल्गुः ॥ १९ ॥

शः कित् सन्वच्च ॥ २० ॥—शिशुः ॥ २० ॥

यो द्वे च ॥ २१ ॥—ययुः ॥ २१ ॥

कुर्भ्रश्च ॥ २२ ॥ बभ्रुः ॥ २२ ॥

---

१९. [2]वलते संवृणोतीति वल्गुः [वाक्][3]। नपुंसके 'वल्गु' शोभनम्॥

२०. सन्वद्भावाद् द्वित्वादिकम् । श्यति तनूकरोति पित्रोः शरीरमिति शिशुः बालको वा ॥

२१. अत्र सन्वदित्यनुवर्तमानेऽपि द्वेग्रहणमभ्यासेत्त्वनिवृत्त्यर्थम् । यान्ति प्राप्नुवन्ति देशान्तरमनेनेति ययुः अश्वो वा ॥

२२. अत्र द्वे इत्यनुवर्त्तते । 'भृ'धातोः कुः प्रत्ययो द्वित्वं च । बिभर्ति सर्वमिति बभ्रुः नकुलः पिङ्गलो वा[4]।

सूत्रे [5]चकारग्रहणाद् अन्यधातुभ्योऽपि कुः प्रत्ययस्तेषां द्वित्वं च भवति । तद्यथा—करोतीति चक्रुः कर्त्ता । हन्तीति जघ्नुः हन्ता । पाति रक्षतीति पपुः पालकः, इत्यादि ॥

---

१. वैयमुद्रितेषु 'वलेर्गुक् च' इत्यपपाठः । वल्गुपदस्य दन्त्योष्ठ्यादित्वस्य लोकवेदयोर्निर्विवादत्वात् ।

२. वैयमुद्रितेषु 'वलते प्राणयतीति' इत्यपपाठः । स चोज्ज्वलवृत्त्यधिरूढः ।

३. निघण्टौ (१।११) वाङ्नामसु पठ्यते । अत एवायं ग्रन्थकारः स्वीय ऋग्भाष्ये (६।६३।१) 'वल्गू' पदव्याख्याने 'शोभनवाचौ' इत्यर्थनिर्देशं चकार । शोभनार्थको वल्गुशब्दः पुंल्लिङ्गेऽपि प्रयुज्यते । अतएवायं वृत्तिकारः स्वीय ऋग्भाष्ये (६।६२।५) 'वल्गू' पदव्याख्याने 'अत्युत्तमौ' इति व्याचख्यौ ।

निघण्टौ 'वल्गूयति' अर्चतिकर्मसु (३।१४) पठ्यते । धातुपाठेऽपि 'वल्गु पूजामाधुर्ययोः इति कण्ड्वादौ (सूत्र ३), 'वल्गु गत्यर्थः' भ्वादौ (सूत्र ८८) च पठ्यते । एताभ्याम् 'उ' प्रत्यये 'वल्गु' शब्दोऽञ्जसोपपद्यते ।

४. अत्र श्वेतवनवासी कंचित् प्राचीनं श्लोकमुद्धरति—

पिङ्गलो नकुलश्चैव खलतिर्विष्णुरेव च ।
चतुष्वर्थेषु मेधावी बभ्रुशब्दं प्रयोजयेत् ॥ उ० वृ० १।२२ ॥

५. दशपादीवृत्तिकारः 'प्रकृतेः प्राक्प्रत्ययनिर्देशश्चक्रुवादीनां प्रसिद्धयर्थः' इत्याह । द० वृ० १।१०७।

पृभिदिव्यधिगृधिधृषिहृषिभ्यः ॥ २३ ॥—पुरुः । भिदुः । विधुः । गृधुः । धृषुः । हृषुः ॥ २३ ॥

कृग्रोरुच्च ॥ २४ ॥—कुरुः । गुरुः ॥ २४ ॥

अपदुःसुषु स्थः ॥२५॥—अपष्ठु । दुष्ठु । सुष्ठु ॥ २५ ॥

रपेरिच्चोपधायाः ॥ २६ ॥—रिपुः ॥ २६ ॥

अर्जिदृशिकम्यमिपंसिबाधामृजिपशितुक्धुक्दीर्घहकाराश्च ॥२७॥—ऋजुः । पशुः । कन्तुः । अन्धुः । पांसुः । बाहुः ॥ २७ ॥

---

२३. एभ्यः कुः । पिपर्त्ति पालयति पूरयति वा स **पुरुः** बहुरिन्द्रियं वा । भिनत्तीति **भिदुः** वज्रं वा । विध्यति दुर्गन्धि दिवसं वेति **विधुः** कर्पूरं चन्द्रमाः वा । व्यधेः ग्रहिज्या० [६ । १ । १६] इति सम्प्रसारणम् । गृध्नोत्यभिकाङ्क्षते येन स **गृधुः** कामो वा । धृष्णोति प्रगल्भो भवतीति **धृषुः** दक्षः । हृष्यति स **हृषुः** हर्षकः । दृशि इति पाठान्तरे **दृशुः** दर्शकः ॥

२४. यः करोति येन वा स **कुरुः** कुरवो राजानो वा । गृणात्युपदिशति वेदशास्त्रविद्यामाचारं च स [1]**गुरुः** आचार्यः पिता[2] वा, सर्वेषां गुरुत्वादीश्वरः[3] ॥

२५. अप दुः सु इत्येतेषूपपदेषु 'स्था' धातोः कुः । अपतिष्ठतीति **अपष्ठु** वामभागः प्रतिकूलः पदार्थो वा । निन्दितस्तिष्ठतीति **दुष्ठु** अविनीतः । सुतिष्ठतीति **सुष्ठु** शोभनम् । सर्वत्र **सुषामादित्वात्** [८ । ३ । ९८] षत्वम् ॥

२६. अनिष्टं रपति वदतीति **रिपुः** शत्रुः । चकारग्रहणात् कुप्रत्यये परे इकारादेश एव समुच्चीयते ॥

२७. कुप्रत्यये सति अर्ज्यादिप्रकृतीनामृज्यादय आदेशा भवन्ति । अर्जयति सञ्चिनोति गुणानिति **ऋजुः** कोमलो वा । पश्यति सर्वमिति **पशुः**;

---

१. वैयमुद्रितेषु 'स गुरुः सर्वेषां गुरुत्वादीश्वरः आचार्यः पिता वा' इत्येवं पूर्वापरं विपर्यस्तः पाठ उपलभ्यते ।

२. निषेकादीनि (गर्भाधानादीनि) कर्माणि यः करोति स पिताऽपि गुरुरुच्यते । द्र०—मनु २।१४२ ॥

३. स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् इति पातञ्जलं सूत्रम् (योग० १।२६) अत्रानुसन्धेयम् ।

प्रथिम्रदिभ्रस्जां सम्प्रसारणं सलोपश्च ॥ २८ ॥—पृथुः । मृदुः । भृगुः॥२८॥

पश्यन्ति येन वा स **पशु.** अग्निः[1]; पश्यति जानाति स्वार्थमिति **पशुः** गवादिः। 'कम'धातोस्तुक्। कामयन्ते यं स **कन्तुः** कामो वा। 'अम'धातोर्धुक्। श्रमति रुजति गच्छति वेति **अन्धुः** कूपो वा। अस्मिन् सूत्रे चकारग्रहणाद् बहुलवचनाद्वा 'अम'धातोर्बुगागमोऽपि भवति। अमन्ति गच्छन्ति चेष्टन्ते प्राणिनो येन तद् **अम्बु** जलम्। 'पंस'[2] धातोर्दीर्घः। पंसयति नष्टमिव भवतीति **पांसुः** धूलिर्वा, क्षेत्रार्थं चिरकालात् सञ्चितं गोमयं वा, इत्याद्येवार्थेषु **पांशुरिति** तालव्यान्तोऽपि शब्दो दृश्यते[3]। बाध्यन्ते विलोड्यन्ते पदार्था याभ्यां तौ **बाहू** भुजौ। प्रायेणाऽयं द्विवचनान्तः॥

२८. प्रथ्यादिभ्यः कुः प्रत्ययः। तस्मिन् सति प्रथिम्रद्योः सम्प्रसारणं [भ्रस्जेः] सलोपश्च। प्रथते कीर्त्तिं वा विस्तारयति स **पृथुः** राजविशेषो, विस्तीर्णः पदार्थो वा[4]। म्रदते म्रदितुं शक्यते स **मृदुः** मादकः कोमलं वा।

---

१. 'अग्निः पशुरासीत् तेनायजन्त'। यजुः २३।१७॥ अत्रैव मन्त्रे वायुसूर्यावपि पशुशब्देनोक्तौ। वेदे धात्वर्थयोगात् ज्ञानविरहिता मानवी प्रजाऽपि पशुशब्देनोच्यते। तथाहि—'देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति' इति (ऋ० ८।१००।११) 'वितिष्ठन्ता मातुरस्या उपस्थान्नानारूपाः पशवो जायमानाः' इति (अथर्व १४।२।२५) च श्रूयते। असत्त्ववाची पशुशब्दश्चादिषु (अ० १।४।५७) पाठाद् अव्ययसंज्ञकः। यथा ऋग्वेदे—'लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः' (३।५३।२३) इति। व्याख्यातं च वर्धमानेन 'दर्शनीयं ज्ञानं प्रतिपद्यमाना लोभं परित्यजन्ति' इति। गणरत्नमहोदधि पृष्ठ ८, इटावा संस्क०)।

२. वैयमुद्रितेषु पाठोऽयमस्थाने 'धूलिर्वा। पंसधातोर्दीर्घः। क्षेत्रार्थं—' इत्येवं पठ्यते। अस्या वृत्तेर्वैयमुद्रितेषु संस्करणेषु बहुत्र पाठव्यत्यासो दृश्यते। अग्रे यथास्थानं पाठं निवेश्य संकेतमात्रं करिष्यते, अस्थाने पठितः पाठो विस्तरभिया नैव निदर्शयिष्यते।

३. केचिदुणादिवृत्तिकारा अस्मिन् सूत्रे 'पशि' धातुं पठन्ति। स च सौत्र इति दशपादीवृत्तिकारः (१।११२), इदित्त्वान्नुम्।

४. अयं प्रथमसंस्करणस्थः पाठः शुद्धः सन्नपि द्वितीये संस्करणे 'प्रथते कीर्तिं वा प्रख्यापयति·····प्रख्यातः पदार्थों वा' इत्येवं परिवर्तितः। वैयमुद्रिते षष्ठे संस्करणे पुनः शुद्धः पाठ स्थापितः। 'प्रथस्व च विस्तीर्णशरीरो भव, प्रथ विस्तारे चुरादिरदन्तः' इति सायणः (अथर्वभाष्य ६।१०।१।१)।

लङ्घिबंह्योर्नलोपश्च ॥ २९ ॥—लघुः । बहुः ॥ २९ ॥

ऊर्णोतेर्णुलोपश्च[1] ॥ ३० ॥—ऊरुः ॥ ३० ॥

महति ह्रस्वश्च ॥ ३१ ॥—उरु ॥ ३१ ॥

श्लिषेः कश्च ॥ ३२ ॥—श्लिकुः ॥ ३२ ॥

आङ्परयोः खनिशॄभ्यां डिच्च ॥ ३३ ॥—आखुः । परशुः ॥ ३३ ॥

भृज्जति तपसा शरीरमिति भृगुः ऋषिः प्रतापी वा । न्यङ्क्वादित्वात् [७ । ३ । ५३] कुत्वम् ॥

२९. लङ्घिबंहिभ्यां कुरनयोर्नलोपश्च । लङ्घति गन्तुं शक्नोतीति लघुः स्वल्पो वा । अस्यैव 'बालमूललघ्वसुरालमङ्गुलीनां वा लो रत्वमाप्द्यते' (महा०८।२।१८) इति वार्तिकेन रेफः । रघू राजविशेषः । बंहते वर्धतेऽन्येभ्य इति बहुः प्रचुरः, सङ्ख्या वा ॥

३०. ऊर्णोत्याच्छादयति या सा ऊरुः जङ्घा । कुप्रत्यये णुभागलोपः[2] ॥

३१. 'ऊर्णु'धातोः कुप्रत्ययस्तस्मिन् णुभागलोप ऊकारस्य ह्रस्वत्वं च । ऊर्णोत्याच्छादयत्यल्पानिति उरु महत् ॥

३२. श्लिष्यति पदार्थैः सह सम्बध्यते स श्लिकुः परवशो ज्योतिषं वा ॥

३३. आसमन्तात् खनति भूमिमिति आखुः मूषको, वराहो वा । [3]परान् शत्रून् शृणाति हिनस्ति येन स परशुः शस्त्रभेदः कुठारो वा ।

---

१. वैयमुद्रिते 'नुलोपश्च' इति पाठः । अयमेवोज्ज्वलवृत्तावप्युपलभ्यते । धातौ 'णु' शब्दश्रवणात् 'णु' पाठ एव युक्तः । 'णु' समुदायनिर्देशाद् अलोऽन्त्यविधिरत्र न प्रवर्त्तते । अन्यथा 'ऊर्णोतिलोपश्च' इत्येव सूत्रयेत् ।

२. वैयमुद्रिते 'नुभागलोपः' इत्यपपाठः । द्रष्टव्यात्र पूर्वतना टिप्पणी ।

३. आङा साहचर्यादत्र 'परा' उपसर्गस्य ग्रहणं प्राप्नोति । अतएव श्वेतवनवासी 'पराशृणातीति परशुः कुठारः । 'ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्' (अ० ६।३।६२) इति बहुलवचनादनापोऽपि ह्रस्वः' इत्याह । महाभाष्यकारः 'परान् शृणातीति परशुः' (अ० १।१।५९; ४।१।१) इत्याह । तेन साहचर्यनियमोऽत्र नाश्रीयत इति स्पष्टम् । यद्वा साहचर्यपरिभाषाया अनित्यत्वाद् परा उपसर्गो न गृह्यते । उणादिवृत्तिकाराः प्रायेण 'पर'शब्दमेवात्रोपपदं मन्वते । 'आङ्परयोः' इति निर्देशस्तूभयथा अपि तुल्य एव ।

हरिमितयोर्द्रुवः ॥ ३४ ॥—हरिद्रुः । मितद्रुः ॥ ३४ ॥

शते च ॥ ३५ ॥—शतद्रुः ॥ ३५ ॥

खरुशङ्कुपीयुनीलङ्गुलिगु ॥ ३६ ॥

पृषोदरादित्वात् [६ । ३ । १०८] अकारलोपे पूर्वार्थे एव पर्शुः अपि दृश्यते ॥

३४. हरिणाऽश्वेन वा द्रवति गच्छतीति **हरिद्रुः**[1] दारुहरिद्रा वा । मितं परिमितं द्रवतीति **मितद्रुः** शोभनगमनो वा ॥[2]

३५. शतधा बहुप्रकारैर्द्रवति गच्छतीति **शतद्रुः** नदीभेदो[3] गङ्गा वा ।

अत्र बाहुलकात् केवलादपि 'द्रु'धातोः कुप्रत्ययो दृश्यते । यं द्रवन्ति कार्यार्थं प्राणिनः प्राप्नुवन्तीति स **द्रुः** वृक्षः शाखा वा । द्रवः शाखा अस्मिन् सन्तीति द्रुमः वृक्षः । **द्युद्रुभ्यां मः** [५ । २ । १०८.] इति सूत्रेण मत्वर्थीयो मः प्रत्ययः ॥

३६. खरु इत्येवमादयश्शब्दाः कुप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । 'खन'धातोः कुः, नस्य रः । खनति शरीरमिति **खरुः** कामो दन्तः संहर्त्ता दर्पोऽश्वो वा । श्वेतार्थे तु वाच्यवत्, यथा खरुरियं ब्राह्मणी, खरु कुलम्, खरुः पुमान् । यं दृष्ट्वा शङ्कते सन्दिग्धो भवतीति तत् **शङ्कु** विषं कीलं शस्त्रं संख्या वृक्षभेदो जलभेदः पापं स्थाणुर्वा । पिबति पाति वा स **पीयुः** कालः काको वा । कुप्रत्यये धातोरीकारादेशो युगागमश्च । नितरां लङ्गति गच्छतीति **नीलङ्गु** क्रिमिजातिर्भ्रमरः पुष्पं वा । कुप्रत्यये उपसर्गस्य दीर्घत्वम् । सर्वत्र लगति संगच्छते तत् **लिगु** चित्तं वा । 'लगे' धातोरुपधाया इत्त्वम् ।

[4]**बाहुलकात्**—खञ्जति गमने विकलो भवतीति **पङ्गुः**, गतिहीनो वा । कुप्रत्यये 'खञ्ज'धातोः पङ्गादेशः । स्वगन्धेनान्यगन्धान् हन्तीति **हिङ्गुः**

---

१. ऋग्वेदे (१०।६४।१२) 'हरिद्रवः' पदे पूर्वपदान्तोदात्तत्वं श्रूयते । तेनात्र गतिकारकोपपदात् कृत्' (अ० ६।२।१३८) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरस्य बाधा उपसंख्येया । पदपाठे'हरिऽद्रु' इत्येवं नावगृह्यते । अत्र अ० ३।१।१०९ सूत्रस्थो भाष्यप्रदीपो द्रष्टव्यः।

२. ऋग्वेदे (१।१४०।४) 'रघुद्रु' इत्यपि श्रूयते । तत्र बाहुलकात् 'शते च' (उ० १।३५) इति योगविभागाद्वा रघावुपपदेऽपि द्रवतेः कुः प्रत्ययो द्रष्टव्यः । अत्र 'रघुऽद्रुः' इत्येवमवग्रहः कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वं चोपलभ्यते ।

३. 'सतलुज' इति प्रसिद्धा ।

४. अविभक्तिनिर्देशोऽपरिसमाप्तित्वज्ञापनायेति श्वेतवनवासी ।

मृगय्वादयश्च ॥ ३७ ॥—मृगयुः । देवयुः । मित्रयुः ॥ ३७ ॥

मन्दिवाशिमथिचतिचङ्क्यङ्किभ्य उरच् ॥ ३८ ॥—मन्दुरा । वाशुरा । मथुरा । चतुरः । अङ्कुरः ॥ ३८ ॥

बणिग्द्रव्यम्[1]। [कुप्रत्यये हन्तेरुपधाया इत्वं गुगागमश्च ।]

३७. मृगयुप्रभृतयः कुप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते[2]। मृग, देव, मित्र, कुमार, अध्वर इत्येतेषूपपदेषु **'या प्रापणे'** इत्यस्मात् कुप्रत्ययो भवति । मृगान् याति प्राप्नोतीति **मृगयुः** व्याधः । देवान् विदुषो याति स **देवयुः** धार्मिकः । मित्रान्[3] यातीति **मित्रयुः** लोकव्यवहारवित् । कुमारावस्थां यातीति **कुमारयुः**, राजपुत्रो वा । अध्वरं यज्ञं यातीति **अध्वर्युः** याजकः । अध्वरस्यान्त्यलोपश्च ।

बहुलवचनात्—कोहयति विस्मापयतीति **कुहुः**, यस्यां चन्द्रो न दृश्यते साऽमावास्या वा कुहुः[4]। पण्डति गच्छतीति **पाण्डुः** रङ्गविशेषो वा, राजविशेषो वा । [धातोर्वृद्धिश्च ।] पीलति प्रतिष्टभ्नोति निरुणद्धि जीवानिति **पीलुः** हस्ती वृक्षः काणुः परमाणवः पुष्पाणि वा । 'मजि'[5] सौत्रो धातुस्तस्मात् कुः । मञ्जति चित्तं प्रसादयतीति **मञ्जु** शोभनम् । एवं **निघण्टु पलाण्डु कर्करेटु करेटु डमरु** प्रभृतयः शब्दा अप्यत्रैव द्रष्टव्या आकृतिगणत्वादस्य[6] ॥

३८. मन्दते स्तौति माद्यति वा यस्यां सा **मन्दुरा** अश्वशाला वा ।

---

१. 'हींग' इति भाषायां प्रसिद्धम् ।

२. मृगय्वादयः शब्दाः 'सुप आत्मनः क्यच्' (अ० ३।१।८) इति क्यजन्तात् क्याच्छन्दसि (अ० ३।२।१७०) इत्युप्रत्ययेऽपि छन्दसि सिद्धयन्ति ।

३. अर्धर्चादिपाठात् (अ० २।४।३१) उभयलिङ्गो मित्रशब्दः । देववाची पुंल्लिङ्गः, सुहृदि नपुंसक इति वृत्तिकारादयः । ग्रन्थकारस्त्वत्रार्थभेदेन लिङ्गभेदे शिष्टवचनाभावात् सुहृद्वाचिनमपि पुंल्लिङ्गमातिष्ठते ।

४. वैदिका अमावास्यायाः पूर्वां चतुर्दशीमपि लक्षणया अमावास्यां स्वीकुर्वते । तत्र 'या पूर्वाऽमावास्या सा सिनीवाली, योत्तरा सा कूहुः' इति । (निरुक्त ११।३११॥ द्र०—ऐ० ब्रा० ३२।६) इति ।

५. वैयमुद्रिते 'मञ्ज' इत्यपपाठः । धातोर्मञ्जरूपे प्रत्ययस्य कित्त्वाद् 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (अ० ६।४।२४) इत्यनुनासिकलोपः प्राप्नोति । तस्मात् 'मजि' इदिद् धातुर्ज्ञेयः । यद्वा—इदित एव धातोः सनुम् निर्देशो वक्तव्यः ।

६. आकृतिगणश्चायमिति दीक्षितो मनोरमायाम् (पृष्ठ ७५१) आह ।

व्यथेः सम्प्रसारणं धः किच्च ॥ ३९ ॥—विधुरः ॥ ३९ ॥

मकुरदर्दुरौ ॥ ४० ॥

मद्गुरादयश्च ॥ ४१ ॥—मद्गुरः । कर्बुरः । बन्धुरः । [चिकुराः ।] कुक्कुरः; कुकुरः ॥ ४१ ॥

वाश्यते शब्दं करोतीति **वाशुरा** रात्रिर्वा । मथति विलोडयतीति **मथुरा** नगरी वा । चतते याचते स **चतुरः**, दक्षः कुशलो वा । "चकि' इति सौत्रो धातुः, चङ्कति सर्वतो भ्रमति येन स **चङ्कुरः** रथो वा । अङ्क्यते लक्ष्यते निःसृतं दृश्यते सः **अङ्कुरः** बीजोत्पादो वा । अत्र खर्जूरादि (उ० ४।९१) वक्ष्यमाणगणेन ऊरप्रत्यये **अङ्कूर** इत्यपि, अर्थः स एव ॥

३९. व्यथते बिभेति यस्मात् स **विधुरो**ऽत्यन्तवियोगः, शरीरत्यागो वा । संप्रसारणे सति गुणनिषेधाय कित्त्वम् । बाहुलकात् थकारस्य धकारो न, तेन 'विथुरः'[2] इत्यपि सिद्धं भवति । **विथुरः** चौरो दुष्टो वा ॥

४०. मकुरदर्दुरावुरच्प्रत्ययान्तौ निपात्येते । मङ्कतेऽलङ्करोति येन स **मकुरः** दर्पणो वा । 'मकि'[3] धातोर्नलोपः । बाहुलकाद्धातोरकारस्योकारे कृते दर्पणार्थ एव **मुकुर** इत्यपि सिद्धम् । दृणाति विदारयत्युष्णमिति **दर्दुरः** मेघो मण्डूको वाद्यभेदः पर्वतभेदो वा । उरचि 'दृ'धातोर्द्विर्वचनमभ्यासस्य रुगागमो धातोष्टिलोपश्च निपात्यते ॥

४१. मद्गुरप्रभृतयः शब्दा उरजन्ता निपात्यन्ते । माद्यति हृष्यतीति **मद्गुरः** मत्स्यभेदो वा । धातोर्गुगागमः । कबते वर्णविशेषो भवतीति स **कर्बुरः** श्वेतो दुष्टो वा । धातोरुमागमः । बध्नाति मार्दवेन स **बन्धुरः** नम्रः सुन्दरो वा । खर्जूरादित्वाद् [4]ऊरप्रत्यये **बन्धूरो**ऽपि उक्तार्थ एव । चिन्वन्त्येकीकुर्वन्ति याँस्ते **चिकुराः** । अत्र धातोः कुगागमः । कोकत आदत्ते परपदार्थमिति **कुक्कुरः**; **कुकुरः** श्वा [वा], एकार्थौ । पक्षान्तरे कुगागमो निपात्यते ।

[**बाहुलकाद्**—]अतति निरन्तरं गच्छतीति **आतुरः** अशान्तः [वा]।

---

१. वैयमुद्रिते 'चङ्क' इत्यपपाठः पूर्ववत् (द्र०—पृष्ठ १८, टि० ५) ।

२. वैदिकग्रन्थेषु 'विथुर' शब्दो बहुत्र श्रूयते ।

३. वैयमुद्रिते 'मङ्क' इत्यपपाठः पूर्ववत् (द्र०—पृष्ठ १८, टि० ५) ।

४. 'खर्जिपिञ्जादिभ्य ऊरोलचौ' (उ० ४।९१) इत्यनेनेति भावः।

असेरुरन् ॥ ४२ ॥—**असुरः** ॥ ४२ ॥

मसेश्च ॥ ४३ ॥—**मसुराः** ॥ ४३ ॥

शावशेराप्तौ ॥ ४४ ॥ **श्वशुरः** ॥ ४४ ॥

अविमह्योष्टिषच् ॥ ४५ ॥—**अविषः** । **महिषः** ॥ ४५ ॥

अमेर्दीर्घश्च ॥ ४६ ॥—**आमिषम्** ॥ ४६ ॥

धातोरादौ दीर्घः । वान्ति मृगान् प्राप्नुवन्ति यया सा **वागुरा** मृगबन्धनी =मृगबन्धनार्थं जालम् । अत्र धातोर्गुगागमो निपात्यते । शक्नोति तरितुमिति **शकुलः** मत्स्यः [वा] । वङ्कते कुटिलो भवतीति **वकुलः** वृक्षभेदो वा । अत्रो-भयत्र प्रत्ययरेफस्य लत्वम्, वङ्केर्नलोपश्च ॥

४२. अस्यति प्रक्षिपति घर्मं[1] शुभगुणांश्च सः **असुरः** मेघो दुर्जना-दिर्वा । नित्करणमाद्युदात्तस्वरार्थम् ॥

४३. मस्यन्ति सुष्ठुतया परिणमन्ते ते **मसुराः** द्विदलविशेषाः । अत्रैव पञ्चमपादे 'मस'धातोरूरन्प्रत्यये[2] **मसूर** इत्यपि सिद्धम् । एकार्थाविमौ । द्विदलान्नेषु 'मसूर' इति प्रसिद्धम् ॥

४४. शु इति शीघ्रार्थवाचिन्युपपदे[3] आप्तौ गम्यमानायां 'अशूङ्' धातोरुरन् । शु शीघ्रमश्नुत आप्नोति जामाता यं स **श्वशुरः** दम्पत्योः पिता ॥

४५. अवन्ति नद्यो गच्छन्ति यस्मिन् स **अविषः** समुद्रः [वा]; [4]अवति प्रीणाति प्राणिन इति **अविषी** नदी वा । महति पूजयति स्वपुरुषार्थेन इति **महिषः** महान् राजा वा; तद्योगात् '**महिषी**' राज्ञी पशुविशेषो वा ॥

४६. टिषच् [धातोर्दीर्घश्च] । अमन्ति गच्छन्ति येन तत् **आमिषं** मांसं वा । अथवाऽमन्ति रोगिणो भवन्ति येन भक्षितेन तदामिषम्, इत्येकार्थः ॥

---

१. वैयमुद्रितेषु २-६ संस्करणेषु 'धर्मं' इत्यपपाठः । घर्ममातपं प्रक्षिपतीति असुरो मेघः, शुभगुणान् प्रक्षिपतीति असुरो दुर्जनादिरिति यथासंख्यमर्थनिर्देशो ज्ञेयः ।

२. 'मसेरूरन्' (उ० ५।६) इति सूत्रेण ।

३. 'शु' शब्दो निघण्टौ (२।१५) क्षिप्रनामसु पठितः । 'आशु इति च शु इति च क्षिप्रनामनी भवतः' इति निरुक्तम् (६।१) । ४. वैयमुद्रितेऽस्थाने दृश्यते ।

रुहेर्वृद्धिश्च ॥ ४७ ॥—रौहिषम् ॥ ४७ ॥

तवेर्णिद्वा[1] ॥ ४८ ॥ ताविषी; तविषी ॥ ४८ ॥

नञि व्यथेः ॥ ४९ ॥—अव्यथिषः ॥ ४९ ॥

किलेर्बुक् च ॥ ५० ॥—किल्बिषम् ॥ ५० ॥

इषिमदिमुदिखिदिछिदिभिदिमन्दिचन्दितिमिमिहिमुहिमुचिरुचिरुधिबन्धिशुषिभ्यः किरच् ॥ ५१ ॥—इषिरः । मदिरा । मुदिरः । खिदिरः । छिदिरः । भिदिरम् । मन्दिरम् । चन्दिरम् । तिमिरम् । मिहिरः । मुहिरः । मुचिरः । रुचिरम् । रुधिरम् । बधिरः । शुषिरम् ॥ ५१ ॥

---

४७. टिषच् [धातोर्वृद्धिश्च] । रुहन्त्युत्पद्यन्ते यानि तानि **रौहिषाणि** तृणानि; रौहिषो मृगभेदो वा ॥

४८. 'तव' इति सौत्रो धातुस्तस्माट्टिषच् णिद्विकल्पेन[1] भवति । तवतीति [**ताविषः, तविषः** बलं सूर्यो वा । षित्वात् स्त्रियां ङीषि] **ताविषी, तविषी** नदी बलं[2] सेना भूमिर्वा ॥

४९. न व्यथत इति **अव्यथिषः** समुद्रः सूर्यो वा । **अव्यथिषी** पृथिवी रात्रिर्वा ॥

५०. किलति क्रीडति विचारशून्यतया कार्येषु प्रवर्त्तते येन तत् **किल्बिषं**[3] पापम् ॥

५१. इष्यादि[भ्यः] षोडशधातुभ्यः किरच् । इच्छन्तीष्टं साध्नु-

---

१. सर्वास्वपि वृत्तिष्वत्र 'णिद् वा' इत्येव पठ्यते । तेन पाक्षिके णित्त्वे वृद्धेर्विकल्पः । यद्यत्र वृद्धिविकल्पनमेवेष्टमभविष्यत्, तर्हि 'तवेर्वा' इत्येवासूत्रयिष्यत्, पूर्वसूत्राद् वृद्धिपदमनुवर्त्य तं व्यकल्पयिष्यत् (अत एव श्वेतवनवासी वृद्धिग्रहणं प्रपञ्चार्थमाह) । तेनानुमीयते यदत्र 'तवेर्निद् वा' इति सूत्रकारसम्मतः पाठ आसीत्, रेफसन्नियोगेन लेखकप्रमादेन वाऽत्र णत्वव्यापत्तिः संजाता । तविषस्याद्युदात्तत्वमन्तोदात्तत्वं च वैदिकग्रन्थेषूपलभ्यते । पुंल्लिङ्गः प्रायेणान्तोदात्त उपलभ्यते (अथर्वणि १९।५८।६ आद्युदात्तमपि दृश्यते), स्त्रीलिङ्गः तविषीशब्दः सर्वत्राद्युदात्त एव । तस्मात् 'तवेर्निद् वा' इत्येव सूत्रपाठो युक्तः ।

२. निघण्टौ (२।९) बलनामासु पठितम् ।

३. किल्बिषमाद्युदात्तमुपलभ्यते । तदर्थं 'तवेर्निद् वा' पाठेनित्पदमनुवर्तनीयम् । णित्पाठे बाहुलकत्वाद् वृषादित्वाद् (अ० ६।१।१९७) वाऽऽद्युदात्तत्वं वक्तव्यम् ।

अशेर्नित्[1] ॥ ५२ ॥—अशिरः[1] ॥ ५२ ॥

अजिरशिशिरशिथिलस्थिरस्फिरस्थविरखदिराः ॥ ५३ ॥

वन्त्यनेनेति **इषिरः** अग्निः वा । माद्यति मत्तो भवति यया सा **मदिरा** सुरा मद्यम् [वा] । मोदतेऽसौ **मुदिरः** कामुको वा । मोदन्तेऽनेनेति **मुदिरो** मेघः [वा] । खिद्यति येन स **खिदिरः** चन्द्रमा वा । छिनत्ति येन स **छिदिरः** असिः कुठारो वा । भिनत्ति येनेति **भिदिरं** वज्रम् [वा] । [2]मन्दन्ते स्तुवन्ति स्वपन्ति वा यस्मिंस्तत् **मन्दिरं** गृहं नगरं वा । चन्दन्त्याह्लादयन्ति येन स **चन्दिरः** चन्द्रमा हस्ती वा । तेमत्यार्द्रीभवत्यस्मिन् तत् **तिमिरम्** नेत्ररोगो वा । यो मेहयति सेचयति पृथिवीं मेघजलेन स **मिहिरः** सूर्य्यो वा । मुह्यति यस्मै यो वा मुह्यति स **मुहिरः** काम्यः पदार्थोऽसभ्यो जनो वा । यो मुञ्चति स्वपदार्थमन्येभ्यो ददाति स **मुचिरः** दानशीलो वा । यद्रोचते प्रीतिकरं भवति तद् **रुचिरं** शोभनम् । [वाच्यलिङ्गत्वाद्] रुचिरं वस्त्रम्, रुचिरः पुत्रः, रुचिरा कन्या वा । रुध्यते चर्म्मणा यत्तत् **रुधिरं** शोणितम् [वा] । बध्यते शब्दश्रवणान्निरुध्यते स बधिरः श्रोत्रविकलः [वा] । किलच् प्रत्ययस्य कित्त्वात् **अनिदिताम्**० [६ । ४ । २४] इति नलोपः । शुष्यन्ति पदार्था येन तत् **शुषिरं** छिद्रमाकाशो वा ॥

५२. अश्नाति यः पदार्थान् सः **अशिरः** अग्निः [वा]; धृष्टतयाऽश्नाति वा **अशिरः** दुर्जनः [वा] ॥

५३. अजिरादयः सप्त किरच्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । अजन्ति गच्छन्ति यत्र तत् **अजिरम्** अङ्गनं गृहाग्रभागः 'आंगन' इति प्रसिद्धम् [वा] [निपातनादजेर्वीभावाभावः ।] शशति दिनाल्पत्वाच्छीघ्रं गच्छति तत् **शिशिरम्** ऋतुर्हिमं शीतलं वस्तु वा । [धातोरुपधाया इत्वं निपात्यते ।] [3]श्रथति विमुञ्चति पुरुषार्थमिति **शिथिलः** पुरुषः, **शिथिला** कन्या, **शिथिलानि** तृणानि मृदूनीत्यर्थः । धातोरुपधाया इत्वं रेफस्य लोपः प्रत्ययस्थस्य रेफस्य लत्वं च निपात्यते । गमनागमननिवृत्त्या तिष्ठतीति **स्थिरं** निश्चलम् । धातोराकारलोपः । स्फायते प्रवर्द्धते [यः] स **स्फिरः** प्रभूतं[4] वा । आय्भागस्य लोपो [ऽत्र] निपातनम् । गमनेऽसमर्थत्वात् तिष्ठतीति

---

१. 'अशेर्णित्' इति पाठान्तरम् । अस्मिन् पाठे वेदे प्रयुज्यमानम् आशिरं पदमुपपद्यते, मध्योदात्तत्वं तु बाहुलकाद् वक्तव्यम् । २. वैयमुद्रिते 'मदन्ते' अपपाठः । ३. आधृषाद्वा । धातु० १०।२३०॥ ४. वैयमुद्रिते 'प्रभावो वा' इत्यपपाठः ।

सलिकल्यनिमहिभडिभण्डिशण्डिपिण्डितुण्डिकुकिभूभ्य इलच् ॥ ५४ ॥—
सलिलम् । कलिलम् । अनिलः । महिलः । भडिलः । भण्डिलः । शण्डिलः । पिण्डिलः । तुण्डिलः । कोकिलः । भविलः ॥ ५४ ॥

कमेः पश्च ॥ ५५ ॥—कपिलः ॥ ५५ ॥

गुपादिभ्यः कित् ॥ ५६ ॥—गुपिलः । तिजिलः । गुहिलम् ॥ ५६ ॥

स्थविरः वृद्धो भिक्षुको वा । धातोर्वुक् ह्रस्वत्वञ्च । खदति हिनस्तीति **खदिरः** वृक्षभेदो वा ।

बाहुलकात्—यः शेते स शिविरः; शेरते यस्मिन् तत् **शिविरं** स्थानं वा । 'शीङ्' धातोर्वुक् ह्रस्वत्वञ्च ॥[1]

५४. सल्यादिभ्य इलच् । सलति गच्छतीति **सलिलं** जलं वा । कलति सङ्ख्याति तत् **कलिलं** मिश्रं दुःखेन साध्यं गहनमिति वा । अनिति जीवति जीवयति वा स **अनिलः** वायुर्वा । यो महयति यं महयन्ति येन वा मह्यते पूज्यते स **महिलः** पुमान्, **महिलं** स्थानम्, **महिला** स्त्री वा । बाहुलकाद् इलच इकारस्यैकारे सति **महेला** स्त्री इत्यपि सिद्धं भवति । 'भड' इति सौत्रो धातुः । भडति हिनस्तीति **भडिलः** शूरो वा । भडति परिचरति स्वामिनमिति **भडिलः** सेवकः । भण्डयति परिहसति येन स **भण्डिलः** कल्याणं वा । शण्डति रोगयुक्तो भवतीति **शण्डिलः** ऋषिविशेषो वा, यस्य गोत्रापत्यं 'शाण्डिल्यः' इति प्रसिद्धम् । पिण्डति सङ्घातं करोति स **पिण्डिलः** गणको वा । तुण्डति तोडति पृथक् करोति स **तुण्डिलः** उच्चनाभिर्जनो वा । कोकत आदत्तेऽसौ **कोकिलः** पक्षिविशेषो वा । यो भवति स **भविलः** भवितुं योग्यो वा ।

बाहुलकात्—कुटति कौटिल्यं करोति स **कुटिलः** क्रूरकर्मा वा ॥

५५. कमेरिलच् मस्य पः । कामयतेऽसौ **कपिलः** वर्णभेदो मुनिविशेषो वा ॥

५६. इलचः कित्त्वं गुणनिषेधार्थम् । गोपायति रक्षति प्रजाः इति **गुपिलः** राजा वा । तेजते तीक्ष्णीकरोति तिज्यते सह्यते वा सर्वैः स **तिजिलः** चन्द्रमा वा । गूहते वृक्षैराच्छादितो भवतीति **गुहिलं** वनं वा ।

---

१. वैयमुद्रिते प्रथमसंस्करणे इतोऽग्रे मुद्रितः 'गूहते वृक्षैराच्छादितो भवतीति गुहिलं वनं वा' इत्ययं पाठः सर्वान्त्य आसीत् । द्वितीयसंस्करणे यथास्थानं प्रापितः ।

मिथिलादयश्च ॥ ५७ ॥—मिथिला ॥ ५७ ॥

पतिकठिकुठिगडिगुडिदंशिभ्य एरक् ॥ ५८ ॥—पतेरः । कठेरः । कुठेरः । गडेरः । गुडेरः । दशेरः ॥ ५८ ॥

कुम्बेर्नलोपश्च ॥ ५९ ॥—कुबेरः ॥ ५९ ॥

शदेस्तश्च ॥ ६० ॥—शतेरः ॥ ६० ॥

मूलेरादयः ॥ ६१ ॥—मूलेरः । गुधेरः । गुहेरः । मुहेरः । ६१ ॥

अन्येऽपि—पूजितुमादत्तुं योग्यः **पूजिलः** विद्वान् । शोषयति सर्वमिति **शुषिलः** वायुः । देवतो प्रकाशयति धर्ममिति **देविलः** धार्मिको वा ॥

५७. मिथिलादय इलच्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । मथ्यते या सा **मिथिला**, मथ्यन्ते शत्रवो यत्र सा **मिथिला** विदेहानां राज्ञां नगरी वा । [धातोर्] अकारस्येत्त्वं निपात्यते । गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति यां सा **गतिला** वेत्रलता वा । गमेस्तकारान्तादेशः । या तङ्कति कृच्छ्रेण जीवति सा **तकिला** ओषधिर्वा । [धातोर्] नलोपः । चमति भक्षयतीति **चण्डिला** काचिन्नदी वा । धातोर्डुगागमः । यः पथति निरन्तरं गच्छति स **पथिलः** पथिको वा, इत्यादि ॥

५८. पतति गच्छतीति **पतेरः** गन्ता पक्षी वा । कठति कृच्छ्रेण जीवतीति **कठेरः** कारागारिको वा । **कुठेरः**[1] कृच्छ्रजीवी पर्णाशो वा 'कटहर' इति प्रसिद्धम् । गडति सिञ्चतीति **गडेरः** मेघो वा । गुडति रक्षति स **गुडेरः** रक्षकः । दशति दंष्ट्राभ्यामिति **दशेरः** हिंसको जीवो वा । [कित्त्वाद्] अनुनासिकलोपः ॥

५९. कुम्बत्यन्यानाच्छादयतीति **कुबेरः** धनाध्यक्षो विद्वान् वा । इदित्त्वादप्राप्तो नलोप एरकि विधीयते ॥

६०. शीयते शातयति दुःखाकरोतीति **शतेरः** शत्रुर्वा । धातोर्दकारस्य तकारादेशः ॥

६१. मूलेरादय एरक्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । यो मूलति सर्वोपरि प्रतिष्ठति स **मूलेरः** भूपतिर्वा । गुधति सर्वतो वेष्टयतीति **गुधेरः** रक्षको वा । गूहते येन स **गुहेरः** लोहघातनो वा । मुह्यति विक्षिप्त इव भवतीति **मुहेरः** मूर्खः [वा]; मुह्यत्यनेन वृषभादिरिति वा **मुहेरः** कणमर्दनादौ वृषभमुख-

---

१. 'कुठि' धातोरिदित्त्वान्नुमि प्राप्ते बाहुलकात् तदभावः ।

कबेरोतच्[1] पश्च ॥ ६२ ॥—कपोतः ॥ ६२ ॥
भातेर्डवतुप्[2] ॥ ६३ ॥—भवान् ॥ ६३ ॥
कठिचकिभ्यामोरन्[3] ॥ ६४ ॥—कठोरः । चकोरः ॥ ६४ ॥
किशोरादयश्च ॥ ६५ ॥—किशोरः । सहोरः [,गौरः]॥ ६५ ॥

बन्धनम् । 'मुहेर' इत्येव भाषायां प्रसिद्धम् ॥

६२. [1]ओतच्प्रत्ययो वकारस्य पकारश्च । कबते विचित्रवर्णो भवतीति कपोतः, पक्षिभेदो वा ॥

६३. भाति दीप्तो भवति दीपयति वा स भवान् । सर्वनामवाचकः सर्वनामसंज्ञकश्चायं शब्दः ॥

६४. कठति कच्छ्रेण जीवति येन स कठोरः, कठिनः पूर्णो वा । चकते तृप्यति स चकोरः, पक्षिविशेषो वा ॥

६५. किशोरादय ओरन्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । किं शृणाति हिनस्तीति किशोरः, अश्वशावको वा । किमो मलोपः 'शॄ'धातोष्टिलोपश्च निपातनम् । सोढुं शीलः सहोरः, साधुर्वा । गायति शब्दं करोतीति गौरः । अरुणे श्वेते पीते निर्मले च वाच्यलिङ्गः—गौरः कुमारः, गौरी कन्या, गौरं कुलम्, गौरं कमलम्, गौरः सर्षपः इत्यादि । 'गै'धातोराकारादेशे कृत

---

१. कपोतशब्दस्य मध्योदात्तत्वात् 'कबेरोतः पश्च' इत्येव पाठो युक्तः। भोजोऽपि 'कम्पेरोतो नलोपश्च' (स० क० २।२।१४९) इति 'ओतः' प्रत्ययमेवाह । सायणस्तु व्यत्ययेन मध्योदात्तत्वमाह (ऋग्भाष्य १।३०।४) ।

२. पित्त्वमनावश्यकम् । पित्त्वात् प्रत्ययस्यानुदात्तत्वेऽपि डित्त्वाद् धातोष्टेर्लोपे 'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः' (अ० ६।१।१५५) इत्यनेनादेरुदात्तत्वप्राप्तेः । अत एव भोजो 'डवतुः' इत्येव सूत्रयाञ्चकार (स० क० २।१।२५७) । अ० ४।१।६ भाष्यविवरणे नागेशोऽस्य सूत्रस्यार्षतां वक्ति ।

३. 'ओरच्' इति श्वेतवनवासी नारायणभट्टश्च । ओरनि नित्त्वादाद्युदात्तत्वं प्राप्नोति, ओरचि च चित्त्वादन्तोदात्तत्वम्।उभयमपि नेष्यते, 'लघावन्ते०' (फिट् ४२) इति सूत्रेणाव्युत्पत्तिपक्षे मध्योदात्तत्वस्य विधानात् । व्युत्पत्तिपक्षेऽपि स एव स्वर इष्यते । अतएव भोजदेवः 'ओरः' (स० क० २।३।६२) इत्येवाह ।

कपिगडिगण्डिकटिपटिभ्य ओलच्[1] ॥ ६६ ॥—कपोलः । गडोलः । गण्डोलः । कटोलः । पटोलः ॥ ६६ ॥

मीनातेरूरन्[2] ॥ ६७ ॥—मयूरः ॥ ६७ ॥

ओकारेण[3] सह वृद्ध्येकादेशः । आयादेशस्त्वात्वाप्राप्तौ[4] भवति, इत्यादि ॥

६६. कम्पते चलति स **कपोलः**, वदनैकदेशो वा । सूत्रे निर्देशादेव नलोपः । गडति सिंचति स **गडोलः** । गण्डति स **गण्डोलः**, वदनैकदेशो वा । गडोलगण्डोलौ गुडकपर्यायौ वा । कटति वर्षत्यावृणोति वा स **कटोलः**, कटुश्चाण्डालो[5] वा । पटति गच्छति स **पटोलः**, फलविशेषो वस्त्रविशेषो वा ।

बाहुलकात्—कण्डति माद्यतीति **कण्डोलः**, चाण्डालो[6] वा ॥

६७. मीनाति हन्तीति **मयूरः**, पक्षिविशेषो वा ।

बहुलवचनात्—मीनातेरात्वनिषेधः, [7]धातोर्गुणादेशः ॥

---

१. 'ओलक्' इति श्वे० नारा० । 'कोलच्' सिकौ० बालमनोरमा च । ककारः कित्कार्यार्थ इति श्वेतवनवासी । नात्र किञ्चित् कित्कार्यं दृश्यते, तस्मात् कित्त्वमनर्थकम् । चित्त्वमपि न युक्तम्, 'लघावन्ते०' (फिट् ४२) इति मध्योदात्तत्वस्येष्टत्वात् । तस्माद् दशपादीयः (८।१०५) भोजीयश् (स० क० २।३।११३) च 'ओलः' पाठ एव युक्तः ।

२. 'ऊरन्' इत्येव प्रायिकः पाठः, 'ऊरच्' दशपाद्यां पाठान्तरम् । मयूर शब्दस्य 'लघावन्ते०' (फिट् ४२) इत्यादिना मध्योदात्तत्वविधानात्, वेदे च तथैव दर्शनाद् अत्र भोजदेवीयः 'ऊरः' (स० क० २।३।५८) पाठ एव युक्तः ।

३. वैयमुद्रितेषु 'ओरना' इत्यपपाठः ।

४. अयं भावः—आत्त्वस्य प्राप्तौ आयादेशो न भवति । असमर्थोऽयं समासः । यथा 'सुडनपुंसकस्य' (अ० १।१।४२) सुट् सर्वनामस्थानसंज्ञं भवति, नपुंसकस्य न भवति ।

५. वैयमुद्रितेषु 'कटुश्चालो वा' इत्यपपाठः ।

६. 'कण्टोलः पिटकः' इत्युज्ज्वलदत्तः (उ० वृ० १।६७)

७. वैयमुद्रितेष्वस्थानेऽयं पाठो दृश्यते ।

स्यन्देः संप्रसारणं च ॥ ६८ ॥—सिन्दूरम् ॥ ६८ ॥

सितनिगमिमसिसच्यविधाञ्क्रुशिभ्यस्तुन् ॥ ६९ ॥—सेतुः । तन्तुः । गन्तुः । मस्तुः । सक्तुः । ओतुः । धातुः । क्रोष्टुः ॥ ६९ ॥

वसेरगारे णिच्च[1] ॥ ७० ॥—वास्तु ॥ ७० ॥

---

६८. स्यन्दते प्रस्रवति तत् सिन्दूरम्, रक्तचूर्णं वृक्षभेदो वा[2]। ऊरन्प्रत्यये यकारस्य संप्रसारणम् ॥

६९. सिनोति बध्नातीति सेतुः, समुद्रो वा । तितुत्रतथ० [७ । २।९] इतीट् निषेधः । तनोति विस्तृणोतीति तन्तुः, सूत्रं वा । वरामुत्तमां विद्यां तनोति स वरतन्तुः मुनिः । वरतन्तुना प्रोक्तो 'वारतन्तवीयो'[3] ग्रन्थः । गच्छतीति गन्तुः, पथिको वा । समन्ताद् गच्छति भ्रमतीति आगन्तुः, अभ्यागतो वा । मस्यति परिणमतीति मस्तुः[4], दधनि निस्सृतमुदकं वा । सच्यन्ते समवेताः क्रियन्ते ते सक्तवः, पक्वयवादिचूर्णं वा । अवति रक्षणादिकं करोति स ओतुः, विडालो वा । [बाहुलकादङ्कित्यपि] 'अव'धातोः ज्वरत्वर० [६ । ४ । २०] इति सूत्रेणोपधावकारयोरूठ् । दधाति धरति पोषति वा स धातुः, अश्मनो विकारः सुवर्णादिः शरीरस्थवातादिर्वा । क्रोशत्याह्वयति रोदिति वा स क्रोष्टुः[5], क्रोष्टा शृगालो वा ॥

७०. वसन्ति प्राणिनो यत्र तद् वास्तु, गृहं वा । अगारादन्यत्र णित्त्वाभावः । वसन्ति येन तद् वस्तु, द्रव्यं वा ॥

---

१. सर्वे वृत्तिकृतः सूत्रमिदं 'वसेस्तुन्' 'अगारे णिच्च' इति विभज्य 'आप्नोतेर्ह्रस्वश्च' (उ० १।७५) इत्यतोऽनन्तरं पठन्ति । यथा त्वत्र 'सितनिगमि०' (उ० १।६९) सूत्रानन्तरं पाठस्तथा द्विस्तुन् ग्रहणं न कर्तव्यं भवति । निरुक्तटीकाकृत् स्कन्दस्वामी 'वास्तोष्पति' पदनिर्वचनावसरे (नि० १०।१६) 'वसेरगारे णिच्च' इत्येव पाठमुद्धरति । तस्मादयमेव पाठो युक्तः प्राचीनश्चेति स्पष्टमेव । अगारे णित्त्वविधानात् ततोऽन्यत्र प्रत्ययोत्पत्ति र्भवत्येव ।

२. इतोऽग्रे 'इत्यादि' पदं वैयमुद्रितेषूपलभ्यते, तच्चात्रानावश्यकमिति कृत्वा ६५ तमसूत्रवृत्तेरन्तेऽस्माभिर्नीतम् ।

३. 'तित्तिरिवरतन्तु०' (अ० ४।३।१०२) इत्यादिना छण् ।

४. मस्तुशब्दो नपुंसकलिङ्ग इत्यपरे ।

५. यद्यपि 'तृज्वत् क्रोष्टुः' (अ० ७।१।९५) इत्यनेन सर्वनामस्थाने तृज्वद्भाव उक्तः, तथापि तुन्प्रत्ययान्तस्य स्वतन्त्रशब्दत्वात् वृत्तिकारोऽयमस्य सर्वनामस्थानेऽपि क्वाचित्कं प्रयोगसद्भावमिच्छति ।

पः किच्च ॥ ७१ ॥—पीतुः ॥ ७१ ॥

अर्त्तेश्च तुः ॥ ७२ ॥—ऋतुः ॥ ७२ ॥

कमिमनिजनिगाभायाहिभ्यश्च ॥ ७३ ॥—कन्तुः । मन्तुः । जन्तुः । गातुः । भातुः । यातुः । हेतुः ॥ ७३ ॥

चायः की ॥ ७४ ॥—केतुः ॥ ७४ ॥

आप्नोतेर्ह्रस्वश्च ॥ ७५ ॥—अप्तुः ॥ ७५ ॥

---

७१. पिबत्युदकादिकं पाति प्राणिनो रक्षति वा स **पीतुः**, अग्निः सूर्यो वा । कित्त्वादीत्वम्[1] ॥

७२. चकारात्तुः किद्भवति । पुनः पुनर्ऋच्छति गच्छत्यागच्छतीति **ऋतुः**, वसन्तादिः स्त्रीणां रजःपतनकालो वा ॥

७३. कामयते येन स **कन्तुः**, कामश्चित्तं वा । मन्यते जानाति वा येन स **मन्तुः**, अपराधो वा । जन्यते शरीरादिधारणेन प्रादुर्भवति स **जन्तुः** जीवः । गायति षड्जादिस्वरान् आलापयति स **गातुः** गाथकः; गाते गच्छतीति **गातुः**, पथिको वा भृङ्गगन्धर्वौ वा । भाति प्रकाशयतीति **भातुः**, सूर्यो वा । याति प्रापयतीति **यातुः**, अध्वगः कालो वा । हिनोति येन यो वा कार्यरूपेण वर्धतेऽसौ **हेतुः** कारणम् ॥

७४. चायते पूजयति निशामयति श्रावयति वा स **केतुः**[2], ग्रहः पताका वा । धूमकेतुः उत्पातः[3] ॥

७५. आप्नोति व्याप्नोति सर्वान् पदार्थानिति **अप्तुः**, शरीरं वा । तुप्रत्यये 'आप्लृ' धातोर्ह्रस्वत्वम् ॥

---

१. 'घुमास्थागापा०' (अ० ६।४।६६) इतीत्वम् ।

२. 'कित ज्ञाने' इत्यस्मादुप्रत्ययेऽपि 'केतुः' शब्दः सिद्ध्यति । अयं चार्थो 'महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना' (ऋ० १।३।१२) इति मन्त्रे स्पष्टः । यद्वैतन्मन्त्र-सामर्थ्यात् 'चिती संज्ञाने' इत्यस्यापि 'की'भावो द्रष्टव्यः । यद्वा चकारस्य ककार उश्च प्रत्ययः ।

३. उत्पातस्य निमित्तमिहोत्पातशब्देनोक्तः ।

कृञः कतुः ॥ ७६ ॥—क्रतुः ॥ ७६ ॥

एधिवह्योश्च तुः ॥ ७७ ॥—एधतुः । वहतुः ॥ ७७ ॥

जीवेरातुः ॥ ७८ ॥—जीवातुः ॥ ७८ ॥

आतृकन् वृद्धिश्च ॥ ७९ ॥—जैवातृकः ॥ ७९ ॥

कृषिचमितनिधनिसर्जिखर्जिभ्य ऊः स्त्रियाम्[1] ॥ ८० ॥—कर्षूः । चमूः । तनूः । धनूः । सर्जूः । खर्जूः ॥ ८० ॥

---

७६. 'कृञ्'धातोः कतुः प्रत्ययो भवति । यः क्रियते यया करोति वेति क्रतुः, प्रज्ञा यज्ञो वा । कित्त्वाद् गुणाभावे यणादेशः[2] ॥

७७. एधते वर्द्धतेऽसौ एधतुः, पुरुषो वा । वहति भारमिति वहतुः, अनड्वान् वा । चित्करणमन्तोदात्तार्थम् ॥

७८. जीव्यते येन यो वा जीवति स जीवातुः, जीवनम् औषधं वा॥

७९. 'जीव'धातोरातृकन् प्रत्ययस्तस्मिन् सति वृद्धिश्च भवति। यो जीवति पूर्णावस्थापर्यन्तं स जैवातृकः आयुष्मान्, निशाकरो वा ॥

८०. कृष्यादिभ्य ऊः प्रत्ययः । कर्षत्याकर्षति पदार्थानिति कर्षूः, शुष्कगोमयः अग्निर्नदी वा । चमति भक्षयतीति[3] चमूः, शत्रुभक्षिणी सेना वा । तनोति कार्याणि येन[यया वा]सा तनूः, शरीरं वा । दधाति धनमर्जयति [येन]

---

१. एतत्प्रकरणस्थाः शब्दाः मूलतो ह्रस्वोकारान्ताः संभाव्यन्ते । तेभ्यश्च स्त्रियामूङ् भवति । उ० १।९३ सूत्रे निपातितः कर्कन्धू शब्दो वेदे ह्रस्वोकारान्तोऽपि दृश्यते । द्र०—यजुः २१।३२॥ 'अप्राणिजातेश्चारज्ज्वादीनाम्' (महा० ४।१।६६) इति वार्तिकव्याख्याने 'कर्कन्धूः' रूपमुदाहरता भाष्यकारेणाप्यस्य ह्रस्वान्तत्वं स्वीकृतम् । अत्रैव निपातितो 'दिधिषू' शब्दोऽपि ऋग्वेदे (६।५५।५) ह्रस्वान्तः श्रूयते । ह्रस्वान्तः तनु शब्दः पूर्वं (१।७) व्युत्पादितः । 'कशेरुः' ह्रस्वान्तोऽन्यपदं (१।८८) वृत्तिकारेण निदर्शयिष्यते । कच्छूरः इत्यत्र मत्वर्थीये रप्रत्यये 'कच्छु' ह्रस्वान्तो दृश्यते । एवमन्येऽपि केचन निदर्शयितुं शक्यन्ते । एभिरुदाहरणैर्ज्ञायते यदा ह्रस्वोकारान्ता मूलशब्दा भाषायां विरलप्रचारा लुप्ता वा अभूवन्, तदा वैयाकरणैः स्त्रियां प्रयुज्यमानानामूङ प्रत्ययान्तानां शब्दानां स्वातन्त्र्येण प्रकृतिप्रत्ययविभागः प्रदर्शित. ।

२. वैयमुद्रितेषु 'कित्वाद् यण् गुणाभावश्च' इत्यन्पपाठः ।

३. वृत्तिकारः स्वीय ऋग्भाष्ये करणे व्युत्पादयति—'चमन्ति अदन्ति विनाशयन्ति शत्रुबलानि याभिस्ताश्चम्वः । ऋ० १।१४।४॥

मृजेर्गुणश्च ॥ ८१ ॥—मर्जूः ॥ ८१ ॥

खडेर्डुड् वा ॥ ८२ ॥—खड्डूः; खडूः ॥ ८२ ॥

वहेर्धश्च ॥ ८३ ॥—वधूः ॥ ८३ ॥

कषेश्छश्च ॥ ८४ ॥—कच्छूः ॥ ८४ ॥

णित्कशिपद्यर्त्तेः ॥ ८५ ॥—काशूः । पादूः । आरूः ॥ ८५ ॥

अणो डश्च ॥ ८६ ॥—आडूः ॥ ८६ ॥

[नञि] लम्बेर्नलोपश्च ॥ ८७ ॥—अलाबूः ॥ ८७ ॥

के श्र एरङ् चास्य ॥ ८८ ॥—कशेरूः ॥ ८८ ॥

स धनूः, शस्त्रं वा । सर्जति उपार्जति कार्याणीति सर्जूः, वैश्यो वा । खर्जति पीडयतीति खर्जूः, कण्डूर्वा ॥

८१. मार्ष्टि शोधयतीति मर्जूः, शुद्धिर्वा । ऊप्रत्ययस्याकित्त्वान्नित्यापि प्राप्ता वृद्धिर्गुणेन बाध्यते ॥

८२. खडति भिनत्तीति खड्डूः, खडूः, बाहुजङ्घयोराभूषणं मृत-शय्या वा ॥

८३. वहति सुखानि प्रापयतीति वधूः, नवोढा स्त्री वा ॥

८४. कषति हिनस्ति दुःखयतीति कच्छूः, पामा वा । 'खाज' इति प्रसिद्धा । षकारस्य छकारः ॥

८५. कश्यादिभ्य ऊ णिद्भवति । कष्टे गच्छति शास्ति वेति काशूः, विकलधातुर्जनः शक्तिर्वा । पद्यन्ते गच्छन्ति यया सा पादूः, उपानहौ वा । ऋच्छति प्राप्नोति स आरूः, पिङ्गलो वा ॥

८६. अणति शब्दयतीति आडूः, जलगामिद्रव्यं[1] वा । णस्य डः[2] ॥

८७. ऊप्रत्यये लम्बधातोर्नलोपो भवति । न लम्बतेऽधो न स्रवति गच्छति सा अलाबूः, तुम्बी वा ॥

८८. ककारोपपदात् 'शॄ'धातोरूप्रत्ययस्तस्मिन् प्रकृतेररङादेशः । कं[3]

१. नौरित्यर्थः । 'जलप्लवद्रव्यम्' इत्युज्ज्वलदत्तः ।

२. वैयमुद्रितेषु १—४ संस्करणेषु पाठोऽयमस्थाने मुद्रयते ।

३. वैयमुद्रितेषु 'कष्टे शास्ति' इत्यपपाठः । 'क'पदं जलवाचि । कमुदकं शास्ति हिनस्ति नाशयतीति कशेरुः कशेरूः वा ।

त्रो दुट् च ॥ ८९ ॥—तर्दूः ॥ ८९ ॥

दरिद्रातेर्यालोपश्च ॥ ९० ॥—दर्द्रूः ॥ ९० ॥

नृतिशृध्योः कूः ॥ ९१ ॥—नृतूः । शृधूः ॥ ९१ ॥

ऋतेरम् च ॥ ९२ ॥—रतूः ॥ ९२ ॥

अन्दूदृम्फूजम्बूकम्बूकफेलूकर्कन्धूदिधिषूः ॥ ९३ ॥

शास्ति स कशेरूः, तृणकन्दं वा; बहुलवचनादूप्रत्ययस्य ह्रस्वे कृते कशेरुः इति ह्रस्वान्तोऽपि दृश्यते ॥

८९. तरति येन यया वा सा तर्दूः, दारुहस्तः पुरुषो यष्टिर्वा । प्रत्ययस्य दुडागमः ॥[1]

९०. 'दरिद्रा'धातोरूप्रत्यये 'इ' 'आ' इत्येतयोर्वर्णयोर्लोपः । दरिद्राति दुर्गतिं करोतीति दर्द्रूः, कुष्ठभेदो वा । मृगय्वादित्वात् (उ० १।३७) 'रि' 'आ' इत्यनयोर्लोपे दद्रुः इत्यपि सिद्धम् । अत्र सूत्रेऽपि 'रि' 'आ' इत्येतयोर्लोपे[2] दद्रूरिति भवति ॥

९१. नृत्यतीति नृतूः, नर्त्तकः [वा] । शर्धते कुत्सितं शब्दयतीति शृधूः, अपानवायुर्वा । प्रत्ययस्य कित्त्वाद् गुणनिषेधः ॥

९२. 'ऋत' इति सौत्रो धातुः । ऋतीयते घृणां करोतीति रतूः, सत्यं दिव्यनदी वा । धातोरमागमः ॥

९३. अन्दूप्रभृतयः शब्दाः कूप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । अन्दति बध्नाति येन यया वा सा अन्दूः, हस्तिबन्धनी शृङ्खला वा । 'जंजीर' इति प्रसिद्धा । दृम्फत्युत्कृष्टं क्लेशं ददातीति दृम्फूः[3], सर्पजातिर्वा । [निपातनादनुनासिक-

---

१. वैयमुद्रितेषु 'तृधातोर्दुगागमः' इत्यपपाठः । धातोर्दुगागमे सति 'तृद्' रूपे निष्पन्ने लघूपधत्वाभावाद् गुणो न स्यात् । अपि च सूत्रे स्पष्टं 'दुट्' इति पठ्यते । उज्ज्वलदत्तस्तु सूत्रे 'दुक्' इति पठित्वा वृत्तौ 'दुगागमश्च धातोः' इति निरूपयति, तच्चिन्त्यम् ।

२. दरिद्रातेर् यालोपश्च, दरिद्रातेर् र्यालोपश्च इत्युभयथाऽपि विच्छेदः, संहितायास्तुल्यत्वात् ।

३. केचन वृत्तिकारा 'दृम्भू' शब्दं सूत्रे पठन्ति, तस्य च 'सर्पजातिः' इत्यर्थं निदर्शयन्ति ।

मृग्रोरुतिः ॥ ९४ ॥—मरुत् । गरुत् ॥ ९४ ॥

ग्रो मुट् च ॥ ९५ ॥—गर्मुत् ॥ ९५ ॥

हृषेरुलच् ॥ ९६ ॥—हर्षुलः ॥ ९६ ॥

हृसृरुहियुषिभ्य इतिः ॥ ९७ ॥—हरित् । सरित् । रोहित् । योषित् ॥ ९७ ॥

ताडेर्णिलुक् च ॥ ९८ ॥—तडित् ॥ ९८ ॥

लोपाभावः ।] जमन्ति भक्षयन्ति यां सा **जम्बूः**, वृक्षविशेषजातिर्वा । धातोर्बुगागमः । बाहुलकादूप्रत्ययस्य ह्रस्वे कृते **जम्बुः** इत्यपि दृश्यते । कामयते स **कम्बूः**, परद्रव्यापहारी वा । धातोर्बुक् । कफं श्लेष्माणं लात्याददातीति **कफेलूः**, ओषधिविशेषो वा । एकारान्तत्वं कफशब्दस्य निपातनम् । कर्कं कण्टकं दधाति धरतीति **कर्कन्धूः**, बदरीफलं वा । कित्त्वादाकारलोपः उपपदस्य नुगागमो निपातनम् । दिधिं धैर्यमिन्द्रियदौर्बल्यात् स्यति त्यजतीति **दिधिषूः**, पुनर्भूर्वा । निपातनात् षत्वम् ॥

९४. म्रियते मारयति वा स **मरुत्**, मनुष्यजातिः पवनो वा । गिरति निगलतीति **गरुत्**, पक्षी वा ॥

९५. गिरति येन तत् **गर्मुत्**, सुवर्णं तृणजातिभेदो वा ॥

९६. हृष्यति तुष्टो भवतीति **हर्षुलः**, मृगः कामी वा ।

बाहुलकात्—चटति वर्षत्यावृणोति वा स **चटुलः**, शोभनो वा ॥

९७. आहरति गृह्णाति द्रव्यमिति **हरित्**, दिक् वर्णस्तृणमश्वविशेषो वा । सरति गच्छतीति **सरित्**, नदी वा । रोहति प्रादुर्भवतीति **रोहित्**, लताविशिष्टा हरिणी वा । 'युष' इति सौत्रो धातुः, अथवा 'जुष' इत्यस्य वर्णविकारेण पाठः[1] । [युष्यते] जुष्यते सेव्यते प्रीणयति वा सा **योषित्**, स्त्री वा ॥

९८. ताडयति पीडयतीति **तडित्**, विद्युद्वा । प्रत्ययलक्षणेन णिलोपे[2]ऽपि वृद्धिः स्यादिति लुग्विधीयते ॥

---

१. यथा 'प्र त्वा चरुरिव येषन्तम्' इत्यथर्वणि (४।७।४) प्रयुज्यते । सायणोऽत्र 'जेषृ प्रयत्ने इत्यस्य यकारादेशः, जेषन्तम्' इति व्याचख्यौ । प्रकृत्यन्तरनिर्देश एवेति मतं साधु ।

२. 'णेरनिटि' (अ० ६।४।५१) इत्यनेन णिलोपे इति भावः ।

शमेर्ढः ॥ ९९ ॥—शण्ढः ॥ ९९ ॥

कमेरठः ॥ १०० ॥—कमठः ॥ १०० ॥

रमेर्वृद्धिश्च ॥ १०१ ॥—रामठम् ॥ १०१ ॥

शमेः खः ॥ १०२ ॥—शङ्खः ॥ १०२ ॥

कणेष्ठः ॥ १०३ ॥—कण्ठः ॥ १०३ ॥

कलस्तृपश्च ॥ १०४ ॥—तृपला ॥ १०४ ॥

---

९९. शाम्यति शान्तो भवतीति **शण्ढः**[1], स्वतन्त्रो वृषभः 'सांड' इति प्रसिद्धः, नपुंसकं वा ॥

१००. कामयतेऽसौ **कमठः**, कच्छपो वा; **कमठमिति** भाण्डभेदो वा ।

बाहुलकात्—जीर्यत्यवस्थाहीनो भवतीति **जरठः**, पाण्डुरङ्गो वा । [शम्यतीति] **शमठः**, शान्तो वा ॥

१०१. रमतेऽस्मिन्निति **रामठं**, हिङ्गुर्वा । अठप्रत्यये 'रम'धातोर्वृद्धिः ॥

१०२. शाम्यतीति **शङ्खः**, निधिभेदः जलजं ललाटास्थि वा । बहुलवचनात् खकारस्येत्संज्ञा [ईनादेशश्च] न भवति ॥

१०३. कणति येन शब्दं करोतीति **कण्ठः**[2] गलो, ध्वनिर्वा ॥

१०४. 'तृप'धातोः कलप्रत्ययः । तृप्यति यया सा **तृपला**, लता वा । अत्र सूत्रे चकारग्रहणात् 'तृफ'धातोरपि कलप्रत्ययः, तेन **तृफला** इत्यपि सिद्धम् । [3]तृफला, त्रिफला इत्योषधिविशेषपर्यायौ ।

बाहुलकात्—काम्यतेऽसौ **कमलः**; **कमलं** पद्मं वा, उदकं ताम्रमौषधं च । मृगभेदः **कमलः**, **कमला** श्रीः पतिप्रिया[4] वा । मण्डति भूषयति प्रतिपादयति वा स **मण्डलः**; **मण्डलं** चक्राकारं देशभेदो बिम्बं कदम्बः कुष्ठं यज्ञभेदः श्वा च । कुण्डति दहतीति **कुण्डलम्**, वलयं पाशं कर्णभूषणं वा ।

---

१. बहुलवचनात् ढकारस्येत्संज्ञा, एयादेश, इडागमश्च न भवति ।

२. बहुलवचनाद् इत्संज्ञा न भवति ।

३. त्रिशब्दस्य 'तृ' रूपं 'तृच' शब्दे दृश्यते । त्रयाणामृचां समाहारस्तृचम् ।

४. वैयमुद्रितेषु 'श्रीपतिप्रिया' इत्येकपदत्वेन पठ्यते, सोऽपपाठः ।

शमेर्बश्च ॥ १०५ ॥—शबलः ॥ १०५ ॥

वृषादिभ्यश्चित् ॥ १०६ ॥—वृषलः ॥ १०६ ॥

कमेर्बुक् ॥ १०७ ॥—कम्बलः ॥ १०७ ॥

लङ्गेर्वृद्धिश्च ॥ १०८ ॥—लाङ्गलम् ॥ १०८ ॥

कुटिकशिकौतिभ्यो मुट् च ॥ १०९ ॥—कुट्मलम् । कश्मलम् । कोमलम् ॥ १०९ ॥

पटति गच्छतीति **पटलः** अक्षिरोगः, तिलकं वा । छयति छिनत्ति पराभिप्रायमिति **छलम्**, [व्याजो वा] इत्यादि ॥

१०५. शपत्याक्रोशति स **शबलः**, वर्णभेदो वा ॥

१०६. वृषादिधातुभ्यः कलप्रत्ययश्चिद् भवति । वर्षति सिञ्चतीति **वृषलः**, शूद्रो वा; तस्य स्त्री **वृषली** । कोशति श्लिष्यति व्यवहर्तुं जानातीति वा **कुशलः** निपुणः; **कुशलं** क्षेममिति वा । बाहुलकाद् गुणे **कोशलः** इति, देशभेदो वा । पलति गच्छति येन तत् **पललम्**, तिलचूर्णं पङ्कं मांसं वा । दीव्यत्यधर्मिणो विजिगीषतीति [1]**देवलः** धार्मिकः । सरति सर्वत्र गच्छतीति **सरलः** अकुटिलः, उदारो वा । धावति गच्छति शुद्धो भवति वा स **धवलः** श्वेतः, शुद्धो वा । 'धावु' धातोर्बाहुलकाद्ध्रस्वत्वम् । मुस्यति खण्डयति मोषयति चोरयति वा स **मुसलः**, **मुषलो** वा । **मुशलं**[2], **मुसलमिति** लोहाग्रभागिकुट्टनसाधनम् । **मुषलश्चौरो** वा । [3]**वृषादेराकृतिगणत्वात्—केवल-कबल-तरल-अनल-जम्भल-पेशल-मर्दलादयोऽपि** शब्दा द्रष्टव्याः ॥

१०७. काम्यतेऽभीप्स्यते यः स **कम्बलः** ऊर्णाविकारः, उदकं वा । 'कम' धातोः कलप्रत्यये बुक् [आगमः] ॥

१०८. लङ्गन्ति प्राप्नुवन्त्यन्नादिकं येन तत् **लाङ्गलम्**, हलं वा ।

बहुलवचनात्—कन्दत्याह्वयति सा **कदली** वृक्षभेदः, 'केला' इति प्रसिद्धा वा । बाहुलकाद्धातोर्नलोपः ॥

१०९. कुटादिभ्यो विहितस्य कलप्रत्ययस्य मुट् । कुटतीति **कुट्मलः**;

---

१. अयं शब्दः पूर्वत्र(१।५६)'देवृ देवने' इत्यस्माद् व्युत्पादितः (द्र०—पृष्ठ२४)।

२. ये तु 'मुश खण्डने' इति पठन्ति, तन्मतेऽयं शब्दो ज्ञेयः ।

३. वैयमुद्रितेवयं पाठोऽस्थाने दृश्यते ।

मृजेष्टिलोपश्च ॥ ११० ॥—मलम् ॥ ११० ॥

चुपेरच्चोपधायाः ॥ १११ ॥ चपलम् ॥ १११ ॥

शकिशम्योर्नित् ॥ ११२ ॥—शकलम् । शमलम् ॥ ११२ ॥

छो गुग्घ्रस्वश्च ॥ ११३ ॥—छगलः ॥ ११३ ॥

ञमन्ताड् डः ॥ ११४ ॥—दण्डः । रण्डा । खण्डः । मण्डः । बण्डः । अण्डः । षण्डः । गण्डः । चण्डः । पण्डः । पण्डा । [फण्डः] ॥ ११४ ॥

बाहुलकात् कुण्डति दहतीति **कुड्मलः**, किंचिद्विकसितपुष्पनाम्नी[1] वा । कष्टे गच्छति शास्ति वा स **कश्मलः कश्मलं**, कल्मषं पापं वा । कौति शब्दयतीति **कोमलः**, **कोमलं**, मृदु जलं वा ।

बाहुलकात्—पिङ्क्ते वर्णयतीति **पिङ्गलः**, वर्णभेदो वा ॥

११०. यन्मृज्यते शोध्यते तत् **मलम्**, पुरीषं पापं कृपणः पुरुषो वा । 'मृज'धातोष्टिलोपः ॥

१११. चोपति मन्दं मन्दं गच्छति स **चपलः**, क्षणिकं शीघ्रं वा; **चपला**, पिप्पली विद्युद्वा। धातोरुकारस्याकारादेशः ॥

११२. शक्नोतीति **शकलः**, खण्डो मत्स्यभेदो वा । शाम्यतीति **शमलः**, अशुद्धं वा ॥

११३. छ्यति छिनत्तीति **छगलः**, छागो वर्करो वा । धातोर्गुगागमो ह्रस्वश्च ॥

११४. ञमिति प्रत्याहारग्रहणम् । ञ, म, ङ, ण, न इत्येते वर्णा अन्ते यस्य तस्माड्डः प्रत्ययो भवति । बहुलवचनादित्संज्ञानिषेधः । दाम्यन्त्युपशाम्यन्त्यनेन स **दण्डः**, यष्टिभेदो वा । रमतेऽसौ **रण्डा**, विधवा नारी वा । खण्डतेऽवदीर्यतेऽसौ **खण्डः** विभागो, मिष्टभेदो वा 'खाण्ड' इति प्रसिद्धः, भिन्नः पदार्थो वा । मन्यते जानातीति **मण्डः** । '**मण्डा धात्री समाख्याता, मण्डं पक्वौदनोदकम्**'[2] [इति] । वनति शब्दयति सम्भजति वा स **वण्डः**,छिन्नहस्तको वा । अमन्ति संप्रयोगं प्राप्नुवन्ति येन सः **अण्डः**, प्राण्यङ्गावयवो वा । सनोति ददातीति **षण्डः**[3], नपुंसको वनं गोपः सङ्घातो वा ।

---

१. कुट्मलकुड्मलौ इत्येतौ । २. कस्यचित् कोशस्यानुपलब्धमूलं वचनम् ।

३. बाहुलकात् 'धात्वादेः षः सः' (अ० ६।१।६२) इति न प्रवर्तते ।

क्वादिभ्यः कित् ॥ ११५ ॥—कुण्डम् । काण्डम् । गुडः । घुण्डः ॥ ११५ ॥

स्थाचतिमृजेरालज्वालञालीयचः[1] ॥ ११६ ॥—स्थालम् । चात्वालः । मार्जालीयः ॥ ११६ ॥

पतिचण्डिभ्यामालञ् ॥ ११७ ॥—पातालम् । चण्डालः ॥ ११७ ॥

गच्छतीति **गण्डः** कपोलः, व्याधिविशेषो वा । चणति ददातीति **चण्डः**, हिंसकस्तीव्रो वा; कोपना स्त्री **चण्डी** । 'चडि कोपे' इत्यस्य घञन्तोऽपि **चण्डः** क्रोधी । पणायति व्यवहरति स्तौति वा स **पण्डः** नपुंसकः; **पण्डा** बुद्धिर्वा । फणति गच्छत्यत्रेति **फण्डः** पन्थाः; **फण्डम्**[2] उदरं वा ॥

११५. कवर्गादिधातुभ्यो डः किद् भवति । कुणति शब्दयत्युपकरोति वा स **कुण्डः**, पत्यौ जीवति पुरुषान्तरादुत्पन्नः पुत्रो जलाधारविशेषो वा । **कुण्डा** कुण्डिका वा । काम्यते जनैस्तत् **काण्डम्**, ग्रन्थैकदेशः परिमाणविशेषो वाणोऽवसरो वा । गवतेऽव्यक्तशब्दं करोतीति **गुडः**, गोल इक्षुपाको वा । घोणते भ्राम्यतीति **घुण्डः**, भ्रमरो वा ॥

११६. [तिष्ठतेरालच् ।] तिष्ठन्त्यस्मिन् तत् **स्थालम्**, पात्रभेदो वा 'थाल' इति प्रसिद्धम्; **स्थाली** सूपादिपचनी । **गौरादित्वात्** [अ० ४।१।४१] ङीष् । 'चत्'धातोर्वालञ्[3] । चतते याचतेऽसौ **चात्वालः**, **चात्वालं** यज्ञकुण्डं दर्भो वा । 'मृजे'रालीयच्[1] । मार्ष्टीति **मार्जालीयः**, विडालो वा ॥

११७. पतन्ति गच्छन्ति यत्र स **पातालः**, देश[विशेष]ः [वा]; पादस्य तले वर्तते इति वा **पातालः** । पृषोदरादित्वात् [अ० ६।३।१०८]

---

१. 'आलीयरः' इति श्वेतवनवासिनारायणदशपादीवृत्तिकाराः । भोजोऽपि 'मृजेरालीयर्' (स० क० २।३।१३) इत्येवासुसूत्रयत् । अयमेव च युक्तः पाठः, 'मार्जालीय'-शब्दे उपोत्तमस्योदात्तत्वदर्शनात् ।

२. यथोदरमन्नादि गच्छति प्राप्नोति, तथैव यत्र धनं संगृहीतं भवति, तदपि 'फण्ड' (Fund) इत्युच्यते ।

३. वालच्, बाहुलकवचनाद् धातोर्दीर्घ इति दशपादीवृत्तिकारः । 'चात्वाल' शब्दस्याद्युदात्तत्वदर्शनात् 'वालञ्' इत्येव युक्तः पाठः । ञित्त्वादेव च वृद्धिरपि सिद्ध्यति ।

तमिविशिविडिमृणिकुलिकपिपलिपञ्चिभ्यः कालन् ॥ ११८ ॥—तमालः। विशालः। विडालः। मृणालम्। कुलालः। कपालम्। पलालम्। पञ्चालः॥ ११८॥

पतेरङ्गच् पक्षिणि ॥ ११९ ॥—पतङ्गः॥ ११९॥

तरत्यादिभ्यश्च ॥ १२० ॥—तरङ्गः। लवङ्गः॥ १२०॥

सिद्धः। चण्डति कुप्यतीति **चण्डालः**[1], मातङ्गो वा; चण्डं कुपितमलं भूषणमस्येति समासेऽपि **चण्डालः** सिद्धः॥

११८. ताम्यन्ति काङ्क्षन्ति यं स **तमालः**, वृक्षभेदो वा। विशति सर्वत्रेति **विशालः**।

'विशाला मानिनी भार्या विशालः सुन्दरः पुमान्।
विशालोज्जयिनी प्रोक्ता विशालं च बृहद् गृहम्॥'[2] [इति॥]

विडत्याक्रोशतीति **विडालः**, मार्जारो वा; स्त्री **विडाली**। मृणति हिनस्तीति **मृणालः**, **मृणालं** पद्ममूलं वा। कोलति सङ्घातयतीति **कुलालः**, कुम्भकारो वा। कम्पते येन तत् **कपालम्**, नृशिरो घटखण्डो वा। पल्यते प्राप्यतेऽसौ **पलालः**, निष्फलानि व्रीहितृणानि वा 'पियार' इति प्रसिद्धम्। पञ्चति व्यक्तं करोतीति **पञ्चालः**[3], देशविशेषो वा।

बहुलवचनात्—'शो'धातोरपि कालन्। श्यन्ति सूक्ष्माणि कार्याणि कुर्वन्त्यत्र सा **शाला**, गृहम् [वा]॥

११९. पक्षिण्यभिधेये 'पत'धातोरङ्गच् प्रत्ययो भवति। पतति गच्छतीति **पतङ्गः** पक्षी। पक्षिणीत्युच्यमानेऽपि बाहुलकात्—'**पतङ्गः** सूर्योऽग्निरश्वः शलभः शालिभेदो वा' इत्यादीनामपि नामानि भवन्ति॥

१२०. तरति प्लवत्यनेन स **तरङ्गः**, जलोर्मिर्वस्त्रं भङ्गा वा। लुनात्यनेन स **लवङ्गः**, ओषधिर्वा। **तरत्याद्याकृतिगणः**॥

---

१. चण्डाल एव चाण्डालः, 'अण्प्रकरणे कुलालवरुड०' (अ० ५।४।३६) इत्यादिवार्तिकेण स्वार्थेऽण् प्रत्ययः।

२. विश्वनाम्नि कोशे लान्ते ११८।

३. पञ्चभ्योऽलमिति व्युत्पत्त्यन्तरम्।

विडादिभ्यः कित् ॥ १२१ ॥—विडङ्गः । मृदङ्गः । कुरङ्गः ॥ १२१ ॥

सृवृञोर्वृद्धिश्च ॥ १२२ ॥—सारङ्गः । वारङ्गः ॥ १२२ ॥

गन् गम्यद्योः ॥ १२३ ॥—गङ्गा । अद्गः ॥ १२३ ॥

छापूखडिभ्यः कित्[1] ॥ १२४ ॥—छागः । पूगः । खड्गः ॥ १२४ ॥

भृञः किन्नुट् च ॥ १२५ ॥—भृङ्गः ॥ १२५ ॥

---

१२१. विडत्याक्रोशतीति **विडङ्गः**, ओषधिविशेषो वा । मृद्नाति यं स **मृदङ्गः**, वाद्यभेदो वा । किरति विक्षिपतीति **कुरङ्गः**, हरिणो वा; कुरङ्गी हरिणी । स्त्रियां **गौरादित्वात्** [अ० ४।१।४१] ङीष् । बाहुलकाद् ऋकारस्योत्वं रपरत्वं च ॥

१२२. सृवृञ्भ्यामङ्गच् धातोर्वृद्धिश्च । सरति सर्वत्र गच्छतीति **सारङ्गः**, पक्षी हरिणो भृङ्गो वा । यो वृणोति गृह्णाति स **वारङ्गः**, खड्गादि-मुष्टिर्वा ।

बाहुलकात्—नृणाति नयति स **नारङ्गः**, रसः पिप्पलीवृक्षः फलभेदो वा ॥

१२३. गच्छतीति **गङ्गा**, नदीभेदो वा । अत्ति वाऽद्यते भक्ष्यतेऽसौ **अद्गः**, पुरोडाशो वा ।

बाहुलकात्—'अम गत्यादिषु' इत्यस्मादपि गन् । [अमति] गच्छति प्राप्नोति कर्माणि विषयान् वा येन तत् **अङ्गम्**, गात्रमुपायः प्रतीकमप्रधानं देशविशेषो वा ॥

१२४. छादिभ्यो गन् किद् भवति । छिनत्तीति **छागः**, बर्करो वा । पूयते मुखं येन स **पूगः**, क्रमुकः फलविशेषः 'सुपारी' इति प्रसिद्धः, समूहो वा । खडति भिनत्ति येन स **खड्गः** शस्त्रं, गण्डकः 'गेंडा' इति प्रसिद्धः ।

बाहुलकात्—सेटत्यनाद्रियते स **षिड्गः**, चञ्चलमना हारमध्यस्थो मणिर्वा । बहुलवचनादेव सत्वनिषेधः ॥

१२५. भृञ्धातोर्गन् प्रत्ययः कित् तस्य च नुट् । बिभर्त्ति धरति पुष्यति वा स **भृङ्गः**, भ्रमरो वा ॥

---

१. नारायणश्वेतवनवासिनौ सूत्रमिदं पञ्चमे पादे पेठतुः । दशपाद्यामपि क्रमभेदेन दृश्यते । उत्तरसूत्रे (१।१२५) पुनः 'कित्' ग्रहणादस्थाने इदं सूत्रमिति स्पष्टम् । उज्ज्वलदत्तस्तु विस्पष्टार्थमाह ।

शृणातेर्ह्रस्वश्च ॥ १२६ ॥—शृङ्गः ॥ १२६ ॥

गण् शकुनौ ॥ १२७ ॥—शार्ङ्गः ॥ १२७ ॥

मुदिग्रोर्गग्गौ ॥ १२८ ॥—मुद्गः । गर्गः ॥ १२८ ॥

अण्डन् कृसृभृवृञः ॥ १२९ ॥—करण्डः । सरण्डः । भरण्डः । वरण्डः ॥ १२९ ॥

शृदृभसोऽदिः ॥ १३० ॥—शरत् । दरत् । भसत् ॥ १३० ॥

---

१२६. कित् नुट् चेत्यनुवर्त्तते । शृणाति हिनस्ति येन तत् **शृङ्गम्**, विषाणं पर्वताग्रं मत्स्यभेद ओषधिभेदः सुवर्णभेदो वा ॥

१२७. गणप्रत्ययस्य णित्त्वाद्धातोर्वृद्धि पूर्ववन्नुट् च । शृणातीति **शार्ङ्गः**, पक्षी [वा]; बाहुलकात् प्रत्ययस्यादावकारागमेन **शारङ्गः** इत्यपि सिद्धं भवति ॥

१२८. 'मुद'धातोर्गक् । मोदतेऽसौ **मुद्गः**, अन्नभेदो वा । मुद्गान् लाति गृह्णातीति '**मुद्गलो**' मुनिः, यस्य गोत्रापत्यं'**मौद्गल्यः**' इति प्रसिद्धम् । 'गृ'धातोर्गः प्रत्ययः । गृणात्युपदिशतीति **गर्गः**, ऋषिविशेषो वा ॥

१२९. कृञादिभ्योऽण्डन् प्रत्ययः । क्रियतेऽसौ **करण्डः** पुष्पभाण्डभेदः, **करण्डो** वंशविकारपात्रम्, 'पिटारी' इति प्रसिद्धा । सरति गच्छतीति **सरण्डः**, पक्षी वा । बिभर्त्ति पुष्यतीति **भरण्डः** स्वामी । वृणोति स्वीकरोतीति **वरण्डः** मुखरोगः, सन्दोहो वा ।

बाहुलकात्—तरति येन स **तरण्डः**, जलतरणसाधनं वा । वनति संभजति धर्ममिति **वतण्डः**, ऋषिविशेषो वा । धातोस्तकारान्तादेशः । छमति भक्षयतीति **छमण्डः**, मातापितृशून्यो वा । शेतेऽसौ **शयण्डः**, विषयो वा । इत्यादयः शब्दा बहुलवचनादेव सिद्धा भवन्ति ॥

१३०. शृदृभसधातुभ्योऽदिः प्रत्ययः । शृणाति हिनस्त्यस्मिन्निति **शरत्**, कालविशेष ऋतुर्वा । दीर्यतेऽसौ **दरत्**, हृदयं कूलं वा । बभस्ति भर्त्सयति[1] प्रकाशते वा स **भसत्**, जघनं वा ।

बाहुलकात्—पर्षति स्निह्यति प्रीतिकरं प्रसन्नं भवति चित्तमस्यां सा **पर्षत्**, सभा समाजो वा ॥

---

१. 'भस भर्त्सनदीप्त्योः' इति नवीनोऽर्थः । तदुक्तं वृत्तिकारेण स्वीये ऋग्भाष्ये (१।२८।७) 'भक्षण इति तु प्राचीनोऽर्थः' इति । अत्र निरुक्तम् ५।१२ अप्यनुसंधेयम् ।

दृणातेः षुग्घ्रस्वश्च ॥ १३१ ॥—दृषत् ॥ १३१ ॥

त्यजितनियजिभ्यो डित् ॥ १३२ ॥—त्यद् । तद् । यद् ॥ १३२ ॥

एतेस्तुट् च ॥ १३३ ॥ एतद् ॥ १३३ ॥

सर्त्तेरटिः ॥ १३४ ॥—सरट् ॥ १३४ ॥

लङ्घेर्नलोपश्च ॥ १३५ ॥—लघट् ॥ १३५ ॥

पारयतेरजिः ॥ १३६ ॥—पारक् ॥ १३६ ॥

प्रथेः कित्सम्प्रसारणं च ॥ १३७ ॥—पृथक् ॥ १३७ ॥

भियः षुग्घ्रस्वश्च ॥ १३८ ॥—भिषक् ॥ १३८ ॥

---

१३१. दीर्यतेऽसौ दृषत्, पाषाणो वा । अदिप्रत्यये धातोर्ह्रस्वः षुगागमश्च भवति ॥

१३२. त्यजति क्लेशादिहीनो भवतीति त्यद् । तनुते विस्तृतो भवतीति तद् । यजति सर्वैः पदार्थैः सङ्गतो भवतीति यद् । ब्रह्मणो नामानि त्रयाणि[1] । त्यदादीनां सर्वनामसञ्ज्ञा भवति, तेन सामान्यवाचकास्त्यदादयः ॥

१३३. 'इण्'धातोरदिः प्रत्ययस्तस्य तुडागमश्च । एति प्राप्नोतीति एतत् । अस्यापि सर्वनामसञ्ज्ञा ॥

१३४. सरति गच्छतीति सरट्, वायुर्मेघो वा । 'सृ'धातोरटिः प्रत्ययः ॥

१३५. लङ्घति शोषयतीति लघट्, वायुर्वा । धातोर्नलोपः ॥

१३६. पारयति कर्म समापयतीति पारक्, सुवर्णं वा । चौरादिकात् 'पारि'धातोरजिः प्रत्ययः ॥

१३७. प्रथयति सङ्घाताद् विस्तृतो भवतीति पृथक्, नानात्वं वा । स्वरादिपाठाद् (अ० १।१।३६) अव्ययत्वम् ॥

१३८. बिभेत्यसौ भिषक्, वैद्यो वा । 'सुमङ्गलभेषजाच्च' (अ० ४।१।३०) इति निपातनाद् गुणे कृते भेषजम् । भेषजमेव भैषज्यम्[2] ॥

---

१. नैवेदमवयवार्थकमयजन्तम् (अ० ५।२।४३), किं तर्हि त्रिसमानार्थकं प्रकृत्यन्तरम् । तथा च प्रयोगः—'धामानि त्रयाणि भवन्ति' (निरु० ९।२८) ।

२. 'अनन्तावसथेतिहभेषजाञ्ञ्यः' (अ० ५।४।२३) इति स्वार्थे ञ्यः प्रत्ययः ।

युष्यसिभ्यां मदिक् ॥ १३९ ॥—युष्मद् । अस्मद् ॥ १३९ ॥

अर्त्तिस्तुसुहुसृधृक्षिक्षुभायावापदियक्षिनीभ्यो मन् ॥ १४० ॥—अर्मः । स्तोमः । सोमः । होमः । सर्मः । धर्मः । क्षेमम् । क्षोमम् । भामः । यामः । वामः । पद्मम् । यक्ष्मः । नेमः ॥ १४० ॥

जहातेः सन्वदाकारलोपश्च ॥ १४१ ॥—जिह्मः ॥ १४१ ॥

अवतेष्टिलोपश्च ॥ १४२ ॥—ओम् ॥ १४२ ॥

---

१३९. योषति सेवतेऽसौ **युष्मद्** । 'युष' सौत्रो धातुः । अस्यति प्रक्षिपत्यन्यमिति **अस्मद्** । सर्वनामवाचकाविमौ ॥

१४०. ऋच्छति प्राप्नोति सः **अर्मः**, चक्षूरोगो वा । स्तौति येन स **स्तोमः**, सङ्घातो वा । सवत्यैश्वर्यहेतुर्भवतीति **सोमः**, कर्पूरश्चन्द्रमा वा । हूयते दीयतेऽसौ **होमः**, यज्ञो वा । स्रियते गम्यते स **सर्मः**, गमनम् [वा] । ध्रियते सुखप्राप्तये सेव्यते स **धर्मः**, पक्षपातरहितो न्यायः सत्याचारो वा । क्षयत्यज्ञानं नाशयतीति **क्षेमम्**, कुशलं वा । क्षौति शब्दयतीति **क्षोमम्**, वस्त्रभेदो वा; दुकूलम् अतसीकुसुमं च । भाति प्रकाशतेऽसौ **भामः**, क्रोधः सूर्यो दीप्तिर्वा । यायते प्राप्यते स **यामः**, प्रहरो वा । वाति गच्छति [1]गन्धनं वा गृह्णातीति **वामः**, शोभनः दुष्टः[2] पार्श्वभेदो वा । पद्यते प्राप्नोतीति **पद्मं**, कमलं निधिः[3] शङ्खो वा । यक्षयते पूजयतीति **यक्ष्मः**, राजरोगो वा । नयतीति **नेमः**, प्राकारमूलं वा; अर्द्धवाची तु सर्वनामसञ्ज्ञकः ॥

१४१. मनित्यनुवर्तते । जहाति त्यजतीति **जिह्मः**, कुटिलो मन्दो वा ॥

१४२. मन्प्रत्ययस्य टिलोपो धातोरुपधावकारयो[4]रूठ् ।

---

१. वैयमुद्रिते 'ग्रन्थं' इत्यपपाठः ।

२. गन्धनं हिंसनम्, अपकारप्रयुक्तं सूचनम् । तत्कारी दुष्टः ।

३. कमलवाची पद्मशब्दो नपुंसकलिङ्गः, निधिशङ्खवाची तु पुंल्लिङ्ग इति शाब्दिकाः । वृत्तिकारोऽयमर्धर्चादिषु पठितानामर्थभेदन पुंनपुंसकतेति न स्वीकरोति । द्र०—पूर्वत्र १।३७ सूत्रवृत्तौ मित्रयुपदस्य व्युत्पत्तिः, तत्रस्था २ टिप्पणी च (पृष्ठ १८) । एवमुत्तरत्र ४।१६४ सूत्रमित्रशब्दस्य व्याख्यानम् ।

४. दशपादीवृत्तिकारस्तु द्वयोः स्थानिनोर्द्वावूठौ विधाय सवर्णदीर्घत्वमाह (द० उ० ७।२७) । इदं च वृत्यन्तरकारमतानुसारम् । भाष्येऽप्ययं पक्ष उपन्यस्तः—'स्तां द्वावूठौ नास्ति दोषः, सवर्णदीर्घत्वेन सिद्धम्' (अ० ६।१।८४) इति ।

ग्रसेरा च ॥ १४३ ॥—ग्रामः ॥ १४३ ॥

अविसिविसिशुषिभ्यः कित् ॥ १४४ ॥—ऊमम् । स्यूमः । सिमः । शुष्मम् ॥ १४४ ॥

अवति[1] रक्षादिकं करोतीति **ओम्**, प्रणव आरम्भोऽनुमतिर्वा । **चादिषु** (अ० १।४।५७) पाठादस्याव्ययत्वम्[2] ॥

१४३. मन् । ग्रसतेऽत्ति यो वा ग्रस्यते स **ग्रामः**, शालासमुदायः प्राणिनिवासो[3] वा; **सङ्ग्रामो** युद्धं वा । शालीनां ग्रामः समूहः '**शालिग्रामः**', एवं **शब्दग्रामः**[4] । **ग्रामो** गानविद्यायां स्वरभेदश्च ॥

१४४. मन् कित् । अवति रक्षणादिकं भवति यत्र तत् **ऊमम्**[5], नगरं

---

१. अत्र 'को धातुरिति ? आपृधातुः, अवतिमप्येके । रूपसामान्यादर्थ-सामान्याद् [आपृधातुर्] नेदीयः, तस्मादाप्नोतेरोङ्कारः, सर्वमाप्नोतीत्यर्थः' इति गोपथब्राह्मणम् (१।१।२६) अनुसन्धेयम् ।

२. अस्यायं भावः—चादिषु पाठान्निपातसंज्ञा, निपातत्वाच्चाव्ययत्वम् । उज्ज्वलदत्तोऽपि चादित्वादव्ययमित्याह । भट्टोजिदीक्षितः उज्ज्वलदत्तस्य वचनं निराकुर्वन्नाह—'तन्न । तेषामसत्त्वार्थत्वात् । वस्तुतस्तु स्वरादिपाठादव्ययत्वमिति (प्रौढमनोरमा) । इदं च प्रत्याख्यानं प्रणववाचकस्य ब्रह्मणो नाम्नो ज्ञेयम् (आरम्भानुमत्योस्त्वसत्त्ववाचित्वमस्त्येव) । वस्तुतो दीक्षितवचनं गोपथब्राह्मणविरोधात् त्याज्यमेव । तथा चोक्तम्—'निपातेषु चैनं वैयाकरणा उदात्तं समामनन्ति' (गो० १।१।२६) इति । निपातत्वं तु चादित्वादेव सम्भवति ।

३. ग्रामशब्दार्थमाह पतञ्जलिः—'ग्रामशब्दोऽयं बह्वर्थः । अस्त्येव शालासमुदाये वर्तते । तद्यथा—ग्रामो दग्ध इति । अस्ति वाटपरिक्षेपे (गांव भाटा इति मारवाड़ी-भाषायाम्) । तद्यथा—ग्रामं प्रविष्ट इति । अस्ति मनुष्येषु वर्तते । तद्यथा—ग्रामो गतः, ग्राम आगत इति । अस्ति सारण्यके ससीमके सस्थण्डिले वर्तते । तद्यथा—ग्रामो लब्ध इति ।' महा० १।१।७॥

४. 'शब्दग्रामः' इत्यत्र समूहे ग्रामच् प्रत्ययोऽपि भवति । तदुक्तम्—'गुणादिभ्यो ग्रामज् वक्तव्यः । अ० ४।१।३७ वा० ॥

५. वृत्तिकारः स्वीय ऋग्भाष्ये (१।३।७) 'ओमासः' पदव्याख्यानेऽनेन सूत्रेण 'ओम' ओकारादिरकारान्तं साधितवान् । तस्यायं भावः कित्त्वात् 'ज्वरत्वर०' (अ० ६।४।२०) इत्यनेनोठि बाहुलकाद् गुणो भवति । द्र०—ऋग्भाष्य १।३।७ भाग १, पृष्ठ ४८४, टि० २, रालाकटूसं० ।

इषियुधीन्धिदसिश्याधूसूभ्यो मक् ॥ १४५ ॥—इष्मः । युध्मः । इध्मः । दस्मः । श्यामः । धूमः । सूमः ॥ १४५ ॥

युजिरुचितिजां कुश्च ॥ १४६ ॥—युग्मम् । रुक्मम् । तिग्मम् ॥ १४६ ॥

हन्तेर्हि च ॥ १४७ ॥—हिमम् ॥ १४७ ॥

वा; टापि कृते बाहुलकाद् ध्रस्वे च **'उमा'**, [अतसी] विशिष्टा स्त्री वा। सीव्यति तन्तून् संतनोतीति **स्यूमः**, रश्मिर्वा। सिनोति बध्नातीति **सिमः**, सर्वनामसंज्ञः सर्वपर्य्यायः । शुष्यति निस्सारं करोतीति **शुष्मम्**, अग्निर्वायुर्वा ॥

१४५. य इच्छति य इष्यते [वा] स **इष्मः**, कामो वसन्त ऋतुर्वा । युध्यते यो येन वा स **युध्मः**, वाणो वा । य इन्धे दीप्यते वा येनेन्धे स **इध्मः**, समिधः[1] [वा] । दस्यत्युपक्षयति दुःखयति वा स **दस्मः**, यजमानो वा । श्यायति गच्छति प्राप्नोति वा स **श्यामः**, हरितः कृष्णो वा; अप्रसूता स्त्री **'श्यामा'** लतौषधी वा, इत्यादि । धूनोति कम्पयतीति **धूमः**, अग्निसम्भवो वा । सूते जनयति प्राणिगर्भं विमुञ्चतीति **सूमः**, अन्तरिक्षं वा ।

बाहुलकात्—ईर्त्ते गच्छति कम्पते वा तत् **ईर्मम्**, व्रणं वा । क्षौति शब्दयतीति सा **क्षुमा**[2], अतसी वा । जजन्ति जायते तत् **जन्म**, उत्पत्तिर्वा, [इत्यादि] ॥

१४६. मक् । युज्यते तत् **युग्मम्**, द्वयोरेककर्मणि सम्बन्धः । रोचते प्रदीप्तवर्णो भवति स **रुक्मः**, वर्णभेदो वा; तद्वर्णयोगाद् **रुक्मं** सुवर्णम्; रुक्मो वर्णोऽस्यास्तीति **'रुक्मिणी'**[3] स्त्री । तेजते छिनत्तीति **तिग्मम्**, तीक्ष्णम् [वा] । विशेष्यलिङ्गोऽयं शब्दः—**तिग्मा** धीः; **तिग्मः** तीव्रो वा ॥

१४७. मक् । हन्त्युष्णं दुर्गंधि वा तत् **हिमम्**, हेमन्त ऋतुस्तुषारश्चन्दनं वा; महत् हिमं **'हिमानी'** । ङीष् आनुक्[4] [च] ॥

---

१. वैयमुद्रिते 'समिद्धः' इत्यपपाठः ।

२. क्षुमाया विकारः क्षौमम्, अण्प्रत्ययः । 'क्षौमम्' इति पूर्वत्र-(उ० १।१४०) अपि व्युत्पादितम् ।

३. 'अत इनिठनौ' (अ० ५।२।११५) इति मत्वर्थे इनिः, स्त्रियां 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (अ० ४।१।५) इति ङीप् ।

४. 'इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्य०' (अ० ४।१।४९) इत्यत्र वार्तिकम्—

भियः षुग् वा ॥ १४८ ॥—भीमः । भीष्मः ॥ १४८ ॥

घर्मग्रीष्मौ ॥ १४९ ॥

प्रथेः षिवन्षवन्ष्वनः संप्रसारणं च ॥ १५० ॥—पृथिवी । पृथवी । पृथ्वी ॥ १५० ॥

अशूप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः कन् ॥ १५१ ॥—अश्वः । प्रुष्वः । लट्वा । कण्वम् । खट्वा । विश्वः ॥ १५१ ॥

---

१४८. विभेति विभ्यति या यस्मात् यस्या वा स **भीमः**, **भीमा** वा; **भीष्मः**, **भीष्मा** वा । **भीमो** भयानकः, पाण्डुपुत्रो वा । भीमा भयानका सेना यस्य स '**भीमसेनः**', एवं '**भीष्मसेनः**' वा ॥

१४९. मक्प्रत्ययान्तौ निपात्येते । जिघर्त्ति क्षरति नश्यति दीप्यते वा प्राणिनो जगद्वा येन स **घर्मः**, यज्ञ आतपो ग्रीष्म ऋतुः स्वेदो वा । ग्रसते शीतं रसादिकं वा स **ग्रीष्मः**, अत्युष्णकालो वा । 'ग्रस'धातोर्ग्रीभावः षुगामश्च निपातनात् ॥

१५०. प्रथते विस्तीर्णा भवतीति **पृथिवी, पृथवी, पृथ्वी**, भूमिरन्तरिक्षं वा । इत्येकार्थास्त्रयः ॥

१५१. अश्नुते व्याप्नोतीति **अश्वः**, तुरङ्गो वह्निर्वा; **अजादि**-पाठात् (द्र०–अ०४।१।४) स्त्रियाम् **अश्वा** । यः प्रुष्णाति स्निह्यति सिञ्चति पूरयति वा स **प्रुष्वः**, ऋतुः सूर्य्यो वा । लटति बाल इव भवति सा **लट्वा**, नियतस्त्रीलिङ्गः, करञ्जभेदः फलं वाद्यं पक्षिभेदो वा । कणति निमीलति चेष्टतेऽसौ **कण्वः**, **कण्वं** पापं, **कण्वो** मुनिर्वा, येनादावध्यापिता **काण्वी** शाखेति प्रसिद्धा वा । खट्यते काङ्क्ष्यते या सा **खट्वा**, शय्याभेदो वा । विशति सर्वत्र स **विश्वः**, **विश्वं** जगत्, **विश्वा** अतिविषा[1] वा । सर्वादिपाठात् सर्वनामसंज्ञश्च ॥

'हिमारण्ययोर्महत्त्वे' इत्यनेन महत्त्वे ङीबानुक् च । महत्त्वमत्र घनत्वमभिप्रेतम्, न विस्तारः । तेन यद् हिमं सर्वकालं तिष्ठति, न विलयं याति तद् 'हिमानी' इत्युच्यते । एवमेव महदरण्यमर्थाद् अत्यन्तं घनमरण्यं यत्र हिंस्राः पशवः शरणं गच्छन्ति तद् 'अरण्यानी' इत्युच्यते । तयैवावरण्यं रक्ष्यते । अत एव निरुक्तकारः 'अरण्यानी अरण्यस्य पत्नी' (निरुक्त ९।२९) इत्याह ।

१. विश्वा शुण्ठी अप्युच्यते ।

इण्शीभ्यां वन् ॥ १५२ ॥—एवः । शेवः ॥ १५२ ॥

सर्वनिघृष्वरिष्वलष्वशिवपट्वप्रह्वेष्वा अतन्त्रे ॥ १५३ ॥

शेवायह्वजिह्वाग्रीवाऽप्वामीवाः ॥ १५४ ॥

---

१५२. एति प्राप्नोतीति **एवः**; बाहुलकात् एव इत्यवधारणेऽव्ययम् । शेतेऽसौ **शेवः**, सुखं मेढ्रं वा ॥

१५३. सर्वादयो वन्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । सरतीति **सर्वः**[1], संपूर्णवाची सर्वनामसंज्ञी विशेषणम् । नितरां घर्षति पिनष्टीति **निघृष्वः**, खुरं वा । गुणाभावः । रेषति हिनस्तीति **रिष्वः** हिंसकः । लषति कामयतेऽसौ **लष्वः**, नर्त्तको वा । शेतेऽसौ **शिवः**[2]; **शिव** ईश्वरः; **शिवं** भद्रं सुखमुदकं च; '**शिवा**' हरीतकी । धातोर्ह्रस्वत्वम्[3] । पटचन्ते गच्छन्त्यत्रेति **पट्वः**, भूलोको वा । प्रजहाति त्यजति स **प्रह्वः**, नम्रो वा । अकारलोपे निपातनम् । ईषते हिनस्त्यज्ञानमिति **ईष्वः**[4], आचार्यो वा । 'अतन्त्र'[5] इति किम् ? सर्त्ता सारक इत्यादि । सूत्रेषु पठिताः सर्वादिशब्दा यौगिका मा भूवन् ।

बाहुलकात्—ह्लसति शब्दयतीति **ह्लस्वः**, वामन एकमात्रो वर्णो वा ॥

१५४. शेवादयो वन्नन्ता निपात्यन्ते । शेतेऽसौ **शेवा**[6], लिङ्गाकृतिर्वा।

---

१. अयमन्तोदात्तो निपात्यते । द्र०—कैयट ४।१।१॥ श्वेत० १।१३९॥

२. अयमप्यन्तोदात्तो निपात्यते ।

३. देवराजोऽगुणत्वमपि निपातनादिच्छति (द्र०—निघण्टुटीका ३।६) । तन्न, ह्रस्वत्वविधानसामर्थ्यादेव तस्य सिद्धेः । यदि गुण इष्टो भवेत्, ह्रस्वत्वनिपातनं व्यर्थं स्यात् । यास्कस्तु शिप्यतेः शिवमाह (निरु० १०।१७) ।

४. केचन श्वेतवनवासिदशपादीवृत्तिकारादयः 'इष्व' इति ह्रस्वेकारवन्त शब्दं निपातयन्ति । संहिताया उभयथाऽपि तुल्यत्वाद् उभयमपि प्रमाणम् ।

५. अन्ये वृत्तिकारा 'अतन्त्रे' इत्यस्य 'अकर्तरि' अर्थमाहुः । तेन सर्वादयो कर्तरि न भवन्ति । अयं वृत्तिकारः सर्वादीन् कर्तर्येव निपातनमिच्छतीति तदीयव्युत्पत्तिभिः स्पष्टमवगम्यते । श्वेतवनवासी त्वाह—'अतन्त्रे अप्रधाने परतन्त्रे । एषां वाच्यस्यान्यं प्रति गुणत्वे इत्यर्थः' (द्र०—उ० वृ० १।१३९) इति । वृत्त्यन्ते चाह—'प्रायिकमतन्त्रग्रहणम् । शिवशब्देन स्वतन्त्रस्येश्वरस्याप्युपादानात्' इति ।

६. बाहुलकात् पुंल्लिङ्गोऽपि । तेन 'शेव' इति सुखनाम (निघं० ३।६) इत्यपि

कृगृशृदृभ्यो वः ॥ १५५ ॥—कर्वः । गर्वः । शर्वः । दर्वः ॥ १५५ ॥

कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः ॥ १५६ ॥—युवा । वृषा । तक्षा । राजा । धन्वा । द्युवा । प्रतिदिवा ॥ १५६ ॥

यजतीति यह्वः[1], यजमानो वा । जकारस्य हकारः । जयति यया सा जिह्वा, इन्द्रियं वा । धातोर्हुक् । निगलति यया सा ग्रीवा, शरीराङ्गं वा । धातोर्ग्रीभावः । आप्नोति यया सा अप्वा[2], कण्ठस्थानं वा । [धातोर्ह्रस्वत्वम् ।] मीनाति हिनस्तीति मीवः[3], उदरकृमिर्वा । [गुणाभावो निपात्यते] ॥

१५५. किरति विक्षिपति चित्तमिति कर्वः, कामो वा । गिरतीति गर्वः, अहङ्कारो वा । शृणाति दुःखमिति शर्वः परमेश्वरः, सुखं वा । दृणाति विदारयति प्राणिन इति दर्वः, हिंसको जनो वा ॥

१५६. यौति मिश्रयत्यमिश्रयति वा स युवा, मध्यावस्थस्तरुणो जनो वा । वर्षतीति वृषा, सूर्यो वा । तक्षति तनूकरोति स तक्षा, वर्धकिर्वा । राजते प्राप्तो भवतीति राजा, भूपतिश्चन्द्रमा वा । धन्वति गच्छतीति धन्वा, बाणक्षेपणं वा । द्यौत्यभिगच्छतीति द्युवा, सूर्यो वा । प्रतिदीव्यन्ति यस्मिन् स प्रतिदिवा, दिवसो वा; बहुलवचनात् केवलादपि 'दिव'धातोः कनिन् ।

सिद्ध्यति । यास्कस्तु शिष्यतेरित्याह (निरु० १०।१७)। दशपादीवृत्तिकारस्तु 'शेव' इत्येव निपातनमिच्छति (द्र०–द० उ० वृ० ८।१२८) ।

१. निघण्टौ (३।३) 'यह्वः' इति महन्नामसु पठ्यते । दशपादीवृत्तिकारस्तु 'यह्वा' इति स्त्रीलिङ्गं निपातयति (द्र०–द० उ० वृ० ८।१२८) भट्टोजिदीक्षितस्तु दशपाद्यां तद्वृत्तौ च 'यह्वः' इत्येव पाठं मनुते । द्र०–प्रौढम० पृष्ठ ७६२ ।

२. उज्ज्वलदत्तदशपादीवृत्तिकारादयः 'आप्वा' इति निपातयन्ति । संहितायास्तूभयथाऽपि तुल्यत्वम् । अन्ये केचन 'अप्वा' इत्येवेच्छन्ति ।

३. उज्ज्वलदत्तः 'मीवः' इत्येव निपातयति । दशपादीवृत्तिकारस्तु 'मीवा' इति। तदुक्तम्—'डुमिञ् प्रक्षेपणे सौ० । अस्य दीर्घत्वं निपात्यते । मीयत इति मीवा—वायुः । कर्म ।' (८।१२८) इति ।

श्वेतवनवास्यादयस्तु नञ्पूर्वान्मीञ् हिंसायाम् धातोः 'अमीवा' इति व्युत्पादयन्ति । युक्तं चैतत्, लोकवेदयोः 'अमीवा' शब्दस्य प्रसिद्धत्वात् । आङ्ग्लभाषायामपि 'अमीवा' (Amoeba) इति क्षुद्रजन्तुरुच्यते । 'अमीवा देवाश्वाः' इति निरुक्तम् (१२।४३) ।

सप्यशूभ्यां तुट् च ॥ १५७ ॥—सप्त । अष्ट ॥ १५७ ॥

नञि जहातेः ॥ १५८ ॥—अहः ॥ १५८ ॥

[1]श्वन्नुक्षन्पूषन्प्लीहन्क्लेदन्स्नेहन्मूर्धन्मज्जन्नर्यमन्विश्वप्सन्परिज्वन्[2]मातरिश्वन्मघवन्निति ॥ १५९ ॥—श्वा । उक्षा । पूषा । प्लीहा । क्लेदा ।

तेन दिवा, दिवानौ इत्याद्यपि सिद्धम्[3] ॥

१५७. सपति समवैतीति सप्तन्, संख्याभेदो वा । अश्नुते व्याप्नोतीति अष्टन्, संख्या वा ।

बाहुलकात्—पञ्चति व्यक्तीकरोतीति पञ्चन्, संख्यावाचको वा । दशतीति दशन्, संख्याविशेषो वा । नौतीति नवन्, संख्या वा । बाहुलकाद् गुणः ॥

१५८. जहाति त्यजति पृथक्करोत्यन्धकारमिति अहः दिनम् ॥

१५९. श्वनादयस्त्रयोदश शब्दाः कनिनन्ता निपात्यन्ते । श्वयति गच्छति वर्द्धतेऽसौ श्वा, कुक्कुरो वा; स्त्रियां ङीष् 'शुनी' । उक्षति सिञ्चतीति उक्षा, बलीवर्दो वा । पूषति[4] वर्धतेऽसौ पूषा[5], सूर्यो वायुर्वा । प्लिह्यते प्राप्यतेऽन्तरिति प्लीहा, कुक्षिव्याधिर्वा । धातोरुपधादीर्घत्वम् । क्लिद्यत्यार्द्रीभवतीति क्लेदा, चन्द्रमा वा । धातोर्गुणः । स्निह्यति प्रीतिं करोतीति स्नेहा, व्याधिर्वा । धातोर्गुणः । मूर्वति बध्नाति स मूर्द्धा[6], शिरो वा । उकारस्य दीर्घो वकारस्य धकारश्च । मज्जति शुन्धतीति मज्जा, अस्थिसारो

---

१. वृत्तिकारेण स्वीयवेदभाष्ये बहुत्र 'श्वन्नुक्षन्' इत्येवं सनुट्कः पाठोऽप्युद्धृतः ।

२. वृत्तिकारेण स्वीये वेदभाष्ये सूत्रे 'परिज्मन्' इति पठित्वा 'परिज्मा' शब्दो व्याख्यातः (द्र०—ऋग्भाष्य १।६।९; १।८०।३) । वेदभाष्ये 'परिज्मा' शब्दो बहुधा व्याख्यातः । द्र०—वेदार्षकोशे 'परिज्मन्' शब्दः।

३. इतोऽग्रे वैयमुद्रिते 'दशतीति बाहुलकाद् गुणः ।' इति पठ्यते, स चास्थान इति कृत्वोत्तरसूत्रवृत्त्यन्ते नीतः ।

४. अत्रान्तर्गतो ण्यर्थः । द्र०—वृत्तिकारविरचितमृग्भाष्यम् १।२३।१३॥

५. पूषन् शब्दोऽन्तोदात्तो निपातितः । काशिका ६।२।१४२॥

६. मूर्धाऽन्तोदात्तो निपातितः । पदमञ्जरी १।२।३४, पृष्ठ १७२ (लाजरस कम्पनी बनारस सं० ॥

स्नेहा । मूर्द्धा । मज्जा । अर्यमा । विश्वप्सा । परिज्वा । मातरिश्वा । मघवा ।। १५६ ।।

इत्युणादिषु प्रथमः पादः ।। १ ।।

वा । अर्यं स्वामिनं मिमीते मन्यते जानातीति **अर्यमा,** आदित्यो वा[1] । विश्वं प्साति भक्षयतीति **विश्वप्सा,** अग्निर्वा । परितो जवति वेगवान् भवतीति **परिज्वा**[2] चन्द्रमाः । 'जु' इति सौत्रो धातुस्तस्य यणादेशः । मातरि अन्तरिक्षे श्वयति गच्छति वर्द्धते वा, अथवा मातरि श्वसिति जीवयति शेते वा स **मातरिश्वा,** वायुर्वा । मह्यते पूज्यतेऽसौ **मघवा,** सूर्यो वा । 'मह' धातोर्हकारस्य घत्वं [3]अवुगामश्च । **मघवदीति** तकारान्तोऽप्ययं शब्दो दृश्यते । तव मघं धनमस्यास्तीति **मघवान्, मघवन्तौ, मघवन्तः** इति मतुबन्तः । कनिनन्तस्तु—मघवा, मघवानौ, मघवानः; मघवन्[4], मघवानम्, मघवानौ, मघोनः ।।

अस्मिन् सूत्र 'इति' शब्दः प्रकारार्थे । एवंविधा अन्येऽपि कनिनन्ता शब्दायथाप्रयोगं साध्याः । पादसमाप्त्यर्थो वेति शब्दः ।।

इत्युणादिव्याख्यायां वैदिकलौकिककोषे प्रथमः पादः ।। १ ।।



---

१. इतोऽग्रे गैयमुद्रिते 'आकारलोपो निपात्यते' इत्यपपाठः । प्रत्ययस्य कित्त्वात् 'आतो लोप इटि च' (अ० ६।४।६४) इत्यनेनैव सिद्धत्वात् ।

२. द्र०—पृष्ठ ४७ स्थिता द्वितीया टिप्पणी ।

३. गैयमुद्रिते 'वुगागमः' इत्यपपाठः ।

४. सम्बुद्धे रूपमिदम् ।

[अथ द्वितीयपादारम्भः]



कृहृभ्यामेणुः ॥ १ ॥—करेणुः । हरेणुः ॥ १ ॥

हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन् ॥ २ ॥—[1]हथः । कुष्ठः । नीथः । रथः । काष्ठम् ॥ २ ॥

अवे भृञः ॥ ३ ॥—अवभृथः ॥ ३ ॥

उषिकुषिगार्त्तिभ्यस्थन् ॥ ४ ॥—ओष्ठः । कोष्ठः । गाथा । अर्थः ॥ ४ ॥

---

१. करोतीति **करेणुः**, हस्ती हस्तिनी वा । हरति स **हरेणुः** गन्धद्रव्यम्, [2]कलायो वा 'मटर' इति प्रसिद्धः ॥

२. यो हन्यते येन वा स **हथः**, दुःखितः शस्त्रविशेषो वा । कुष्णाति निरन्तरं कर्षतीति **कुष्ठम्**, व्याधिभेदः 'कूट' इत्याख्यौषधिर्वा । नीयते स **नीथः**, नयनं वा । शोभनो नीथोऽस्यास्तीति 'सुनीथः' धर्मशीलः । रमते यस्मिन् येन वा स **रथः**, यानं शरीरं पादो वेतसो वा । काशते दीप्यते तत् **काष्ठम्**, इन्धनं स्थानं कालमानं वा; '**काष्ठा**'[3] दिक् दारुहरिद्रा वा ॥

३. क्थन् । अवबिभर्त्तीति **अवभृथः**, पक्षिभेदो यज्ञान्तस्नानं वा ॥

४. ओषति यो दहति येन वा स **ओष्ठः**, मुखावयवो वा । कुष्णाति निरन्तरं कर्षति स **कोष्ठः**, कोष्ठं कुक्षिः कुशूलमन्तर्गृहं वा । गीयते या सा **गाथा**, वाग्भेदः श्लोको वा । अर्यते प्राप्यतेऽसौ **अर्थः**, शब्दानां वाच्यो धनं कारणं वस्तु प्रयोजनं निवृत्तिर्विषयो वा ।

बाहुलकात्—श्यति तनूकरोतीति **शोथः**, रोगविशेषो वा । 'शो तनूकरणे' इत्यस्यात्त्वनिषेधः ।

---

१. वैयमुद्रिते प्रथमसंस्करणस्यान्ते शोधितमपि चतुर्थे संस्करणे 'हाथः' इत्यशुद्धं मुद्रितम् ।

२. वैयमुद्रिते 'कलापो वा' इत्यपपाठः ।

३. निरुक्ते काष्ठा शब्दस्य 'दिशः, उपदिशः, आदित्यः, आज्यन्तः (=शरपथान्तः), आपः' इत्यर्थाः प्रतिपाद्यन्ते (द्र०—निरु० २।१५) ।

सर्तेर्णित् ॥ ५ ॥—सार्थः ॥ ५ ॥

वृवृञ्भ्यामूथन् ॥ ६ ॥—जरूथम् । वरूथः ॥ ६ ॥

पातॄतुदिवचिरिचिसिचिभ्यस्थक् ॥ ७ ॥—पीथः । तीर्थम् । तुत्थः । उक्थम् । रिक्थम् । सिक्थम् ॥ ७ ॥

अर्त्तेर्निरि ॥ ८ ॥—निर्ऋ्थः ॥ ८ ॥

निशीथगोपीथावगथाः ॥ ९ ॥

---

५. सरति गच्छति स **सार्थः**, समूहो वा । थन्प्रत्ययस्य णित्त्वाद् वृद्धिः ॥

६. जीर्यति वयोहीनो भवति स **जरूथः**, मांसं वा । वृणोति येन स्वीकरोति स **वरूथः**, लोहेन रथावरणं वा ॥

७. यः पिबति यं वा स **पीथः**, सूर्य्यो घृतं वा । तरन्ति येन यत्र वा तत् **तीर्थम्**[1], गुरुर्यज्ञः पुरुषार्थो मन्त्री जलाशयो वा । यो येन वा तुदति व्यथां प्राप्नोति स **तुत्थः**, अग्निः अञ्जनम् [वा]। **तुत्था** नीली[2] अोषधिर्गौर्व-डवा वा, सूक्ष्मैला वा 'छोटी इलायची' इति प्रसिद्धा। उच्यते परितो भाष्यते यत्तत् **उक्थम्**, सामवेदो वा; य उक्थमधीते वेत्ति वा स '**औक्थिकः**'। रिणक्ति पृथक् करोतीति यत्तद् **रिक्थम्**, दायादधनं सुवर्णं वा । बाहुलकात्—'ऋच स्तुतौ' इत्यस्मादपि थक् । ऋचति यदर्थं स्तौतीति [तद्] **ऋक्थम्**, धनं वा । सिञ्चति प्रसादयति तत् **सिक्थम्** मधूच्छिष्टम्, 'मोम' इति प्रसिद्धम्, ओदनान्निःसृतं मण्डं वा ॥

८. निरन्तरमृच्छन्ति गच्छन्ति यस्मिन्नसौ **निर्ऋ्थः**, सामवेदो वा ॥

९. नितरां शेतेऽस्मिन् स **निशीथः** अर्द्धरात्रः, सर्वरात्रो वा । गां वाणीं पृथिवीं वा पातीति **गोपीथः** पण्डितो, राजा वा; गावः पिबन्त्युदक-मस्मिन् स जलाशयो[3] वा । अवगातेऽवगच्छति जानीतेऽसौ **अवगथः**, [4]प्रातःस्नानं वा । [धातोर्ह्रस्वत्वम् ॥]

---

१. तीर्थैस्तरन्ति । अथर्व १८।४।७॥

२. गैयमुद्रिते प्रथमसंस्करणान्ते शोधितमपि चतुर्थसंस्करणे 'नीला' इत्यशुद्धं दृश्यते।

३. जलद्रोणी इति प्रसिद्धः । गैयमुद्रिते प्रथमसंस्करणान्ते 'नद्या जलाशयो वा' इत्येवं पाठः शोधितः ।

४. गैयमुद्रिते प्रथमसंस्करणे शोधितोऽप्ययं पाठ उत्तरत्राशुद्ध एव मुद्र्यते ।

गश्चोदि ॥ १० ॥—उद्गीथः ॥ १० ॥

समीणः ॥ ११ ॥—समिथः ॥ ११ ॥

तिथपृष्ठगूथयूथप्रोथाः ॥ १२ ॥

स्फायितञ्चिवञ्चिशकिक्षिपिक्षुदिसृपितृपिदृपिवन्द्युन्दिश्वितिवृत्यजिनीपदिमदिमुदिखिदिछिदिभिदिमन्दिचन्दिदहिदसिदम्भिवसिवाशिशीङ्हसिसिधिशुभिभ्यो रक् ॥ १३ ॥—स्फारम् । तक्रम् । वक्रः । शक्रः । क्षिप्रम् । क्षुद्रः । सृप्रः । तृप्रः । दृप्रः । वन्द्रः । उद्रः । श्वित्रम् । वृत्रः । वीरः ।

---

१०. उदुपपदाद् गाधातोस्थक् । य उद्गीयत उच्चैः [1]शब्दयते स **उद्गीथः** सामध्वनिः, प्रणवो वा ॥

११. समेति सम्यक् प्राप्नोति पदार्थानिति **समिथः**, अग्निर्वा ॥

१२. तिथादयस्थक्प्रत्ययान्ता निपाताः[3]। तेजते सह्यतेऽसौ **तिथः** अग्निः, कामो वा । [धातोरन्त्यलोपः ।] पर्षति सिञ्चति यो येन वा तत् **पृष्ठम्**, शरीरस्य पश्चाद्भागः स्तोत्रं वा । यो येन वा गवतेऽव्यक्तशब्दं करोति तद् **गूथम्**, अपानमार्गः पुरीषं वा । यौति मिश्रयत्यमिश्रयति वा स **यूथः**, समुदायो वा । [उभयत्र[2] धातोर्दीर्घत्वम् ।] यः प्रवते गच्छति येन वा स **प्रोथः**, तुरङ्गनासिका प्रस्थितः पुरुषो वृक्षभेदः प्रियम् उदकम् अन्नं स्त्रीगर्भश्च **प्रोथ** उच्यते । [धातोर्गुणो निपात्यते ॥]

१३. यः स्फायते वर्द्धतेऽसौ **स्फारः**, सुवर्णादेर्विकारो, बुद्बुदो वा । वलि रेफे यलोपः[4] । तनक्ति संकोचयतीति **तक्रम्**, मथितं दधि वा । वञ्चति प्रलम्भते स **वक्रः**, कुटिलः क्रूरो वा । शक्नोति यः स **शक्रः**, समर्थः कुटजो वृक्षविशेषो वा । क्षिप्यते प्रेर्यते तत् **क्षिप्रम्**, शीघ्रं वा । क्षुनत्ति संपिनष्टि यः स **क्षुद्रः**, अधमः क्रूरः कृपणो वा । **क्षुद्रा** वेश्या कण्टकारिका (भटकटाई इति प्रसिद्धा) मधुमक्षिका च । [5]अल्पे वाच्यलिङ्गः । सर्पति गच्छतीति **सृप्रः**, चन्द्रमा वा । यस्तृप्यति येन वा स **तृप्रः**, [6]पुरोडाशो वा । दृप्यति हृष्यति मुह्यति वा स **दृप्रः**, बलवान् वा । वन्दतेऽभिवदति स्तौति वा स **वन्द्रः**, सत्कर्त्ता वा । उनत्ति क्लिद्यति स **उद्रः**, जलचरो वा । सम्यगुनत्तीति

---

१. वैयमुद्रिते 'शब्दायते' इत्यपपाठः । २. अर्थाद् गूथयूथशब्दयोः ।

३. द्र० उ० ३।१२, वृत्तौ टि० । ४. लोपो व्योर्वलि (अ० ६।१।६४) इत्यनेन।

५. वैयमुद्रितेऽस्थानेऽयं पाठः । ६. आज्यमपि तृप्रमुच्यते ।

नीरम् । पद्रः । मद्रः । मुद्रा । खिद्रः । छिद्रम् । भिद्रम् । मन्द्रः । चन्द्रः । दह्रः । दस्रः । दभ्रः । उस्रः । वाश्रः । शीरः । हस्रः । सिध्रः । शुभ्रम् ॥ १३ ॥

---

[1]समुद्रः । अनिदिताम्० [६।४।२४] इति नलोपः । श्वेतते वर्णविशिष्टो भवतीति श्वित्रम्, कुष्ठभेदो वा । वर्त्तते सदैवाऽसौ वृत्रः, मेघः शत्रुस्तमः पर्वतश्चक्रं वा । अजति गच्छति शत्रून् वा प्रक्षिपति स वीरः, सुभटः श्रेष्ठश्चतुष्पथं वा; वीरा क्षीरकाकोली, पतिपुत्रवती स्त्री मदिरा मधुर्पणिकौषधिर्वा । नयति शरीरमिति नीरम्, जलं वा । पद्यते गच्छन्त्यस्मिन् वा स पद्रः, ग्रामः संवेशः स्थानं वा । माद्यतीति मद्रः, हर्षो देशभेदो वा । मोदन्ते हृष्यन्ति यया सा मुद्रा, यन्त्रिता सुवर्णादिधातुमया वा । यः खिद्यते येन वा दीनो भवतीति स खिद्रः, [2]दरिद्रो रोगो वा । छिद्यते तत्तत् छिद्रम्, विवरं वा । भिनत्ति येन तद् भिद्रम्, वज्रो वा । मन्दते स्तौतीति मन्द्रः, गम्भीरध्वनिर्वा । चन्दति हर्षयति दीपयति वा स चन्द्रः, कर्पूरश्चन्द्रमा वा । दहति भस्मीकरोतीति दह्रः, दावाग्निर्वा । दस्यति रोगानुपक्षयतीति दस्रः, [3]वैद्यश्चौरो वा । यो दभ्नोति दम्भं करोति स दभ्रः, क्षुद्रो जनः समुद्रो वा । वसतीति उस्रः, रश्मिर्वा, उस्रा गौः । वाश्यते शब्दयतीति वाश्रम्, पुरीषं दिवसो मन्दिरं चतुष्पथं वा । शेतेऽसौ शीरः, [4]महासर्पो वा । हसतीति हस्रः, मूर्खो वा । सेधति गच्छति सिध्यति वा स सिध्रः, साधुर्वृक्षजातिर्वा । कुत्सिताः सिध्रा वृक्षाः सिध्रकाः, [5]तासां वनं 'सिध्रकावणम्', वनं पुरगामिश्रकासिध्रका० [८।४।४] इति सूत्रेण णत्वम् । शोभते दीप्यते तत् शुभ्रम्, रुचिरं शुक्लं पाण्डुरं वा ।

बाहुलकात्—मेशति शब्दतीति मिश्रः, संयोगो वा । पुण्डति खण्डय-

---

१. भीमादिगणे पाठाद् 'भीमादयोऽपादाने' (अ० ३।४।७४) इत्यनेनापादानेऽपि द्रष्टव्यः । 'समुद्द्रवन्त्यस्माद् भूतानीति 'समुद्रः' परमात्मा । समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनिः इति वाजसनेयके' इति अथर्वभाष्ये (४।३०।७) सायणः ।

२. गैयमुद्रिते 'रोगो दरिद्रो वा' इति व्यत्यासेन पाठः । 'खिद्यते येन' इत्यस्य दरिद्रेण संवन्धः, 'दीनो भवति' इत्यस्य रोगेण ।

३. देवभिषजावश्विनौ दस्रावुच्येते ।

४. अजगरनामा इति शेषः ।

५. स्त्रीत्वं प्रायिकम्, तेन कोटरादिगणे सिध्रकस्य पाठात् 'वनगिर्योः संज्ञायां कोटरकिंशुलकादीनाम्' (अ० ६। ३।११६) इत्यनेन दीर्घत्वे ऽपि तदेव रूपम् ।

चकिरम्योरुच्चोपधायाः ॥ १४ ॥—चुक्रम् । रुम्रः ॥ १४ ॥

वौ कसेः ॥ १५ ॥—विकुस्रः ॥ १५ ॥

अमितम्योर्दीर्घश्च ॥ १६ ॥—आम्रम् । ताम्रम् ॥ १६ ॥

निन्देर्नलोपश्च ॥ १७ ॥—निद्रा ॥ १७ ॥

अर्देर्दीर्घश्च ॥ १८ ॥—आर्द्रम् ॥ १८ ॥

शुचेर्दश्च ॥ १९ ॥—शूद्रः ॥ १९ ॥

दुरीणो लोपश्च ॥ २० ॥—दूरम् ॥ २० ॥

तीति पुण्ड्रः, दुष्टो वा । सिनोति बध्नाति मांसरुधिरादिकमिति सिरा, नाडी वा । मुस्यति खण्डयतीति मुत्रम्, नेत्रोदकं वा । अस्यतीति अस्रम्, रुधिरं वा; अस्रं पिबतीति अस्रपो दंशः ॥

१४. चकते तृप्यति प्रतिहन्यते वा स चुक्रः, अम्लम् अम्लवेतसमित्यादि । रमन्तेऽस्मिन् स रुम्रः, अरुणः शोभनो वा ॥

१५. विकसति विशेषतया गच्छतीति [1]विकुस्रः, चन्द्रमा वा । [उच्चोपधाया इत्यनुवर्तमाने] 'कस' धातोरुपधाया उत्वम्[2] ॥

१६. अम्यते सम्भज्यते सेव्यते तत् आम्रम्[3], चूतो वा । ताम्यति काङ्क्षतीति ताम्रम्, धातुभेदो रक्तवर्णो वा ॥

१७. या निन्दति यया वा सा निद्रा, शयनं वा ॥

१८. आर्दति गच्छति याचते वा तत् आर्द्रम्, सरसद्रव्यम्, आर्द्रा नक्षत्रं वा ।

१९. दीर्घश्चानुवर्त्तते । शोचतीति शूद्रः, सेवको वा; पुंयोगे शूद्रस्य स्त्री 'शूद्री', 'शूद्रा'[4] तज्जातिर्वा ॥

२०. दुरुपपदात् 'इण्' धातो रक् धातोश्च लोपः । दुःखेनेयते प्राप्यते तद् दूरम्, विप्रकृष्टं वा ॥

---

१. गैयमुद्रितेषु चतुर्थसंस्करणपर्यन्तमिह सूत्रोदाहरणे च 'विकस्रः' इत्यपपाठो दृश्यते ।

२. उपाधाया उत्त्वाभावे 'विकस्रः' इत्यपि भवति । अर्थः स एव ।

३. गैयमुद्रिते प्रथमसंस्करणे शोधितमपि चतुर्थसंस्करणे 'तदम्रम्' इत्यपपाठः ।

४. 'शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः' इत्यजादिगणे (अ० ४।१।४) गणसूत्रम् ।

कृतेश्छः क्रू च ॥ २१ ॥—कृच्छ्रम् । क्रूरः ॥ २१ ॥

रोदेर्णिलुक् च ॥ २२ ॥—रुद्रः ॥ २२ ॥

[1]बहुलमन्यत्रापि संज्ञाछन्दसोः ॥ २३ ॥

---

२१. 'कृत' धातोरन्त्यस्य छः, सर्वस्य च क्रू इत्येतावादेशौ रक् च । कृन्तति छिनत्तीति **कृच्छ्रः**, **क्रूरः** च, कठिनं दुःखं खलो वा ॥

२२. पापिनो रोदयतीति[2] **रुद्रः**, ईश्वरः । [3]**रुद्राः** प्राणादयो दश जीवश्च ।

२३. बहुलम् अन्यत्रापि धात्वन्तरे संज्ञाछन्दसोः सामान्यप्रत्ययादौ च णेर्लुक् । पाशं बन्धनं धारयतीति **पाशधरः**, **शूलधरः**, **चक्रधरः**, **वज्रधरः**, **शक्तिधरः** वा कुमारः । **उदकधरः** मेघः, **दण्डधरः** राजा । अत्र सर्वत्राचि प्रत्यये 'धृ' धातोः परस्य णेर्लुक् । [छन्दसि—**वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे** (ऋ० ७।९९।७) 'वर्धयन्तु' इति प्राप्ते । '**अग्ने शर्ध महते सौभगाय**' (ऋ० ५।२८।३) 'शर्धय' इति प्राप्ते । बहुलवचनादसंज्ञाछन्दसोरपि णेर्लुग् भवति ।] पर्णानि शोषयति मोचयति रोहयति वा स **पर्णशुट्**, **पर्णमुक्**[4], **पर्णरुट्** इति ण्यन्तात् 'शुष' धातोः क्विप् णेर्लुक् । [एवं मुचरुहधातुभ्यामपि]

---

१. गैयमुद्रिते सूत्रमिदं न दृश्यते । वृत्तिस्त्वस्य पूर्वसूत्रान्त एव मुद्रितोपलभ्यते ।

२. अनेन वृत्तिकारेण स्वीय ऋग्वेदभाष्ये (१।११४।३) निर्वचनान्तरमपि निर्दर्शितम्—'रुतः सत्योपदेशकान् राति ददाति' इति 'रुद्रः' । सायणेनाथर्वभाष्ये (२।२७।६) अपरं निर्वचनमुक्तम्—'उक्तं वायवीयसंहितायाम्—

रुद् दुःखं दुःखहेतुर्वा तद् द्रावयति नः प्रभुः ।
रुद्र इत्युच्यते तस्मात् शिवः परमकारणम् ॥ ,इति ।

बाहुलकाद् रुद्र शब्दोऽण्यन्ताच्छुद्धादपि रकि व्युत्पद्यते । तथाहि यास्कः—'रुद्रो रौतीति सतः । रोरूयमाणो द्रवतीति वा' (निरु० १०।५) अत्रैव यास्को ब्राह्मणोक्ते निर्वचने अपि प्रदर्शयाञ्चकार—'यदरुदत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वमिति काठकम् । यदरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वमिति हारिद्रविकम्', इति ।

३. गैयमुद्रिते 'प्राणादिदश रुद्रा जीवो वा' इत्यपपाठः । तथा च वाजसनेयकम्—'कतमे रुद्रा इति ? दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः । ते यदास्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति । तद् यद् रोदयन्ति तस्माद् रुद्रा इति ।' शत० १४।६।९।५॥

४. गैयमुद्रिते 'पर्णमुट्' इत्यपपाठः ।

जोरी च ॥ २४ ॥—जीरः ॥ २४॥

जश्त्वकुत्वादि[1] कार्यम् ।

'वान्ति पर्णशुषो वाता वान्ति पर्णमुचोऽपरे ।
ततः पर्णरुहा वान्ति ततो देवः प्रवर्षति ॥'[2]

२४. 'जु' धातो रकि प्रत्यय ईकारादेशः [च] । जवति सूक्ष्मो भवतीति जीरः, अणुः खड्गो वणिग्द्रव्यं[3] वा । महाभाष्यकारसंमत्या **'रकि ज्यः सम्प्रसारणम्' (महाभाष्य १ । १ । ४)** इति 'ज्या वयोहानौ' इत्यस्य रकि प्रत्यये सम्प्रसारणम् । जिनात्यवस्थां जहातीति जीरः । तथा महाभाष्यकारसम्मत्या 'जीव' धातोरदानुक्' । जीवति प्राणान् धारयतीति जीरदानुः ।

---

१. आदिशब्देन रुहेर्हकारस्य 'हो ढः' (अ० ८।२।३१) इति ढकारः, ततो जश्त्वम् । सर्वत्र जश्त्वे कृते 'वाऽवसाने' (अ० ८।४।५५) इत्यनेन चर्त्वं पक्षे च ज्ञेयम् ।

२. अनुपलब्धमूलमिदम् । सर्वप्राचीनायां दशपाद्युणादिवृत्तौ (८।४०, पृष्ठ ३१२) श्लोकोऽयमुद्धृतः । अत्र 'दाधर्तिदर्धर्षि' (अ० ७।४।६५) इत्यादिसूत्रस्य भाष्यं कैयटकृतं प्रदीपव्याख्यानं चानुसन्धेयम् ।

३. 'जीरा' इति भाषायां प्रसिद्धम् ।

४. महाभाष्यकारेण १।१।४ सूत्रभाष्ये 'जीवेरदानुक्' इति सूत्रमुद्धृतम् । सूत्रमिदं दशपाद्युणादिपाठ एवोलभ्यते (द्र०—१।१६३, पृष्ठ १०७) । अनेन सूत्रेण महाभाष्यकारो दशपाद्युणादिवृत्तिकारश्च 'जीरदानु' शब्दस्य साधुत्वं प्रतिपादयतः । जीरदानुजीवदानू समानार्थकौ । यतो हि समाने मन्त्रे तैत्तिरीयसंहितायां (१।१।६) 'पृथिवीं जीरदानुम्' इति पठ्यते । शुक्लयजुषि (वा० सं० १।२८) 'पृथिवीं जीवदानुम्' इति श्रूयते । उभावपि शब्दौ 'जीवेरदानुक्' सूत्रस्य 'जीवेः रदानुक्' जीवेः अदानुक्' इति पदविच्छेदेन सिद्ध्यतः । जीव+अदानु=जीवदानु, 'जीव+रदानु=जीरदानु' । रदानुकि 'लोपो व्योर्वलि' (अ० ६।१।६४) इत्यनेन वकारलोपः, प्रत्ययस्य कित्त्वात् प्राप्त ऊठ् (अ० ६।४।१९) बाहुलकान्न भवति । पदकारास्तु 'जीरऽदानुम्' 'जीवऽदानुम्' इत्येवमवगृह्णन्ति । तथा सति स्वरो नोपपद्यते । उपपदसमासे 'गतिकारकोपपदात् कृत्' इत्यनेनोत्तरपदप्रकृतिस्वरे 'दानु' भागस्य नुप्रत्ययान्तत्वाद् अन्तोदात्तत्वं प्राप्नोति । षष्ठीसमासेऽपि 'समासस्य' (अ० ६।१।११७) इत्यनेनान्तोदात्तेन भाव्यम् । यथा तु दशपादीसूत्रपाठस्तथा प्रत्ययाद्युदात्तत्वेनाञ्जसा स्वर उपपद्यते । पदकारणां मते तु दासीभारादेर् (अ० ६।१।४२) आकृतिगणत्वेन पूर्वपदप्रकृतिस्वरो द्रष्टव्यः । अत्रेदमप्यवधेयम्—वाराहगृह्यसूत्रे (४।८) 'आर्द्रदानव स्थ जीवदानव स्थ'

सुसूधाञ्गृधिभ्यः क्रन् ॥ २५ ॥—सुरः । सूरः । धीरः । गृध्रः ॥ २५ ॥

शुसिचिमीनां दीर्घश्च ॥ २६ ॥—शूरः । सीरः । चीरम् । मीरः ॥ २६ ॥

वाविन्धेः ॥ २७ ॥—वीध्रम् ॥ २७ ॥

वैदिकं रूपमेतत्[1] । अत्र च 'जीव' धातोर्वलि वलोपः[2] ऊठ् निषेधश्च बाहुलकादेव, इत्यादि ॥

२५. सुनोति सवति उत्पादयत्यैश्वर्यवान् वा भवतीति सुरः, देवसंज्ञो विद्वान्; स्त्रियां सुरा मद्यं वा । सूयते वा सुवति प्राणिनः समर्थयतीति सूरः, सूर्यो वा । दधाति सर्वान् पोषयति वा स धीरः, पण्डितो वा । गृध्यत्यभिकाङ्क्षतीति गृध्रः, पक्षिविशेषो वा ॥

२६. 'शु' इति सौत्रो धातुः । शवति गच्छतीति शूरः[3], विक्रमणशीलः पुरुषो वा । सिनोति बध्नातीति सीरः,[4] हलं वा । चिनोतीति चीरम्, वल्कलं वा । मिनोति प्रक्षिपतीति मीरः, समुद्रो वा ।

२७. विशेषेणेन्धते प्रदीप्यते तद् वीध्रम्, स्वभावशुद्धः ॥

इति मन्त्रे यथा 'आर्द्रदानवः' इत्यत्र द्विपदयोः समासस्तथा 'जीवदानवः' इत्यत्रापि प्रतीयत उभयपदयोस्तुलनया । अनेन पदकाराणामवग्रहवचनमप्युपपद्यते । महाभाष्ये १।१।६४ सूत्रव्याख्याने प्रायेण 'जीवेरदानु' इत्येव सूत्रपाठ उपलभ्यते । परन्तु 'लोपो व्योर्वलि' (अ० ६।१।६४) सूत्रस्य भाष्ये 'वलोपाऽप्रसिद्धिरूड्भाववचनात्' इति वार्तिकस्य व्याख्याने 'जीरदानुः' उदाहरणस्य निर्देशात् 'जीवेरदानुक्' इत्येवपाठो कात्यायनपतञ्जल्योरभिमत इति स्पष्टम् । यतो हि प्रत्ययस्य कित्त्व एवोठ्भावः प्राप्नोति ।

१. द्रष्टव्यम्—'पृथिवीं जीरदानुम्' (तै० सं० १।१।६) ।

२. 'लोपो व्योर्वलि' (अ० ६।१।६४) सूत्रेणेति शेषः । ऊठः प्राप्तिः 'छ्वोः शूडनुनासिके च' (अ० ६।१।१६) इत्यनेन ज्ञेया ।

३. अयं वृत्तिकारः स्वीयर्ग्वेद भाष्ये (१।२६।४) 'शॄ हिंसायाम्' इत्यस्माद् बाहुलकात् 'ऊरन्' प्रत्ययमाह ।

४. स्त्रियां सीरा । 'सीरा शब्दो नदीवचनोऽन्तोदात्तः, हलवचन आद्युदात्त इति माधवः' इति देवराजो निघण्टुव्याख्याने (१।१३ 'सीरापदे) आह ।

वृधिवपिभ्यां रन् ॥ २८ ॥—वर्ध्रम् । वप्रः ॥ २८ ॥

ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्रकुब्रचुब्रक्षुरखुरभद्रोग्रभेरभेलशुक्रशुक्लगौरवन्रेरा-मालाः ॥ २९ ॥

---

२८. वर्द्धते तत् **वर्ध्रम्**, चर्म वा । वपति बीजं छिनत्ति वा स **वप्रः**, पिता केदारः प्राकारो रोधो वा ॥[1]

२९. ऋज्राद्येकोनविंशतिः शब्दा निपात्यन्ते[2] । अर्जति गच्छति तिष्ठति वा स **ऋज्रः**, नायको वा । गुणाभावः । इन्दति परमैश्वर्यवान् भवतीति **इन्द्रः**, समर्थोऽन्तरात्माऽऽदित्यो योगी[3] वा । अङ्गति गच्छतीति **अग्रम्**, प्रधानमुपरिभागो वा । [धातोर्नलोपः ।] वजति प्राप्नोति प्राप्यते वा स **वज्रः**, हीरकं शस्त्रं वा । वपति धर्म्ममिति **विप्रः**, मेधावी वा । [धातोरुपधाया इत्वम् ।] कुम्बत्याच्छादयतीति **कुब्रम्**, अरण्यं वा । चुम्बति यो येन वा तत् **चुब्रम्**, मुखं वा । अत्रोभयत्र[4] इदितोऽपि नलोपः [निपातनात्] । यः क्षुरति विलिखति येन वा छिनत्तीति स **क्षुरः**, छेदनद्रव्यं कोकिलाक्षं गोक्षुरो लोमच्छेदकं नापितशस्त्रं वा । खुरति छिनत्ति यो येन वा स **खुरः**, शफं वा ।

---

१. बाहुलकादजेरपि रन् अज्रः । बाहुलकादेव वीभावाभावः । नित्त्वादाद्युदात्तः ।

२. 'रन्' प्रत्ययस्य प्रकरणात् रन्नन्ता निपात्यन्ते । तत्र 'स्वरोऽपि केषुचिन्निपातनान्न भवति । तथाहि—इन्द्र शब्द अन्तोदात्तोऽपि दृश्यते' इति श्वेतवनवासी (अत्रैव सूत्रे पृष्ठ ६७, ६८) । अत्र केषुचिन्निपातनादाद्युदात्तत्वं न भवति, इति तु युक्तम्, परन्तु 'इन्द्र'शब्दस्यान्तोदात्तत्वं नास्माभिः क्वचिदुपलब्धम् । सायणस्तु तैत्तिरीयसंहिताभाष्ये (१।१।१, पृ० ४६) इन्द्रस्य वृषादित्वात् (अ० ६।१।१९७) आद्युदात्तत्वमाह । तच्चिन्त्यम्, व्युत्पत्तिपक्षे रनो नित्त्वात् सिद्धम्, अव्युत्पत्तिपक्षे च 'ग्रामादीनां च' (फिट् २।१५) इत्यनेन । अपि च स्ववचनविरोधोऽपि दृश्यते । स एव ऋग्भाष्ये (१।२।६) रनो नित्त्वादाद्युदात्तत्वमाह । काशिकाकारोऽपि अ० ६।२। १४१ सूत्रव्याख्यान इन्द्रशब्दस्य, अ० ६।१।१२० सूत्रव्याख्याने च अग्रशब्दस्य निपातनादाद्युदात्तत्वमाह । तदपि चिन्त्यम् । येषामिहान्तोदात्तत्वमुपलभ्यते, तेषां निपातनादन्तोदात्तत्वं ज्ञेयम् । यथा भद्र-शुक्र-शुक्लादिषु ।

३. इन्द्रशब्दो वैश्येऽपि प्रयुज्यते—'इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि' । अथर्व ३।१५।१॥

४. उभयत्र कुब्रचुब्रयोरिति भावः ।

समि कस उकन् ॥ ३० ॥—सङ्कसुकः ॥ ३० ॥

अत्रोभयत्र[1] रनि[2] रेफलोपो गुणाऽभावश्च । भन्दते कल्याणं करोतीति **भद्रम्**[3] कल्याण[प्रद]म् । नकारलोपः । उच्यति समवैतीति **उग्रः**, महेश्वर उत्कटः क्षत्रं वा । [चकारस्य गकारः ।] बिभेत्यस्मात् स **भेरः**, **भेरी** दुन्दुभिर्वा । गौरादित्वान् ङीष्[4]; पक्षे भेरशब्दस्य लत्वम्=**भेलो**, जलतरणद्रव्यं वृद्ध-कायः कातरो वा । शुच्यते पवित्रीभवतीति **शुक्रम्**, ब्रह्माग्निराषाढः प्राणि-बीजं नेत्ररोगो वा; अस्यैव व्यवस्थितविभाषया पक्षे लत्वम्=**शुक्लः**, श्वेतं रजतं वा । [उभयत्र चकारस्य कुत्वम् ।] गवतेऽव्यक्तंशब्दयतीति **गौरः**, श्वेतो रक्तवर्णो वा; '**गौरी**' स्त्री । [धातोर्वृद्धिः ।] ङीष्[4] । वनति सम्भज-तीति **वन्रः** विभागी । एति गच्छति यया सा **इरा**, उदकं मद्यं वा । [गुणा-भावः ।] '**इरावान्**' समुद्रः, '**ऐरावती**' नदी । इरया मद्येन माद्यतीति '**इरम्मदः**'[5] । माति मानहेतुर्भवतीति **माला** पुष्पादिस्रक्; **मालं** क्षेत्रम्; **मालो** जनः । [प्रत्ययरेफस्य लत्वम् ।]

बाहुलकात्—तितिक्षते येन तत् **तीव्रम्**, तीक्ष्णं वा । जस्य वो दीर्घत्वं च धातोः ॥

३०. सम्यक् कसति गच्छतीति **सङ्कसुकः**[6] संशयमापन्नश्चञ्चलो दुर्जनो वा ॥

---

१. उभयत्र क्षुरखुरयोरिति भावः । २. वैयमुद्रिते 'रकि' इत्यपपाठः ।

३. भद्रशब्दार्थं शाट्यायनिनः समामनन्ति—'यद्वै पुरुषस्य वित्तं तद् भद्रम्, गृहा भद्रम्, प्रजा भद्रम्, पशवो भद्रमिति' । सायणीयर्भाष्ये (१।१।६) उद्धृतं वचनम् ।

४. 'षिद्गौरादिभ्यश्च' (अ० ४।१।४१) इत्यनेन ङीष् ।

५. 'उग्रंपश्येरम्मदपाणिन्धमाश्च' (अ० ३।२।३७) इति निपातनेन खश्प्रत्ययः, उपपदस्य ह्रस्वत्वं च ।

६. अथर्वणि (१२।२।१४) 'विकसुकः' इत्यपि श्रूयते । उभौ चाद्युदात्तौ । यथा त्वत्र व्युत्पत्तिस्तथा 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (अ० ६।२।१३८) इत्युत्तरपदप्रकृति-स्वरेण नित्त्वादादाद्युदात्तत्वमुत्तरपदस्य प्राप्नोति । पूर्वपदाद्युदात्तार्थं दासीभारादित्वं (अ० ६।२।४२) स्वीकार्यम् । वृत्तिकारोऽयं स्वीयेऽष्टाध्यायीभाष्ये 'संकसुक'शब्दं

पचिनशोर्णुकन्कनुमौ च ॥ ३१ ॥—पाकुकः । नंशुकः ॥ ३१ ॥

भियः क्रुकन् ॥ ३२ ॥—भीरुकः ॥ ३२ ॥

क्वुन् शिल्पिसंज्ञयोरपूर्वस्यापि ॥ ३३ ॥—रजकः । इक्षुकुट्टकः । तक्षकः । ध्रुवकः । अभ्रकम् । चरकः । चषकः । [1]भञ्जकः । शालभञ्जिका ।

---

३१. 'पच नश' धातुभ्यां णुकन् प्रत्ययः । पचधातोश्चस्य कः, नशधातोर्नुम् च । पचतीति पाकुकः, सूपकारो वा । नश्यतीति नंशुकः, अणुवाचको वा ॥

३२. यो बिभेति[2] स भीरुकः, कातरो वा ॥

३३. शिल्पिनि संज्ञायां च गम्यमानायां सोपपदाद् अनुपपदाद्वा सामान्याद्धातोः क्वुन् भवति । [शिल्पिनि—] रजतीति रजकः[3], वस्त्रशोधको वा ।

भीमादिगणे (अ० ३।४।७४) पठति । तेन 'सम्यक् कसति गच्छत्यस्मात्' इत्येषा व्युत्पत्तिर्द्रष्टव्या । काशिकाकारादयो भीमादिगणे न पठन्ति (अस्या वृत्तेरादौ भूमिकायां [पृष्ठ ५] यो भीमादिगणः पठितस्तत्राप्यस्य निर्देशो नास्ति) । तन्मते नात्र कर्तरि व्युत्पत्तिः । श्वेतवनवासी तु 'छान्दसो वर्णव्ययत्यः' इत्युक्त्वा 'संकुसुकः' इत्युदाजहार । 'संकुसुको यामायनः' ऋग्वेदस्य दशममण्डलस्याष्टादशसूक्तस्य ऋषिः श्रूयते । सायणोऽथर्वभाष्ये (८।१।१२) 'संकसुकात्' पदस्य स्थाने 'संकुसुकात्' पाठं व्याचष्टे ।

अयं वृत्तिकारः स्वीयसंस्कारविधौ (पृष्ठ २८२, आ० स० शताब्दीसंस्करणे) मनुस्मृतेः (६।४६) श्लोके 'असंकसुकः' पाठं मनुते । मनुस्मृतेरन्ये टीकाकाराः 'असंकुसुकः' पाठमातिष्ठन्ते ।

१. वैयमुद्रिते षष्ठे संस्करणे 'भञ्जकः ।—···पुष्पप्रचायिका' एतावान् पाठ [ ] एतादृशे कोष्ठके पठ्यते । पूर्वसंस्करणेषु पाठोऽयमुपलभ्यते ।

२. वैयमुद्रिते 'बिभेति यस्माद्वा' इत्यपपाठः । नहि भीरुकात् कश्चिद् बिभेति, भीरुक एवान्यस्माद् बिभेति ।

३. रजकरजनरजस्सूपसंख्यानम् (अ० ६।४।२४) इति वार्तिकेनानुनासिकलोपः ।

काष्ठपुत्रिका । पुष्पप्रचायिका । शुनकः । भषकः ॥ ३३ ॥

इक्षून् कुट्टयतीति **इक्षुकट्टकः**, [1]गौडिकस्येयं संज्ञा । तक्षति तनूकरोतीति **तक्षकः** वर्धकिः, शिल्पी [वा । धुनोति कम्पयतीति] [2]**धुवकः** गर्भमोचको जनः, [3]संज्ञा वा । अभ्रति गच्छति येन तत् **अभ्रकम्**, औषधं [3]संज्ञा वा । चरतीति **चरकः**, वैद्यकशास्त्रं गन्ता[4] वा । चषति भक्षयत्यस्मिन्निति **चषकं** पानपात्रं, शालं वा । भञ्जतीति **भञ्जकः**, मत्स्यभेदः प्राकारो वा । शालान् भञ्जन्ति यस्यां सा **शालभञ्जिका** क्रीडा । काष्ठं [5]पुत्रीयति यस्यां सा **काष्ठपुत्रिका**, क्रीडा वा । पुष्पैः प्रचायन्ते पूजयन्ति यस्यां सा **पुष्पप्रचायिका**, क्रीडा वा । शुनति गच्छतीति **शुनकः**[6] श्वा [वा] । भषति भर्त्सयतीति **भषकः**, श्वा वा ।

[**बाहुलकाद्**—]आमलते समन्ताद्धारयतीति **आमलकः**, वृक्षभेदः [वा]; गौरादित्वान्[7] ङीष्='**आमलकी**'। कलामंशंपाति रक्षतीति **कलापकः**,

---

१. अत्र पाठो भ्रष्टः । अत्र 'गौडिकः (गुडनिर्माता शिल्पी) वा । संज्ञायाम्—तक्षति……' इत्येवं शुद्धेन पाठेन भाव्यम् ।

२. वैयमुद्रिते इहोपरिसूत्रोदाहरणे च 'ध्रुवकः' इत्यपपाठः ।

३. इह 'संज्ञा'पदं व्यर्थमिव प्रतिभाति ।

४. वैशम्पायनस्यापि 'चरक' इति नामान्तरम् (द्र०—काशिका ४।३।१०४) । तेन प्रोक्तमधीयते तेऽपि चरकाः । 'कठचरकाल्लुक्' (अ० ४।३।१०७) इति प्रोक्त-प्रत्ययस्य लुक् । अत एव वैशम्पायनेन प्रोक्तानि कृष्णयजूंषि येऽधीयते ते सर्वे सामान्येन चरका इत्युच्यन्ते । अनेनैव चरकेण अग्निवेशकृताऽऽयुर्वेदीयसंहिताऽपि प्रोक्ता (= संस्कृता), अतः साऽपि चरकनाम्ना प्रसिद्धा । तदुक्तम्—'अग्निवेशकृते तन्त्रे चरक-प्रतिसंस्कृते' (चरके प्रत्यध्यायान्ते) । तन्नाम्नैवायुर्वेदीया संहिता 'चरक' नाम्ना प्रसिद्धिं गता । 'चरक' इति कुष्ठरोगस्यापि नाम । वैशम्पायनश्च अजानन् ब्राह्मणस्य कस्यचिद् गां हतवान् । तेन स कुष्ठी बभूवेतीतिहासे प्रसिद्धिः । तेनैव वैशम्पायनो चरकनाम्ना प्रसिद्धिं गतः । एतस्य विवरणमस्मदीये 'दुष्कृताय चरका-चार्यम्—मन्त्र पर विचार' नाम्नि निबन्धे द्रष्टव्यम् ।

५. वैयमुद्रिते 'पुत्रयति' इत्यपपाठः ।

६. शुनकनामा कश्चिद् ऋषिः, यस्यापत्यं 'शौनकः' ।

७. द्र०—अ० ४।१।४१॥

रमेरश्च लो वा ॥ ३४ ॥—रमकः; लमकः ॥ ३४ ॥

जहातेर्द्वे च ॥ ३५ ॥—जहकः ॥ ३५ ॥

ध्मो धम च ॥ ३६ ॥—धमकः ॥ ३६ ॥

हनो वध च ॥ ३७ ॥—वधकः ॥ ३७ ॥

बहुलमन्यत्रापि ॥ ३८ ॥—कुहकः । कृतकम् । भिदकः । छिदकम् । रुचकम् । लङ्गकः । उज्झकः ॥ ३८ ॥

चन्द्रमा वा । मल्लते गन्धं धरतीति **मल्लिका**, पुष्पजातिर्वा । कन्यते दीप्यते काम्यतेऽभीप्स्यते वा तत् **कनकं**[1], सुवर्णं वा । कटत्यावृणोत्यङ्गमिति **कटकम्**, आभूषणं वा 'कड़ा' इति प्रसिद्धं, शिखरं राजधानी[2] नितम्बं वा । लटति बाल इव भवतीति **लटकः**, दुर्जनो वा । इत्यादिषु शिल्पिसंज्ञयोः क्वुन् बोध्यः ॥

३४. रमतेऽसौ **रमकः**, रमणशीलो वा; **लमकः** अपि स एव ॥

३५. जहाति त्यजति हानिं करोतीति **जहकः**, त्यागी कालो वा ॥

३६. धमति शब्दं करोतीति अग्निं वा संयुनक्ति स **धमकः**, कर्मकारो वा ॥

३७. हन्तीति **वधकः**[3] हिंसकः ॥

३८. बहुलवचनादन्यत्रापि क्वुन् ।[4]कुहयति विस्मयं कारयतीति **कुहकः**[5],

---

१. कनकं धत्तूरम् (=धतूरा) अप्युच्यते । तस्यासवः कनकासवनाम्ना प्रसिद्धः चिकित्साग्रन्थेषु । हिन्दीभाषायामप्युच्यते—

कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय ।
एकहि खाये बौराय जग दूजे पाय बौराय ॥

२. नात्र उड़ीसाप्रान्तस्य भूतपूर्वा कटकनाम्ना प्रसिद्धा राजधान्यभिप्रेता । अपितु सामान्यभूता राजधानी । कटकशब्देन सेनाप्युच्यते । राजधानीषु तस्या बाहुल्यात्, राजधान्यपि 'कटक'इत्युच्यते ।

३. वैयमुद्रिते इहोपरि च सूत्रोदाहरणे 'बधकः' इत्यपपाठः ।

४. वैयमुद्रिते 'कोहयति' इत्यपपाठः । 'कुह विस्मापने' इत्यस्यादन्तेषु पाठात् ।

५. ऋग्वेदे (१०।१२९।१) 'कुह कस्य शर्मन्' इति पठ्यते । रावणनामा ऋग्भाष्यकारः 'कुहकस्य' इत्येकं पदं मत्वा 'कुहकस्यैन्द्रजालिकस्य' इत्यर्थं चकार

कृषेर्वृद्धिश्चोदीचाम् ॥ ३९ ॥—कार्षकः; कृषकः ॥ ३९ ॥

उदकश्च ॥ ४० ॥

[1]वृश्चिककृषोः किकन् ॥ ४१ ॥—वृश्चिकः । कृषिकः ॥ ४१ ॥

प्राङि पणिकषः ॥ ४२ ॥—प्रापणिका । प्राकषिकः ॥ ४२ ॥

मुषेर्दीर्घश्च ॥ ४३ ॥—मूषिकः ॥ ४३ ॥

दाम्भिको, नीहारो वा । कृन्तति छिनत्तीति **कृतकं**, मिथ्या वा । भिनत्ति येन स **भिदकः**, खड्गो वा । छिनत्ति येन तत् **छिदकं**, वज्रो वा । रोचतेऽनेन तत् **रुचकम्**, मातुलुङ्गकं वा, 'बिजौरा नींबू' इति प्रसिद्धं वा । लङ्गति गच्छतीति **लङ्गकः**, प्रियो वा । उज्झत्युत्सृजतीति **उज्झकः** योगी[2] मेघो वा ॥

३९. कृषतीति **कार्षकः**, **कृषकः** वा कृषीवलः ॥

४०. उनत्ति क्लेदयतीति **उदकं** जलं वा ॥

४१. वृश्चति छिनत्तीति **वृश्चिकः** विषी जीवविशेषः, शूककीटो वा, [3]'केंचुआ' इति प्रसिद्धः । कृषति येन स **कृषिकः**[4], फालो वा ॥

४२. प्रकर्षेण समन्तात् पणायत्यसौ **प्रापणिकः**, पण्यविक्रयी वा । प्राकषति हिनस्तीति **प्राकषिकः**, पारदारिको वा ॥

४३. मुष्णाति पदार्थानिति **मूषिकः** आखुर्वा; स्त्रियां **'मूषिका'** । [5]अजादित्वात् [अ० ४।१।४] टाप् ॥

(द्र०—सूर्यपण्डितकृतं गीताभाष्यम् ६।१०) । तच्च स्वरदोषाच्चिन्त्यम् । वेदे 'कुह' 'कस्य' द्वे पदे, उभयत्रोदात्तत्वदर्शनात् ।

१. वैयमुद्रिते 'वृश्चिकृषोः' इत्यपपाठः ।

२. वैयमुद्रितेषु केषुचित्संस्करणेषु 'योगो' इत्यपपाठः ।

३. शूककीटस्य भाषापर्यायः ।

४. वैयमुद्रितेषु केषुचित् संस्करणेषु 'कृषकः' इत्यपपाठः ।

५. अजादौ 'मूषिका जातिः' इति गणसूत्रं पठ्यते । जातिवाचकात् प्राप्तस्य ङीषो (अ० ४।१।६३)ऽपवादः ।

स्यमेः सम्प्रसारणं च ॥ ४४ ॥—सीमिकः ॥ ४४ ॥

क्रिय इकन् ॥ ४५ ॥—क्रयिकः ॥ ४५ ॥

आङि पणिपनिपतिखनिभ्यः ॥ ४६ ॥—आपणिकः । आपनिकः । आपतिकः । आखनिकः ॥ ४६ ॥

श्यास्त्याहृञविभ्य इनच् ॥ ४७ ॥—श्येनः । स्त्येनः । हरिणः । अविनः ॥ ४७ ॥

वृजेः किच्च ॥ ४८ ॥—वृजिनम् ॥ ४८ ॥

अजेरज च ॥ ४९ ॥—अजिनम् ॥ ४९ ॥

बहुलमन्यत्रापि ॥ ५० ॥

---

४४. स्यमति शब्दयतीति **सीमिकः**, वृक्षभेदो वा ॥

४५. क्रीणाति द्रव्येण पदार्थान्तरं ददाति गृह्णाति वा स **क्रयिकः** क्रेता; **विक्रयिको** विक्रेता ॥

४६. [आ] समन्तात् पणायति व्यवहरति स **आपणिकः**, वैश्यो वा । आपणेन व्यवहरतीति तद्धिते ठकि[1] सिद्धे नित्स्वरार्थं वचनम् । आपनायतीति **आपनिकः**, म्लेच्छजातिर्वा । [आ] समन्तात् पततीति **आपतिकः**, श्येनो वा । [आ] समन्तात् खनतीति **आखनिकः**, मूषिको वराहो वा ॥

४७. श्यायति गच्छतीति **श्येनः**, पक्षिभेदो वा । स्त्यायति शब्दयति संघातयतीति स **स्त्येनः**, चौरो वा । हरतीति **हरिणः** मृगः, पाण्डुवर्णो वा; स्त्रियां 'हरिणी' सुन्दरी छन्दोभेदो हरितवर्णा वा । अवति रक्षणादिकं करोतीति **अविनः**, अध्वर्युर्वा ॥

४८. इनच् कित् । वृक्ते वर्जयतीति **वृजिनः**, केशः पापं वक्रो वा ॥

४९. अजति गच्छति क्षिपति वा तत् **अजिनम्**, चर्म वा । अजादेशो वीभावनिवृत्त्यर्थः ॥

५०. कठति कृच्छ्रेण जीवतीति **कठिनम्**, कठोरं वा । कुण्डते दहतीति **कुण्डिनः**, ऋषिर्वा, यस्यापत्यं **'कौण्डिन्यः'** । बर्हते प्रधानो भवतीति **बर्हिणः**,

---

१. नास्य साक्षाल्लक्षणं दृश्यते । शिष्टप्रयोगात् तृतीयासमर्थाद् व्यवहरत्यर्थे ठग् उपसंख्येयः । यद्वा—आपणमस्यास्तीत्यर्थे ठन् मत्वर्थीयो द्रष्टव्यः । प्रत्ययभेदात् स्वरभेदः प्राप्नोति । कतमोऽत्र स्वर इष्यते इति देवा ज्ञातुमर्हन्ति ।

द्रुदक्षिभ्यामिनन् ॥ ५१ ॥—द्रविणम् । दक्षिणः, दक्षिणा ॥ ५१ ॥

ग्रर्तेः किदिच्च ॥ ५२ ॥—इरिणम् ॥ ५२ ॥

वेपितुह्योर्ह्रस्वश्च ॥ ५३ ॥—विपिनम् । तुहिनम् ॥ ५३ ॥

तलिपुलिभ्यां च ॥ ५४ ॥—तलिनम् । पुलिनम् ॥ ५४ ॥

गर्वेरत उच्च ॥ ५५ ॥—गुर्विणी ॥ ५५ ॥

मयूरो वा । फलति विशीर्णो भवतीति **फलिनः**, फलवान् वृक्षो वा । नलति गन्धयुक्तो भवतीति **नलिनम्**, कमलं वा । मस्यति परिणमतीति **मसिनम्**, सुपिष्टं वा । मलते धरतीति **मलिनः**, मलयुक्तो वा । द्रुह्यति जिघांसतीति **द्रुहिणः**, ब्रह्मा वा । अन्धकारं द्यत्यवखण्डयतीति **दिनम्**, दिवसं वा । इनचः कित्त्वादाकारलोपः ॥

५१. द्रवति गच्छति द्रुयते प्राप्यते वा तद् [1]**द्रविणम्**, द्रव्यं सुवर्णं पराक्रमो वा । दक्षते वर्धते शीघ्रकारी भवति वा स **दक्षिणः**, सरलो [2]अवामभागः परतन्त्राऽनुवर्त्तनश्च, स्त्रियां **दक्षिणा**[3] दानं, प्रतिष्ठा वा ॥

५२. ऋच्छन्ति गच्छन्ति यत्र यस्माद्वा जनास्तत् **इरिणम्** शून्यम्, ऊषरभूमिर्वा ॥

५३. यत् वेपते कम्पते यत्र वा तद् **विपिनम्**, गहनं वा । तोहति गच्छति याचते वा तत् **तुहिनम्**, हिमं वा । गुणे कृते ह्रस्वः ॥

५४. तालयति प्रतितिष्ठतीति **तलिनम्**, विरलं पृथग्भूतं स्वल्पं स्वच्छं वा । पोलयति महान् भवतीति **पुलिनम्**, जलसामीप्यं[4] वा ॥

५५. गर्वति प्राप्नोति गर्वयति मुञ्चति वा सा **गुर्विणी** गर्भिणी वा ॥

---

१. वैमुद्रितेषु केषुचित् संस्करणेषु नोपलभ्यते । षष्ठे संस्करणे 'द्रव्यं' पदस्यैव 'द्रविणं' इत्येवं शोधनं कृतम् ।

२. वैयमुद्रिते 'वामभागः परतन्त्रोऽनुवर्तनं च' इत्यपपाठः । 'परछन्दानुवर्तनः' युक्ततरः पाठः स्यात् ।

३. दिग्वाची त्वपरो दक्षिणाशब्दः । स चान्तोदात्तः, 'दक्षिणा च' (फिट् ११९) इति सूत्रेण । अयन्त्विनन्तो नित्त्वादाद्युदात्तः ।

४. कूलमित्यर्थः । तथाहि प्रयुज्यते—'दर्शयन्तीह शरन्नद्यः पुलिनानि शनैः शनैः' । वा० रामा०

रुहेश्च ॥ ५६ ॥—रोहिणः ५६ ॥

महेरिनण् च ॥ ५७ ॥—माहिनम्; महिनम् ॥ ५७ ॥

क्विब् वचिप्रच्छिश्रिस्रुद्रुप्रुज्वां दीर्घोऽसंप्रसारणं च ॥ ५८ ॥—वाक् । प्राट् । श्रीः । स्रूः । द्रूः । कटप्रूः । जूः ॥ ५८ ॥

---

५६. रोहति वीजेन जायते स **रोहिणः**; [1]**प्रज्ञादित्वाद** [**अ० ५ । ४ । ३८** स्वार्थे] अण्=**रौहिणः**, चन्दनवृक्षो वा । जातिवाचकात् स्त्रियां ङीप् **रोहिणी**, गौर्वा ॥

५७. महति मह्यते पूज्यते वा तत् **माहिनम्**; **महिनम्**[2] राज्यं वा । चादिनजनुवर्त्तते ॥

५८. वक्ति शब्दानुच्चारयति यया सा **वाक्** । पृच्छतीति **प्राट्** । शब्दं पृच्छतीति '**शब्दप्राट्**' शिष्यो वा; **शब्दप्राशौ**, **शब्दप्राशः** । **छ्वोः शूडनुनासिके च** । [अ० ६।४।१९] इति छस्य शः । श्रयति श्रीयते वा सा **श्रीः**, ईश्वररचना शोभा वा । या स्रवति यस्या वा सा **स्रूः**, यज्ञसाधनं वा । द्रूयते प्राप्यते दुःखमनया सा **द्रूः**, हिरण्यं वा । कटेन कटिभागेन प्रवते गच्छतीति **कटप्रूः**, कामुको जनः कीटो वा । जवति शीघ्रं गच्छतीति **जूः**, शशोऽश्वो वृषभ आकाशं विद्या वा ।

बाहुलकात्—प्रवर्षन्ति मेघा यस्यां सा **प्रावृट्** ऋतुः । [3]द्वारयति संवृणोति यया सा **द्वाः**, **द्वारौ** । उदकेन श्वयति वर्धते तत् **उदश्वित्**, तक्रं वा । ऋचन्ति स्तुवन्ति यया सा **ऋक्** ॥

---

१. वैयमुद्रितेऽयं पाठोऽस्य सूत्रस्य वृत्तेरन्तेऽस्थाने पठ्यते । स्वार्थेऽण् विधानाद् रोहिणरौहिणावपि चन्दनवृक्षवाचकौ ।

२. वैयमुद्रिते प्रथमसंस्करणे 'महिनं' पदमिदं लेखकप्रमादान्मुद्रणप्रमादाद्वा नष्टम् । उत्तरसंस्करणे तदस्थाने 'महिनं माहिनं' इत्येवं स्थापितम् । षष्ठे संस्करणे यथास्थानं प्रापितम् ।

३. पाणिनीयधातुपाठस्य सायणभट्टोजिदीक्षिताभ्यां संस्कृते संस्करणेऽस्य धातोः स्थाने 'वृ' धातुः पठ्यते । क्षीरतरङ्गिण्यां (१।६६६, पृष्ठ १३९) प्राचीनायां धातुवृत्तौ 'द्वृ' इत्येव पाठ उपलभ्यते । अत्रास्मदीया टिप्पणी द्रष्टव्या, क्षीर० पृष्ठ १३९, रालाकट्रसं० ।

आप्नोतेर्ह्रस्वश्च ॥ ५९ ॥—आपः ॥ ५९ ॥

परौ व्रजेः षश्च पदान्ते ॥ ६० ॥—परिव्राट् ॥ ६० ॥

हुवः श्लुवच्च ॥ ६१ ॥—जुहूः ॥ ६१ ॥

स्रुवः कः ॥ ६२ ॥—स्रुवः ॥ ६२ ॥

चिक् च ॥ ६३ ॥—स्रुक् ॥ ६३ ॥

तनोतेरनश्च वः ॥ ६४ ॥—त्वक् ॥ ६४ ॥

ग्लानुदिभ्यां डौः ॥ ६५ ॥—ग्लौः । नौः ॥ ६५ ॥

च्विरव्ययम् ॥ ६६ ॥

---

५९. आप्नुवन्ति शरीरमिति **आपः** । अस्य नित्यं बहुवचनत्वं स्त्रीत्वं च । **अपः, अद्भिः, अद्भ्यः** इत्यादि ॥

६०. क्विप् । परितः सर्वतो व्रजति स **परिव्राट्**, [1]संन्यासी वा । **परिव्राजौ, परिव्राजः** ॥

६१. जुहोति ददात्यत्ति वा यया सा **जुहूः**, स्रुग्भेदो वा ॥

६२. स्रवति घृतमस्मात् स **स्रुवः**, यज्ञसाधनं वा ।

बहुलवचनात्—ध्रुवति स्थिरं भवतीति **ध्रुवम्**, निश्चलं वा ॥

६३. 'स्रु' धातोश्चिक् प्रत्ययोऽपि भवति । घृतमस्याः स्रवति सा **स्रुक्**, यज्ञोचितद्रव्यं वा ॥

६४. तनोति विस्तृता भवतीति **त्वक्**, [1]शरीरावरणं चर्म्म वल्कलं वा । **त्वचौ, त्वचः** ॥

६५. ग्लायति हर्षक्षयं करोतीति **ग्लौः**, चन्द्रमा वा । नुदति प्रेरयतीति **नौः**, जलतरणसाधनं वा ॥

६६. अत्रस्थ एजन्तप्रत्ययान्तश्च्व्यन्त एवाव्ययसंज्ञो भवति । एतेन नियमेनोणादीनां व्युत्पन्नपक्षे **कृन्मेजन्तः** [अ० १।१।३८] इत्यनेनाच्व्यन्ताना-मव्ययसञ्ज्ञा न भवति । अग्लौ ग्लौः संपद्यत इति **ग्लौकरोति, ग्लौभवति, ग्लौस्यात्, नौकरोति** इत्यादि । 'ग्लौः नौः' अत्र केवलानामव्ययसंज्ञाऽ-भावाद्विभक्तिलुङ् न भवति ॥

---

१. अयमर्थनिर्देशो वैयमुद्रितेऽस्थाने पठ्यते । २।६७,७० सूत्रवृत्तिवद् यथा-स्थानं नीतः ।

रातेर्डैः ॥ ६७ ॥—राः ॥ ६७ ॥

गमेर्डोः ॥ ६८ ॥—गौः ॥ ६८ ॥

भ्रमेश्च डूः ॥ ६९ ॥—भ्रूः । अग्रेगूः ॥ ६९ ॥

दमेर्डोसिः ॥ ७० ॥—दोः ॥ ७० ॥

पणेरिज्यादेश्च वः ॥ ७१ ॥—वणिक् ॥ ७१ ॥

वशः कित् ॥ ७२ ॥—उशिक् ॥ ७२ ॥

भृञ उच्च ॥ ७३ ॥—भुरिक् ॥ ७३ ॥

---

६७. राति ददाति रायते दीयते वा सा **राः**, [1]धनं सुवर्णं वा । **रायौ, रायः** । च्विप्रत्यये **'रैकरोति'** इत्यादि ॥

६८. गच्छति यो यत्र यया वा सा **गौः**, पशुरिन्द्रियं सुखं किरणो वज्रं चन्द्रमा भूमिर्वाणी जलं वा । गौरिवाऽयो गमनं प्राप्तिर्वाऽस्येति **'गवयः'** गोसदृशो वनपशुविशेषः; स्त्री **'गवयी'** । **गौरादित्वात्** [अ० ४।१।४१] ङीष् । च्विप्रत्यये **'गोकरोति'** इत्यादि ।

बाहुलकात्—द्योतन्ते लोका अस्यां यया वा द्योतते सा **द्यौः**, अन्तरिक्षं वा । **द्यावौ, द्यावः** इत्यादि ॥

६९. चाद् 'गम' धातोर्डूः । भ्रमति चलतीति **भ्रूः**, नेत्रयोरुपरि रेखा वा । अग्रे गच्छतीति **अग्रेगूः**, सेवको वा ॥

७०. दाम्यत्युपशाम्यति यो येन वा स **दोः**, [2]बाहुर्वा । **दोषौ, दोषः** ॥

७१. पणायति व्यवहरतीति **वणिक्**, [3]वैश्यो वा । **वणिजौ, वणिजः** । प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण् **'वाणिजः'** ॥

७२. [3]इजिः कित् । वष्टि यं कामयते यः[4] काम्यते वा स **उशिक्**, [5]अग्निर्घृतं वा । **उशिजौ, उशिजः** ॥

७३. भरति सर्वं धरतीति **भुरिक्**, भूमिर्वा । **भुरिजौ । भुरिजः** ॥

---

१. अयमर्थनिर्देशो वैयमुद्रितेऽस्थाने पठ्यते । २।६०, ६४, ७० सूत्रवृत्तिवद् यथास्थानं स्थापितः ।

२. अयमर्थनिर्देशो वैमुद्रितेऽस्थाने पठ्यते । २।६०, ६४, ६७ सूत्रवृत्तिवद् यथास्थानं नीतः ।

३. पाठोऽयं वैयमुद्रिते उत्तरसूत्रवृत्तेरादावस्थाने पठ्यते । अत्रैव सूत्रे कित्त्वस्य विधानादिह पाठो युक्तः ।

४. वैमुद्रिते 'यत्' इत्यपपाठः । ५. पूर्ववदस्थाने पठितः पाठ इहानीतः ।

जसिसहोरुरिन् ॥ ७४ ॥—जसुरिः । सहुरिः ॥ ७४ ॥

सुयुरुवृञो युच् ॥ ७५ ॥—सवनः । यवनः । रवणः । वरणः ॥ ७५ ॥

अशे रश च ॥ ७६ ॥—रशना ॥ ७६ ॥

उन्देर्नलोपश्च ॥ ७७ ॥—ओदनः ॥ ७७ ॥

गमेर्गश्च ॥ ७८ ॥—गगनम् ॥ ७८ ॥

बहुलमन्यत्रापि ॥ ७९ ॥

---

७४. जस्यति मुञ्चति जासयति हिनस्ति वेति **जसुरिः**, वज्रं वा। सहते भारमिति **सहुरिः**, सूर्य्यो भूमिर्वा ॥

७५. सवत्युत्पादयति सुनोति निस्सारयति रसान् वा स **सवनः**, चन्द्रमा वा। यौति मिश्रयत्यमिश्रयति वा स **यवनः**, म्लेच्छभेदो वा । रौति शब्दयतीति **रवणः**, कोकिलः पक्षी वा। वृणोति स्वीकरोतीति **वरणः**, उदकं वृक्षभेदो वा ॥

७६. युच् धातो रशादेशश्च । अश्नुते व्याप्नोतीति **रशना**, स्त्रियाः[1] कटिभूषणं वा। दन्त्यसकारवांस्तु 'रसना' शब्दो **नन्द्यादित्वाद्** [अ० ३। १।१३४] ल्युप्रत्ययान्तः । रसयत्यास्वादयति यया सा **रसना** जिह्वा। **कृत्यल्युटो बहुलम्** [अ० ३ । ३ । ११३] इति करणे ल्युः ॥

७७. उनत्त्यार्द्रीभवतीति **ओदनः**, भक्तं वा ॥

७८. मस्य गः । गच्छन्त्यस्मिन्निति **गगनम्**, आकाशं वा ॥

७९. अन्यधातुभ्योऽपि बहुलं युच् प्रत्ययो भवति। द्योततेऽसौ **द्योतनः**, प्रदीपो वा। स्यन्दते प्रस्रवति गच्छतीति **स्यन्दनः**, रथो वा। नयते प्राप्नोति रूपं येन तत् **नयनम्**, नेत्रं वा। चन्दत्याह्लादयतीति **चन्दनम्**, सुगन्धिर्वृक्षो वा। रोचतेऽसौ **रोचना**, गोरोचनमौषधं वा । अस्यति प्रक्षिपतीति **असनः**, पीतवर्णः शालवृक्षो वा। राजानमततीति **राजातनः**, पुष्पं वा। शृणोत्यनया सा **श्रवणा**, नक्षत्रं वा, [पुंसि **श्रवणः**, कर्णेन्द्रियं वा]। एवमन्येऽपि यथाप्रयोगं युच्प्रत्ययान्ताः शब्दाः साध्याः ॥

---

१. गैयमुद्रिते 'स्त्रियः' इत्यपपाठः ।

रञ्जेः क्युन् ॥ ८० ॥—रजनम् ॥ ८० ॥

भूसूधूभ्रस्जिभ्यश्छन्दसि ॥ ८१ ॥—भुवनम् । सुवनम् । निधुवनम् । भृज्जनम् ॥ ८१ ॥

कॄपॄवृजिमन्दिनिधाञः क्युः ॥ ८२ ॥—किरणः । पुरणः । वृजनम् । मन्दनम् । निधनम् ॥ ८२ ॥

---

८०. रजति वस्त्राण्यनेन तत् **रजनम्**[1], कुसुम्भं वा; स्त्रियां ङीष् 'रजनी' हरिद्रा । ल्युट्प्रत्यये सति **रञ्जनम्** इत्येव[2] भवति ।

बाहुलकात्—कल्पतेऽसौ **कृपणः**, लोभयुक्तो वा ॥

८१. क्युन् । भवतीति **भुवनम्**, लोको वा । बहुलवचनाद् भाषायामपि प्रयुज्यते[3] । सूते सूयते वा स **सुवनः**, ईश्वरः सूर्यो वा । धूनोति कम्पयतीति **धुवनः**, अग्निर्वा । **निधुवनम्**, रतिक्रीडा वा । यद् यस्मिन् वा भृज्जति परिपक्वं भवतीति **भृज्जनम्**, अन्नभर्जनकपालं वा ॥

८२. किरति विक्षिपत्यन्धकारमिति **किरणः** [,रश्मिर्वा] । पिपर्त्ति पालयति पूरयति [4]जलैः पूर्णो भवतीति वा स **पुरणः**, समुद्रो वा । वृक्ते वर्जयतीति **वृजनम्**,[5] अन्तरिक्षं बलं वा । यो येन वा मन्दते स्तौति स्वपिति

---

१. रजकरजनरजस्सूपसंख्यानम् (अ० ६।४।२४) इति वार्तिकेनानुनासिकलोपः ।

२. अर्थादनुनासिकलोपो न भवति । वैयमुद्रिते इतोऽग्रे 'स्वरभेदश्च' इत्यपि पाठ उपलभ्यते, स त्वसम्यक् । नहि क्युन् ल्युटोर्वा स्वरभेदः । क्युनि नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । ल्युटि 'लिति' (अ० ६।१।१८७) इति प्रत्ययात्पूर्वस्योदात्तत्वे स एव स्वरः ।

३. द्र०—काशिका ६।२।२०॥

४. वैयमुद्रिते 'जलै······तीति' पाठः 'पुरणः'पदादुत्तरमस्थाने पठ्यते । अस्माभिरिहानीतः ।

५. वेङ्कटमाधवस्तु स्वरभेदाद् वृजनस्यार्थभेदमाह । तदुक्तं देवराजयज्वना निघण्टुव्याख्याने (२।९ 'वृजनं'पदे)—

'वेङ्कटमाधवस्तु—मध्योदात्तं तु वृजनं वर्तते बलयुद्धयोः ।
वृजनेन वृजिनान्त्सं पिपेष (ऋ० ३।२।१६।१) ।
त्वं शुष्णं वृजने पृक्ष आणौ (ऋ० १।५।४।३) ।
जरयन्ती वृजनं (ऋ० १।४।३।५) तु वर्तते उपद्रवे इति ॥'

घृषेर्धिष च[1] संज्ञायाम् ॥ ८३ ॥—धिषणा ॥ ८३ ॥

हन्तेर्घुर च[2] ॥ ८४ ॥—घुरणः ॥ ८४ ॥

वर्त्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च ॥ ८५ ॥

कामयते वा तत् **भन्दनम्**, स्तोत्रं वा। नितरां दधाति यत्तत् **निधनम्** मरणं वा। बाहुलकात्—केवलादपि **धनम्** ॥[3]

८३. धृष्णोति प्रागल्भ्यं ददाति स **धिषणः** गुरुः; **धिषणा** बुद्धिर्वा। **अत्र सञ्ज्ञाग्रहणेन ज्ञायते उणादयः सामान्यार्थे यौगिका भवन्तीति।** सञ्ज्ञायास्तस्मिन्नर्थे रूढत्वात्। यदि च प्रकृतिप्रत्ययविभागेन [4]उणादिभ्यो यौगिकोऽर्थो न निस्सरेत्, तर्हि सर्वे उणादिस्थाः शब्दाः सञ्ज्ञावाचका एव स्युः। पुनः सञ्ज्ञाग्रहणमनर्थकं स्यात् ॥

८४. हन्ति हननेन वा प्रादुर्भवति स **घुरणः**, शब्दो वा ॥

८५. पृषदादयो वर्त्तमानार्थवाचका अतिप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते, शतृवच्चैषां कार्यं भवतीति[5]। पर्षति सिञ्चति हिनस्ति वा तत् **पृषत्**, मृगविशेषो विन्दुर्वा। **पृषतौ, पृषन्ति**; स्त्रियां **पृषती**। बर्हति वर्धतेऽसौ **बृहत्**। महत्यर्थे त्रिलिङ्गः; स्त्रियां '**बृहती**' छन्दोभेदो वा। महति पूजयति पूज्यते वा तत् **महत् महान्**; महतो भावो '**महिमा**'; स्त्रियां ङीप् '**महती**', नारदस्य सप्ततन्त्री वीणा वा। गच्छतीति **जगत्**। धातोर्जगादेशः[6]। संसारे नपुंसकं[7], वायुर्वा जगत् पुंसि, जङ्गमवाचिनि त्रिलिङ्गः; स्त्रियां **जगती** छन्दोभेदो जनो वा ॥

---

१. वैयमुद्रितेषु केषुचित् संस्करणेषु 'घृषेर्धिषच्' इत्यपपाठः।

२. वैयमुद्रिते 'हन्तेर्घुरच्' इत्यपपाठः।

३. बाहुलकाद् भन्देरपि क्युन्—भन्दनः। द्र०—'भन्दनानाम्'। यजु० ८।४८॥ एवं दंसेर्दंसनः (द्र०—यजुः १०।३४)।

४. कार्ये कारणशब्दोपचारः उणादिप्रत्ययान्तैः सिद्धा औणादिका इत्यर्थः।

५. शतृवदतिदेशात् नुम् स्त्रियां 'उगितश्च' (अ० ४।१।६) इति ङीप् च भवति।

६. यद्वा गमेर्निपातनाद् द्विर्वचनम् मकारलोपश्च।

७. अत्र कदाचित् 'संसारे नपुंसकं स्याद् वायुवाची जगत् पुंसि' इत्येवं शुद्धः पाठः स्यात्।

संश्चत्तृपद्वेहत् ॥ ८६ ॥

छन्दस्यसानच् शुजॄभ्याम् ॥ ८७ ॥— शवसानः । जरसानः ॥ ८७ ॥

ऋञ्जिवृधिमन्दिसहिभ्यः कित् ॥ ८८ ॥—ऋञ्जसानः । वृधसानः । मन्दसानः । सहसानः ॥ ८८ ॥

---

८६. एतेऽप्यतिप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । संश्चीयतेऽसौ **संश्चत्**[1], कुहको वा । संपूर्वस्य[2] सुट् धातोरिकारलोपश्च । संश्चदिवाचरति **संश्चायते** धूमः, भृशादित्वात्[3] क्यङ् । तृप्नोति प्रीणयतीति **तृपत्**, छत्रं वा । विशेषण हन्तीति **वेहत्**, विहन्ति गर्भमिति गर्भोपघातिनी गौर्वा । वेरुपसर्गस्यैकारादेशो धातोश्च टिलोपः । पूर्वसूत्रात् पृथक्करणं शतृवद्भावनिवृत्त्यर्थम् । तेन— वेहतौ, वेहतः; संश्चतौ, [संश्चतः] इत्यादि सिद्धम्[4] ॥

८७. शवन्ति गच्छन्त्यस्मिन् स **शवसानः**, मार्गो वा । जीर्यति वयसा हीनो भवतीति **जरसानः**[5], वृद्धो जनो वा ॥

बाहुलकाद्—दृणाति तमो विदारयतीति **दरसानः**, प्रकाशो वा । तरति[6] येन स **तरसानः**, नौका वा । वृणोतीति **वरसानः**, कृतदारो वा ॥

८८. ऋञ्जत्योषध्यादिकं पाचयतीति **ऋञ्जसानः**, मेघो वा ।

---

१. 'अनुस्वारं नेच्छन्त्येके । सश्चत् कुहकः' इति हैमोणादिवृत्तिः ८८२, पृष्ठ १४२ । २. गैयमुद्रिते 'प्रत्ययस्य' इत्यपपाठः ।

३. 'भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः' (अ० ३।१।१२) इत्यनेन क्यङ् तकारस्य लोपश्च ।

४. अर्थादत्र नुम् न भवति । एवं 'वेहत्' गर्भघातिनी गौरित्यत्र ङीबपि न भवति ।

५. दशपाद्युणादिवृत्तौ (५।२६, पृष्ठ १६१) तरसानशब्दस्यार्थनिर्देशकः कश्चिच्छ्लोक उद्ध्रियते—

"शशाङ्के भास्करे चैव वायवग्नौ प्रजापतौ ।
इन्द्रे मनोरथे प्रश्ने तरसानं स्मरेद् बुधः ॥"

६. गैयमुद्रिते 'तरयति' इत्यपपाठः ।

ऋत्तेर्गुणः शुट् च ॥ ८९ ॥—अर्शसानः ॥ ८९ ॥

सम्यानच् स्तुवः ॥ ९० ॥—संस्तवानः ॥ ९० ॥

युधिबुधिदृशः किच्च ॥ ९१ ॥—युधानः । बुधानः । दृशानः ॥ ९१ ॥

हुर्च्छेः सनो लुक् छलोपश्च ॥ ९२ ॥—जुहुराण ॥ ९२ ॥

श्वितेर्दश्च ॥ ९३ ॥—शिश्विदानः ॥ ९३ ॥

मुचियुधिभ्यां सन्वच्च ॥ ९४ ॥—मुमुचानः । युयुधानः ॥ ९४ ॥

वर्धतेऽसौ **वृधसानः**, पुरुषो वा । मन्दते स्तुत्यादिकं करोतीति **मन्दसानः**[1], जीवोऽग्निर्वा । सहतेऽसौ **सहसानः**, मयूरो यज्ञो वा ॥

८९. य ऋच्छति प्राप्नोति सर्वान् स **अर्शसानः**,अग्निर्वा । धातोर्गुणः[2] प्रत्ययस्य शुडागमश्च ॥

९०. सम्यक् स्तौतीति **संस्तवानः**, वाग्मी वा ॥

९१. युध्यतेऽसौ **युधानः**, शत्रुर्वा । बुध्यते स **बुधानः**, आचार्यो वा । पश्यतीति **दृशानः**, लोकपालः सूर्यो वा ।

बाहुलकात्—कल्पते समर्थो भवतीति **कृपाणः**, खड्गो वा । पाषयति स्थूलो भवतीति **पाषाणः**, [दृषद् वा । बाहुलकाण्णित्त्वम्] । णित्वाद् वृद्धिः ॥

९२. हूर्च्छति कुटिलो भवतीति **जुहुराणः**, चन्द्रमा वा ॥

९३. सनो लुक् तकारस्य दकारः । किदित्यनुवृत्तेर्गुणनिषेधः । श्वेततेऽसौ **शिश्विदानः**, पापकर्मा वा ॥

९४. मुञ्चत्यसौ **मुमुचानः** मोचकः । युध्यतेऽसौ **युयुधानः** योद्धा ॥

---

१. दशपाद्युणादिवृत्तौ (५।३०, पृष्ठ १९२) 'मन्दसान' शब्दस्यार्थनिदर्शकः श्लोक उद्ध्रियते—

"जीवेऽग्नौ भास्करे चैव शशाङ्के हंसके तथा ।
मन्दसानं स्मरेद् धीमान् स्वरे च पञ्चके स्थितम् ॥"

दशपाद्युणादिवृत्तेः खकोशे 'पञ्चस्वर्थेषु संस्थितम्' इति चतुर्थचरणस्य पाठः ।

२. कितोऽनुवृत्तिमाश्रित्य सूत्रे गुण उच्यते ।

तृन्तृचौ शंसिक्षदादिभ्यः सञ्ज्ञायां चानिटौ ॥ ९५ ॥—**शंस्ता**[1] । [**शास्ता** । **प्रशास्ता** ।] **क्षत्ता**[2] । [**क्षोत्ता** । **उन्नेता**] ॥ ९५ ॥

[3]**बहुलमन्यत्रापि ॥ ९६ ॥**

नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृपोतृभ्रातृजामातृमातृपितृदुहितृ ॥ ९७ ॥

---

९५. शंस्यादिभ्यः क्षदादिभ्यश्च यथाक्रमं तृन्तृचौ, तौ चानिटौ । शंसति स्तौतीति **शंस्ता** स्तोता । अप्तृन्तृच्० [अ० ६ । ४ । ११] इति सूत्रे नप्तृप्रभृतेः पृथक् पाठादौणादिकयोस्तृन्तृचोर्ग्रहणं न भवति । तेन **शंस्तारौ**, **शंस्तारः** इत्यादिषु दीर्घो न भवति । शास्ति शिक्षते धर्मादिकमिति **शास्ता**, पण्डितो वा । **प्रशास्ता** राजा, **प्रशास्तारौ**, **प्रशास्तारः** । परिगणनाद् दीर्घः । 'क्षद संवृतौ' इति सौत्रो धातुः । क्षदति संवृणोतीति **क्षत्ता**, सारथि-र्द्वारपालो वैश्यायां शूद्राज्जातो वा । क्षुनत्ति संपिनष्टि येन स **क्षोत्ता**, मुसलो वा । उन्नयति कार्याणीति **उन्नेता** ऋत्विग्वा ॥

९६. [अन्यत्रापि बहुलं तृन्तृचौ भवतः ।] मन्यते जानात्यसौ **मन्ता**, विद्वान् [वा] । हन्तीति **हन्ता**, चौरो वा । [दधाति सर्वं जगदिति] **धाता**, ईश्वरो वा । उपदिशतीति **उपदेष्टा** गुरुः [वा] इत्यादि ॥ ९६ ॥

९७. नप्त्रादयो दश तृन्तृजन्ता[4] निपात्यन्ते । [5]नपततीति **नप्ता**, पौत्रो दौहित्रो वा । 'नप्तुः पुत्रः प्रनप्ता स्यात्, नप्त्री[6] पौत्री [सुतात्मजा][7] । नञः प्रकृतिभावः [धातोश्च टिलोपः] । नयतीति **नेष्टा**, ऋत्विग्वा । नयतेः षुक् । [8]त्विष्यते दीप्यतेऽसौ **त्वष्टा**, सूर्यो वा । इकारस्याकारः । जुहोतीति

---

१. वैयमुद्रितेषु इतोऽग्रे 'शंस्तारौ' इत्यनावश्यकः पाठः ।

२. वैयमुद्रितेषु इतोऽग्रे 'क्षत्तारौ' इत्यनावश्यकः पाठः ।

३. सूत्रमिदं वैयमुद्रितेषु नोपलभ्यते । पूर्वसूत्रवृत्त्यन्तरमस्योदाहरणान्युपलभ्यन्ते।

४. तत्र स्वरानुसारं प्रत्ययव्यवस्था द्रष्टव्या ।

५. वैयमुद्रितेषु 'नपतीति' अपपाठः ।

६. 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (अ० ४।१।५) इति ङीप् । केचन वैयाकरणा 'नप्तृ'शब्दं स्वस्रादिषु (अ० ४।१।१०) पठन्ति । तन्मते स्त्रियां 'नप्तृ' इत्येव भवति ।

७. अनुपलब्धमूलम् ।

८. वैयमुद्रिते 'त्विष्यते'पदं प्रमादान्नष्टमभूत् । उत्तरसंस्करणे शोधकेन 'दीप्यते'

स्वसेर्ऋन् ॥ ९८ ॥—स्वसा ॥ ९८ ॥

यतेर्वृद्धिश्च ॥ ९९ ॥—याता ॥ ९९ ॥

नञि च नन्देः ॥ १०० ॥—ननान्दा; ननन्दा ॥ १०० ॥

दिवेर्ऋः ॥ १०१ ॥—देवा ॥ १०१ ॥

होता, यजमानो वा । व्यापकत्वेन सर्वं पुनातीति **पोता**, विष्णुरीश्वरः [वा]। भ्राजते[1] दीप्यतेऽसौ **भ्राता**, सोदर्यो वा । [धातोर्] जकारलोपः । जायां कन्यां माति मिनोति मिमीते मार्जयति वा स **जामाता**, दुहितुः पतिः [वा] । [मिनोतेराकारादेशः,] 'मृज' धातोः [वृद्धौ] सति रेफजकारलोपः । मानयति सत्करोतीति **माता**, उत्पादिका वा । [धातोरन्त्यलोपः] स्वस्रादित्वात् ङीप्[2] निषेधः । पाति रक्षतीति **पिता**, जनको वा । [धातोराकारस्येत्वम् ।] दोग्धि कार्याणि प्रपूरयतीति[3] **दुहिता**, [4]पुत्री वा । दुहितुरपत्यं **'दौहित्रः'**[5] ॥

९८. सुष्ठ्वस्यतीति **स्वसा**, भगिनी वा ॥

९९. यततेऽसौ **याता** । भ्रातॄणां भार्याः परस्परं **यातारो** भवन्ति ।

१००. न नन्दति तुष्यतीति **ननान्दा** । बाहुलकाद् वृद्ध्यभावे—**ननन्दा**, पत्युर्भगिनी वा ॥

१०१. दीव्यति क्रीडादिकं करोतीति **देवा**, पत्युः कनीयान् भ्राता वा ॥

पदमशुद्धं मत्वा तस्य स्थाने 'त्विष्यते' इत्येवं शोधनं कृतम् । अतो द्वितीयसंस्करणादारभ्य 'दीप्यते' पदं नोपलभ्यते ।

१. गैयमुद्रिते प्रथमसंस्करणे विद्यमानोऽपि 'भ्राजते दीप्यतेऽसौ' पाठः २-३-४ संस्करणेषु न दृश्यते ।

२. गैयमुद्रिते 'टाप्' इत्यपपाठः । मातुर्ऋकारान्तत्वाद् 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (अ० ४।१।५) इति ङीप् प्राप्नोति, न टाप् । उज्ज्वलदत्तीयोणादिवृत्तावपि 'टाप्' इत्येव अपपाठः ।

३. यदा तु 'प्रपूरणे' इत्यस्य रिक्तीकरणमर्थः, यथा 'गां दोग्धि', तदा दोग्धि पितरं धनादिना रिक्तीकरोति इति 'दुहिता' । यदा यदा हि सा पितृकुलं गच्छति, तदा तदा ततो धनं लभते ।

४. गैयमुद्रितेषु केषुचित् संस्करणेषु 'पुत्रो' इत्यपपाठः ।

५. बिदादित्वात् (अ० ४।१।१०४) अञ् ।

नयतेर्डिच्च ॥ १०२ ॥—ना ॥ १०२ ॥

सव्ये स्थश्छन्दसि ॥ १०३ ॥—सव्येष्ठा ॥ १०३ ॥

अर्तिसृधृधम्यम्यश्यवितॄभ्योऽनिः ॥ १०४ ॥—अरणिः । सरणिः । धरणिः । धमनिः । अमनिः । अशनिः । अवनिः । तरणिः ॥ १०४ ॥

---

१०२. ऋप्रत्ययस्य डित्वाट्टिलोपः । कार्याणि नयतीति **ना**, नरौ, नरः । [स्त्रियां 'नृनरयोर्वृद्धिश्च' इति 'शार्ङ्गरवादिगणसूत्रात् ङीन्] नारी,[2] वद्धकेशा वधूर्वा ॥

१०३. डित्वादाकारलोपः । सव्ये वामभागे तिष्ठतीति **सव्येष्ठा**, सारथिर्वा । सप्तम्या अलुक्[3] ॥

१०४. ऋच्छति प्राप्नोति येन स **अरणिः**, अग्न्युत्पत्तये मथनी द्वे दारुणी वा । सरन्ति गच्छन्त्यस्मिन् स **सरणिः**, मार्गो वा । ण्यन्तात् 'सृ' धातोरनिः '**सारणिः**'; स्त्रियां '**सारणी**'[4] । बाहुलकात्—शृणाति हिनस्तीति '**शरणिः**' । धरति सर्वमिति **धरणिः**, पृथिवी वा । 'धमिः' सौत्रो धातुः[5] । धमति प्रापयति रसादिकमिति **धमनिः**, नाडी वा । अमतीति **अमनिः**, गतिर्वा । येनाश्नाति योऽश्नुते व्याप्नोति वा स **अशनिः**, वज्रम् वा । अवति रक्षणादिकं करोतीति **अवनिः**, भूमिर्वा । तरति येन यया वा स सा वा **तरणिः**, सूर्यः कुमारी नौकौषधिभेदो वा ।

बाहुलकात्—रजतीति **रजनिः**, रात्रिर्वा । नलोपः । स्त्रियां '**रजनी**'[6] द्राक्षा हरिद्रा वा ॥

---

१. अ० ४।१।७३॥

२. गैयमुद्रिते प्रथमसंस्करणे संशोधनपत्रे परिवर्धितोऽप्यं पाठ उत्तरसंस्करणेषु नोपलभ्यते । षष्ठे पुनर्दृश्यते ।

३. 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' (अ० ६।३।१३) इत्यनेन । 'अम्बाम्बगोभूमि०' (अ० ८।३।९७) इत्यादिना षत्वम् ।

४. 'कृदीकारादक्तिनः' (अ० ४।१।४५) इतिगणसूत्रान्ङीप् ।

५. इहैव पठितः । पाघ्रादीनां स्थाने आदेशत्वेन विहिताः (द्र०—अ० ७।३।७८) पिबादयः स्वतन्त्रा धातवः । धमिः प्रकृत्यन्तरमिति क्षीरस्वामी (द्र०—क्षीरतरङ्गिणी १।६५९, पृष्ठ १३६, रालाकट्रस०) । तत्रास्मदीया टिप्पण्यप्यवलोकनीया ।

६. उ० २।८० सूत्रवृत्तावपि 'रजनी'शब्दः साधितः ।

आङि शुषेः सनश्छन्दसि ॥ १०५ ॥—आशुशुक्षणिः ॥ १०५ ॥

कृषेरादेश्च घः[1] ॥ १०६ ॥—घर्षणिः ॥ १०६ ॥

अदेर्मुट् च ॥ १०७ ॥—अद्मनिः ॥ १०७ ॥

वृतेश्च ॥ १०८ ॥—वर्त्तनिः ॥ १०८ ॥

क्षिपेः किच्च ॥ १०९ ॥—क्षिपणिः ॥ १०९ ॥

अर्चिशुचिहुसृपिछादिछर्दिभ्य इसिः ॥ ११० ॥—अर्चिः । शोचिः । हविः । सर्पिः । छदिः । छर्दिः ॥ ११० ॥

---

१०५. सन्नन्तादाङ्पूर्वादनिः प्रत्ययः । समन्तात् शुष्यन्ति पदार्था येन स **आशुशुक्षणिः**, अग्निर्वा ॥

१०६. कृषतीति **घर्षणिः**, पुंश्चली स्त्री वा; ङीष् **'घर्षणी'**[2] ॥

१०७. अत्तीति **अद्मनिः**, अग्निर्वा ॥

१०८. वर्तते यस्मिन्निति **वर्तनिः**, मार्ग एकपदी[3] वा ॥

१०९. क्षिपत्यनेन शत्रून् स **क्षिपणिः**, आयुधं वा ॥

११०. अर्चति येन तत् **अर्चिः**, दीप्तिर्वा । शोचति शोचयतीति **शोचिः**, प्रकाशो वा । हूयते यत्तत् **हविः**, होमयोग्यं वस्तु वा । [4]यद् येन वा सर्पति तत् **सर्पिः**, घृतं वा । छादयति येन तत् **छदिः**, छादनं तृणादिछादनसाधनं वा । इस्मन्त्रन्० [अ० ६।४।९७] इति ह्रस्वादेशः । छर्दति यत्तत् **छर्दिः**, [5]वमनव्याधिर्वा ।

बाहुलकात्—समन्तादवतीति **आविः**, प्राकट्यम् [वा] । अव्ययशब्दोऽयम् ॥

---

१. श्वेतवनवासिनारायणवृत्त्योर्दशपाद्युणादिवृत्तौ च 'कृषेरादेश्च चः' इति पाठः । तेन कृषतीति चर्षणिः मनुष्यो वा । निघण्टौ (२।३) 'चर्षणयः' पदं मनुष्यनामसु पठितम् । अनेन वृत्तिकारेणापि स्वीये वेदभाष्ये चर्षणिशब्दव्याख्यानेऽयमेव पाठ उद्धृतः । द्र०—ऋग्भाष्य १।२७।९॥

२. 'कृदीकारदक्तिनः' (अ० ४।१।४५) इति गणसूत्रान्ङीष् ।

३. 'पगदण्डी' इति लोके प्रसिद्धा ।

४. गैयमुद्रिते 'यत्येन' इत्यपपाठः । प्रथमसंस्करणे 'यो येन' पाठः, सोऽपपाठ एव, सर्पिषो नपुंसकलिङ्गत्वात् । इह २।११८ सूत्रवृत्तिपाठस्तट्टिप्पणं चापि द्रष्टव्यम् ।

५. गैयमुद्रिते 'वमनं व्याधिर्वा' इत्यपपाठः ।

बृंहेर्नलोपश्च ॥ १११ ॥—बर्हिः ॥ १११ ॥

द्युतेरिसिन्नादेश्च जः ॥ ११२ ॥—ज्योतिः ॥ ११२ ॥

वसौ रुचेः सञ्ज्ञायाम् ॥ ११३ ॥—वसुरोचिः ॥ ११३ ॥

भुवः कित् ॥ ११४ ॥—भुविः ॥ ११४ ॥

सहो धश्च ॥ ११५ ॥—सधिः ॥ ११५ ॥

पिबतेस्थुक् ॥ ११६ ॥—पाथिः ॥ ११६ ॥

जनेरुसिः ॥ ११७ ॥—जनुः ॥ ११७ ॥

मनेर्धश्छन्दसि ॥ ११८ ॥—मधुः ॥ ११८ ॥

---

१११. बृंहति वर्द्धते तद् बर्हिः, दर्भो वा ॥

११२. द्योतते प्रकाशते तत् ज्योतिः, अग्निः सूर्यादिकं वा । ज्योतिरधिकृत्य कृतो ग्रन्थो 'ज्योतिषम्'। [1]संज्ञापूर्वकविधेरनित्यत्वाद् वृद्धिनिषेधः ॥

११३. वसूनग्न्यादीन् रोचतेऽसौ वसुरोचिः, यज्ञो वा । बाहुलकात्—केवलादपि रोचिः, ज्वाला वा ॥

११४. इसिन् कित् । यो भवति यस्मिन् वा स भुविः, समुद्रो वा ॥

११५. इसिन् । सहते भारमिति सधिः, अनड्वान् वा ॥

११६. पिबति यो येन वा तत् पाथिः, चक्षुः समुद्रो वा ॥

११७. जायते यत्तत् जनुः, जननं वा । जनुषी, जनूंषि ॥[2]

११८. मन्यते बुध्यते [3]यद् येन वा तत् मधुः, पवित्रद्रव्यं वा ॥

---

१. 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' इति परिभाषा केषाञ्चिन्मते ।

२. इतोऽग्रे वैयमुद्रिते उपलभ्यमानः 'बाहुलकात् ··· मनुषी' पाठोऽस्माभिः 'अतिपृवपि०' इत्युत्तरसूत्रवृत्त्यन्ते नीतः, मनुष आद्युदात्तत्वदर्शनात् ।

३. वैयमुद्रितयोः प्रथमषष्ठसंस्करणयोः 'यो येन' इत्यपपाठः । इह २।११० सूत्रवृत्तौ सर्पिः शब्दनिर्वचनं तट्टिप्पणं च द्रष्टव्यम् ।

अर्त्तिपॄवपियजितनिधनितपिभ्यो नित् ॥ ११९ ॥—अरुः । परुः । वपुः । यजुः । तनुः । धनुः । तपुः ॥ ११९ ॥

एतेर्णिच्च ॥ १२० ॥—आयुः ॥ १२० ॥

चक्षेः शिच्च ॥ १२१ ॥—चक्षुः ॥ १२१ ॥

मुहेः किच्च ॥ १२२ ॥—मुहुः ॥ १२२ ॥

कॄगॄशॄवृञ्चतिभ्यः ष्वरच् ॥ १२३ ॥—कर्वरः । गर्वरः । शर्वरी । वर्वरः । चत्वरम् ॥ १२३ ॥

---

११९. ऋच्छति प्राप्नोतीति **अरुः**, आदित्यो व्रणो वा । पिपर्त्ति येन तत् **परुः**, ग्रन्थिर्वा । वपति बीजादिकमस्मात् तत् **वपुः**, शरीरं वा । यजति येन तद् **यजुः**, वेदविशेषो वा । तनोति कार्याण्यनेन तत् **तनुः**, शरीरं वा । दिधन्ति धनादिकं प्राप्नोति येन तत् **धनुः**, बाणक्षेपणं वा । तपति दुःखयतीति **तपुः**, सूर्योऽग्निः शत्रुर्वा ।

'बाहुलकात्—'मन' धातोरपि । मन्यते जानातीति **मनुः**, **मनुषी** ॥

१२०. ईयते प्राप्यते यत्तत् **आयुः**, जीवनं वा । जटापूर्वात् '**जटायुः**' पक्षिराजः ॥

१२१. चक्षते रूपमनुभवन्त्यनेन तत् **चक्षुः**, नेत्रं वा । चक्षुषा गृह्यत इति '**चाक्षुषं**'[2] रूपम् ॥

१२२. मुह्यति भ्रान्तो भवतीति **मुहुः**, पौनःपुन्येऽर्थेऽव्ययं वा ॥

१२३. किरति विक्षिपतीति **कर्वरः**, व्याघ्रो दुष्टो वा; '**कर्वरी**'[3]

---

१. अयं पाठः २।११७ वृत्त्यनन्तरं वैयमुद्रित उपलभ्यते । मनुष आद्युदात्तत्वादिह नित्प्रकरणे तस्य पाठो युक्त इति कृत्वेहानीतः । अत्रास्य वृत्तिकारस्य ऋग्भाष्यं तत्रस्थास्मदीया टिप्पणी च द्रष्टव्या (ऋग्भाष्य भाग २, पृष्ठ ३०४, टि० ३) ।

२. शेषे (अ० ४।२।९१) इति लक्षणमधिकारश्चेति व्याख्यातारः । तेनानेनैव 'गृह्यते' इत्यस्मिन्नर्थेऽण् प्रत्ययो भवति ।

३. प्रत्ययस्य षित्त्वात् 'षिद्गौरादिभ्यश्च' (अ० ४।१।४१) इति ङीष् ।

नौ षद्देः ॥ १२४ ॥—निषद्वरः ॥ १२४ ॥

इत्युणादिषु द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

रात्रिर्व्याघ्री दुष्टा वा । गिरति निगरतीति **गर्वरः**, अहङ्कारः [वा] । अहङ्कारयोगाद्'**गर्वरो**' नायकः । शृणाति हिनस्ति प्रकाशमिति **शर्वरी**, रात्रिर्वा । वृणातीति **वर्वरः**, प्राकृतजनो वा । चतते याचते स्वीक्रियते यत्तत् **चत्वरम्**, अङ्गनं[1] वा ॥

१२४. निषीदति यो यत्र वा स **निषद्वरः**, पङ्को; '**निषद्वरी**' रात्रिर्वा ॥

इत्युणादिव्याख्यायां वैदिकलौकिककोषे द्वितीयः पादः ॥ २ ॥



---

१. 'आंगन' इति प्रसिद्धम् । वस्तुतो गृहाग्रभागे निर्मितं स्थण्डिलम् । 'चबूतरा' इति तस्यैव लोकेऽपभ्रंशः । तत्सादृश्यात् स्थण्डिलमात्रं लोके 'चबूतरा' इत्युच्यते ।

[अथ तृतीयपादारम्भः]



छित्वरछत्वरधीवरपीवरमीवरचीवरतीवरनीवरगह्वरकट्वरसंयद्वराः॥ १ ॥

इण्सिञ्जिदीङुष्यविभ्यो नक् ॥ २ ॥—इनः । सिनः । जिनः । दीनः । उष्णः । ऊनः ॥ २ ॥

---

१. छित्वरादय एकादश शब्दाः ष्वरच्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । छिनत्तीति **छित्वरः**, धूर्तः शत्रुश्छेदनद्रव्यं वा । छदतेऽपवारयतीति **छत्वरः**, गृहं लताच्छादितं स्थानं वा । अत्रोभयत्र धातुदकारस्य तकारः । 'डुधाञ् [धारणे']', 'पा पाने' 'मा माने' एषामीत्वमन्त्यस्य, [मिनोतेर्दीर्घत्वं च] । दधातीति **धीवरः**, नौवाहको वा । पिबति दुग्धादिकमिति **पीवरः**, स्थूलो वा । माति मीनाति हिनस्ति वा स **मीवरः**, हिंसको वा । चिनोति तृणादिना चीयते वा स **चीवरः**, **चीवरं**, वस्त्रं मुनिपरिधानं[2] वा । धातोर्दीर्घादेशः । तीरयति कर्म्मसमाप्तिं करोतीति **तीवरः**, जातिविशेषो वा । रेफलोपो गुणाभावश्च । नयतीति **नीवरः**, परिव्राट् वा । गुणविषेधः । गाहते विलोडयतीति **गह्वरम्**, गहनं वा । ह्रस्वादेशः । कटति वर्षत्यावृणोति वा तत् **कट्वरम्**, भोज्यं व्यञ्जनं वा । संयच्छतीति **संयद्वरः**, नृपो वा । मकारस्य दकारः ।

बाहुलकात्—उपजुहोतीति **उपह्वरः**,[3] रथो वा । [धातोरन्त्यलोपः ।] ष्वरच्प्रत्ययस्य षित्वात् स्त्रियां 'छित्वरी' इत्यादि, सर्वत्र ङीष् ॥

२. एतीति **इनः**, ईश्वरो राजा प्रभुः सूर्यो वा । इनेन स्वामिना

---

१. प्रथमसंस्करणे नास्ति । द्वितीये परिवर्धितम् ।

२. गैयमुद्रिते 'मुनिस्थानम्' इत्यपपाठः । स्कन्दस्वामी निरुक्तटीकायां (११।४७) 'चीवरशब्दो लोहवचनः' इत्युक्तवान् ।

३. 'उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्' (ऋ० ८।६।२८) इत्यस्मिन् मन्त्रे उपह्वरशब्देन कन्दरा (गुहा) उच्यते ।

फेनमीनौ ॥ ३ ॥

कृषेर्वर्णे ॥ ४ ॥—कृष्णः ॥ ४ ॥

सह वर्त्तत इति 'सेना'। सिनोति बध्नातीति सिनः, काणो वा । जयतीति जिनः, अतिवृद्धो जयशीलो नास्तिकभेदो वा। दीयते क्षीणो भवतीति दीनः, दुःखी वा। ओषति दहतीति उष्णम्, ईषत्तप्तं वा। वाच्यलिङ्गः । अवति रक्षादिकं करोतीति ऊनः, असंपूर्णं वा। [ज्वरत्वर० (अ० ६ । ४ । २०) इत्यादिना ऊठ् ॥]

३. स्फायते वर्द्धते स फेनः, हिण्डीरः[1] 'समुद्रफेन' इति प्रसिद्धः, जलविकारो वा। फेनायते[2] नदी। [स्फायतेर्धातोः 'फे' आदेशः ।] मीनाति हिनस्तीति मीनः, राश्यन्तरो[3] मत्स्यो वा ॥

४. कृषतीति कृष्णः[4], नीलवर्णो वा; कृष्णा, पिप्पली वा।

बाहुलकात्—जिघर्ति क्षरति चित्तं यया सा घृणा, दौर्मनस्यं[5] वा ॥

---

१. वैयमुद्रितप्रथमद्वितीयसंस्करणयो शुद्धः सन्नप्ययं पाठः केषुचित् संस्करणेषु 'हिण्डोरः' इत्येवं भ्रष्टतां नीतः।

२. लोहितादिषु (३।१।१३) पाठात् क्यष् । 'लोहितडाज्भ्यः क्यष्वचनं भृशादिष्वितराणि' इति महाभाष्यवचनात् क्यङ् ।

३. एतन्नाम्ना प्रसिद्धः।

४. वर्णवाची कृष्णशब्दो नक्प्रत्ययान्त अन्तोदात्तः, मृगवाची त्वाद्युदात्तः, नामधेयवचन आद्युदात्तोऽन्तोदात्तश्चेति स्वरभेदादर्थभेदव्यवस्था द्रष्टव्या। तदुक्तम्—'कृष्णस्यामृगाख्या चेत्, वा नामधेयस्य' इति (फिट् सूत्र १।११,१२) इयं व्यवस्था बाहुलकाद् बोध्या।

५. जिघर्ति क्षरति आर्द्री भवति चित्तं यया सा इतिव्युत्पत्त्या 'घृणा'शब्देन दयोच्यते। तथा च महाभारते शान्तिपर्वणि (१२।१८) प्रयुज्यते—

अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यं दमो घृणा।
एतत्तपो विदुर्धीरा न शरीरस्य शोषणम्॥

महाभारते घृणाशब्दोऽस्मिन्नर्थे बहुत्र प्रयुज्यते।

बन्धेर्ब्र धिबुधी च ॥ ५ ॥—ब्रध्नः । बुध्नः ॥ ५ ॥

धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः ॥ ६ ॥—धानाः । पर्णम् । वस्नः । वेनः । अत्नः॥६॥

लक्षेरट्मुट् च ॥ ७ ॥— लक्षणम् । लक्ष्मणम् ॥ ७ ॥

वनेरिच्चोपधायाः ॥ ८ ॥—वेन्ना ॥ ८ ॥

सिवेष्टेर्यू च ॥ ९ ॥—स्यूनः ॥ ९ ॥

---

५. ब्रध्नातीति **ब्रध्नः** । [बुध्नातीति][1] **बुध्नः** । **ब्रध्नो**, महान् सूर्य्यो वा । **बुध्नो**, मेघो मूलम् अन्तरिक्षं वा ॥

६. दधतीति[2] **धानाः**, अग्निपक्वा यवा वा । नित्यं स्त्रीलिङ्गो बहुवचनान्तश्च[3] । पिपर्ति पालयति पूरयति वा तत् **पर्णम्**, पत्रं वा । वसति येन स **वस्नः**, मूल्यं वेतनं वा । अजति गच्छति प्राप्नोति वा स **वेनः**, कमनीयः प्रजापतिरीश्वरो वा । अतति निरन्तरं गच्छतीति **अत्नः**[4], सूर्य्यो वा ।

बाहुलकात्—श्रृणोतीति **श्रोणः**, पङ्गुर्वा ॥

७. लक्षयतीति **लक्षणः**; **लक्ष्मणम्**, चिह्नं नाम वा । रामभ्राता **लक्ष्मणो** वा; [5]**लक्ष्मणा** हंसस्त्री सारसी वा ॥

८. वन्यते सम्भज्यते या सा **वेन्ना**, नदी वा ॥

९. सीव्यति तन्तून् सन्तनोतीति **स्यूनः**, आदित्यो वा । टिभागस्य

---

१. गैयमुद्रिते प्रथमसंस्करणे नास्ति । द्वितीयसंस्करणे परिवर्धितम् ।

२. गैयमुद्रिते 'दधातीति' अपपाठः, 'धानाः' इत्यस्य बहुवचनान्तत्वात् ।

३. गैयमुद्रिते 'बहुवचनं च' इत्यपपाठः ।

४. अपदान्तत्वाज्जश्त्वानुनासिकयोरभाव इति श्वेतवनवासी [पृष्ठ १००] । वृत्तिकारोऽयं यजुषः (३।४३) भाष्ये बाहुलकात् तकारस्य नकारे 'अन्नम्' इत्याह । अनितेरन्नमित्युत्तरं (३।१०) वक्ष्यते । महाभाष्ये (५।१।११६) अन्नशब्दोऽत्तेरनितेरुभयथाऽपि निर्दशितः । 'अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते' इति तैत्तिरीयोपनिषदि (२।१०) श्रूयते ।

५. गैयमुद्रिते 'हंसस्त्री लक्ष्मणा' इति पूर्वापरपाठः । प्रथमसंस्करणान्ते शोधनपत्रे 'लक्ष्मणा' इत्येवं शोधितेऽपि केषुचित् संस्करणेषु 'लक्षणा' इत्यपपाठः एवोपलभ्यते ।

कॄवॄजॄसिद्रुपन्यनिस्वपिभ्यो नित् ॥ १० ॥—कर्णः । वर्णः । जर्णः । सेना । द्रोणः । पन्नः । अन्नम् । स्वप्नः ॥ १० ॥

धेट इच्च ॥ ११ ॥—धेनः; धेना ॥ ११ ॥

तृषिशुषिरासिभ्यः कित् ॥ १२ ॥—तृष्णा । शुष्णः । रस्नम् ॥ १२ ॥

सुञो दीर्घश्च ॥ १३ ॥ - सूना ॥ १३ ॥

रमेस्त च ॥ १४ ॥—रत्नम् ॥ १४ ॥

'यू' इत्यादेशः । [दीर्घादेशविधानसामर्थ्याद् गुणाभावः ।]

बाहुलकात्—केवलोऽपि न प्रत्ययः, तेन ऊठादेशे[1] कृते **स्योनः**[3] सुखी; स्योनं सुखमित्यपि सिद्धं भवति ॥

१०. नो नित् । किरति विक्षिपतीति **कर्णः**, श्रोत्रं क्षत्रियविशेषो वा । वृणोति व्रियते वा स **वर्णः**, ब्राह्मणादिः शुक्लादिः स्तुतिर्यशो रूपम् अक्षरं स्वीकारश्च । जीर्यतीति **जर्णः**, चन्द्रमा वृद्धो वा । सिनोति वध्नाति शत्रूनिति **सेना** । इनेन सह वर्तत इति [व्युत्पत्त्यन्तरं] पूर्वमुक्तम्[4] । द्रवति गच्छतीति **द्रोणः**, कृष्णकाको [5]मानविशेषोऽर्जुनगुरुर्वा ।। **'द्रोणी'** जलसेचनी वा । पनायति स्तौतीति **पन्नः**, सर्पो वा । अनिति जीवयतीति **अन्नम्**, ओदनादिकं वा । यः स्वपिति यत् सुप्यते वा स **स्वप्नः**, निद्रा वा ॥

११. धयन्ति पिबन्ति यस्मात् स **धेनः** समुद्रः; **धेना** नदी वा । आत्त्वनिवृत्त्यर्थं इकारादेशः ॥

१२. तृष्यति काङ्क्षति पिपासति वा यया सा **तृष्णा**, लिप्सा पिपासा वा । शुष्यति रसादिकमिति **शुष्णः**, सूर्योऽग्निर्वा । रसति शब्दयतीति **रस्नम्**, द्रव्यं वा ॥

१३. यः सुनोति यत्र वेति **सूना**[6], जन्तुबधस्थानं वा ॥

१४. ण्यन्ताद् रमेर्नप्रत्ययो मस्य तश्चादेशः । रमयति हर्षयतीति

---

१. आदेशेन विनेत्यर्थः । २. द्र०—अ० ६।४।१९॥

३. स्योनशब्दो विस्तीर्णवाची [शतपथे दर्शनात्] इति सायण ऋग्भाष्ये १।२२।१५॥

४. उ० वृ० ३।२॥ ५. परिमाणविशेष इत्यर्थः ।

६. पञ्चसूना गृहस्थस्य……। मनु ३।६८॥

रास्नासास्नास्थूणावीणाः ॥ १५ ॥

गादाभ्यामिष्णुच् ॥ १६ ॥—गेष्णुः । देष्णुः ॥ १६ ॥

कृत्यशूभ्यां क्स्नः ॥ १७ ॥—कृत्स्नम् । अक्ष्णम् ॥ १७ ॥

तिजेर्दीर्घश्च ॥ १८ ॥—तीक्ष्णम् ॥ १८ ॥

श्लिषेरच्चोपधायाः ॥ १९ ॥—श्लक्ष्णम् ॥ १९ ॥

यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच् ॥ २० ॥—यज्युः । मन्युः । शुन्ध्युः । दस्युः । जन्युः ॥ २० ॥

रत्नम् । "जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्धि रत्नं प्रचक्षते ।"[1] अश्वरत्नम्, गजरत्नम्, मणिरत्नम्, स्त्रीरत्नम्[2] इत्यादि ॥

१५. रसति शब्दयतीति **रास्ना**, गन्धद्रव्यं वा । सस्ति स्वपिति यत्र सा **सास्ना**, गवादीनां कण्ठाधोभागश्चर्म वा । [उभयत्र धातोरुपधाया दीर्घः ।] तिष्ठति छादनादिकमनया सा **स्थूणा**, गृहस्तम्भो वा । आकारस्य 'ऊ' आदेशः [णत्वं च प्रत्ययस्य] । वेति व्याप्नोति शब्दोऽस्यां सा **वीणा**, वाद्यविशेषो वा । निपातनाण् णत्वम् [गुणाभावश्च] ॥

१६. गायति शब्दं करोतीति **गेष्णुः**, गाथको वा । ददातीति **देष्णुः**, दानशीलो वा ॥

१७. कृन्तति स्वल्पमिति **कृत्स्नम्**, संपूर्णं वा । अश्नुते व्याप्नोतीति **अक्ष्णम्**, अखण्डं वा ॥

१८. तितिक्षते तत् **तीक्ष्णम्**, तीव्रम् वा [वा] । वाच्यलिङ्गोऽयं शब्दः । **तीक्ष्णा** बुद्धिः; **तीक्ष्णः** पुरुषः; **तीक्ष्णं** घृतम् ॥

१९. [चात्] क्स्नः । श्लिष्यतीति **श्लक्ष्णम्**,[3] सुकुमारं वा । त्रिलिङ्गेषु [वाच्यवत्] ॥

२०. यजतीति **यज्युः**, अध्वर्युर्वा । मन्यतेऽसौ **मन्युः**, शोकः क्रोधो वा । शुन्धतीति **शुन्ध्युः**, अग्निर्वा । दस्यति नाशयति परपदार्थानिति **दस्युः**,

---

१. चाणक्यशतक १६॥

२. प्रथमसंस्करणे परिवर्धितमप्युत्तर संस्करणेषु क्वचिन्न दृश्यते । 'स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि' । इति मनुः (२।२३८) ।

३. षढोः कः सि (अ० ८।२।४१) इति कत्वं षत्वं णत्वं च ।

भुजिमृङ्भ्यां युक्त्युकौ ॥ २१ ॥ - भुज्युः । मृत्युः ॥ २१ ॥

सरतेरयुः ॥ २२ ॥—सरयुः ॥ २२ ॥

पानीविषिभ्यः पः ॥ २३ ॥—पापम् । [1][नेपः] । नीपः । वेष्पः ॥ २३ ॥

च्युवः किच्च ॥ २४ ॥—च्युपः ॥ २४ ॥

स्तुवो दीर्घश्च ॥ २५ ॥—स्तूपः ॥ २५ ॥

सुशृभ्यां निच्च ॥ २६ ॥—सूपः । शूर्पम् ॥ २६ ॥

तस्करो वा । जायते प्रादुर्भवतीति जन्युः, शरीरी वा । बाहुलकादनादेशाभावः ॥

२१. यो भुनक्ति यत्र वा स भुज्युः, पात्रं वा । म्रियत इति मृत्युः, शरीरवियोगो वा । स्त्रीलिङ्गः पुँल्लिङ्गश्च ॥

२२. यः सरति यत्र जलानि वा सरन्ति स सरयुः, नदी वा । [2]अयू-प्रत्यय इति पाठान्तरम् =सरयूः ॥

२३. पान्ति रक्षन्त्यात्मानमस्मादिति पापम्, अधर्मो वा; तद्योगात् पापः पुरुषः । नयतीति नेपः, पुरोहितो वा; [बाहुलकात् गुणाभावो नीपः वृक्षविशेषः] । वेवेष्टि व्याप्नोतीति वेष्पः,[3] पेयमुदकं वा ॥

२४. च्यवते प्राप्नोति वदति[4] वा येन स च्युपः, मुखं वा ॥

२५. स्तौतीति स्तूपः, भूमिसमुच्छ्रायो यज्ञवेदिर्वा ॥

२६. [चात्] किद् दीर्घश्च । सुनोति सूयते पच्यते वा स सूपः, पक्वं द्विदलान्नं वा । शृणाति हिनस्तीति शूर्पम्, मानभेदोऽन्नशोधकं पात्रं वा ।

---

१. कोष्ठान्तर्गतः पाठः षष्ठे संस्करणे परिवर्धितो दृश्यते । आवश्यकश्चायं पाठः ।

२. 'अयू' प्रत्ययेन विनाऽपि 'अप्राणिजातेश्च' (अ० ४।१।६६) इति वार्तिकेन ऊङि 'सरयू' इति रूपं सिद्ध्यति ।

३. बाहुलकाद् वर्णव्यापत्तौ (=पकारस्य यत्वे) 'वेष्य' इत्यपि वेष्पार्थे श्रूयते । तथाहि—'विष्णोर्वेष्पोऽसि' इति माध्यन्दिनपाठः (१।३०), 'विष्णोर्वेष्योऽसि' इति काण्वपाठः (१।४७) ।

४. धातूनामनेकार्थत्वाद् वदत्यर्थेऽपि च्युङ् द्रष्टव्यः ।

कुयुभ्यां च ॥ २७ ॥—कूपः । यूपः ॥ २७ ॥

खष्पशिल्पशष्पवाष्परूपपर्पतल्पाः ॥ २८ ॥

स्तनिहृषिपुषिगदिमदिभ्यो णेरित्नुच् ॥ २९ ॥—स्तनयित्नुः । हर्षयित्नुः । पोषयित्नुः । गदयित्नुः । मदयित्नुः ॥ २९ ॥

---

२७. कित् दीर्घश्च । कौति शब्दयतीति **कूपः** [,उदपानं वा] । यौति मिश्रयतीति **यूपः**, यज्ञशालास्तम्भो वा [चान्नित्[1]] ॥

२८. खष्पादयः पप्रत्ययान्ता[2] निपाताः[3] । खनतीति **खष्पः**, क्रोधो बलत्कारो वा । नकारस्य षत्वम् । यत् शीलति समादधाति तत् **शिल्पम्**, कौशलं वा । ह्रस्वादेशः । [4]शस्यते हन्यते [यत्[तत् **शष्पम्**, बालतृणं कान्तिक्षयो वा । षत्वम् । बाधते दुःखयतीति **वाष्पम्**, नेत्रजलम् ऊष्मा वा । धकारस्य [5]षत्वम् । रौति शब्दयतीति [6]**रूपम्**, आकृतिः स्वभावः सौन्दर्यं वा । दीर्घादेशः । पिपर्तीति **पर्पम्**, गृहं बालतृणं वा । तलयति प्रतिष्ठां करोतीति **तल्पम्**, शय्या स्त्रियो वा । [णिलोप इडाभावश्च ॥]

बाहुलकात्—चमति भक्षयतीति **चम्पा**, नगरी वा । पाति रक्षतीति **पम्पा**, नदी वा । ह्रस्वत्वं मुडागमश्च ॥

२९. स्तनयति शब्दयतीति **स्तनयित्नुः**, मेघो विद्युद्वा । हर्षयतीति **हर्षयित्नुः**, हर्षयिता सुवर्णं वा । पोषयतीति **पोषयित्नुः**, पोषयिता [वा] । [7]गदयतीति **गदयित्नुः**,वावदूको वा । [8]मदयतीति **मदयित्नुः**, मदिरा वा । अत्र सर्वत्र **अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु** [अ० ६ । ४ । ५५] इति सूत्रेण णेरयादेशः ॥

---

१. कूपयूपयोराद्युदात्तत्वदर्शनान्निदनुवृत्तिरावश्यकी ।

२. अत्र केचनाद्युदात्ताः केचनान्तोदात्ताः । तत्र निदनुवृत्याऽऽद्युदात्तानां सिद्धौ अन्तोदात्तानां निपातनान्नित्त्वाभावो द्रष्टव्यः ।

३. नात्र निपातशब्दो वैयाकरणसंज्ञारूपः । किं तर्हि ? निपात्यन्ते ये ते निपाताः, कर्मणि घञ् । ४. वैयमुद्रिते 'शष्यते' इत्यपपाठः, षत्वनिपातनस्याग्र उक्तत्वात् ।

५. वैयमुद्रिते 'सत्वम्' इत्यपपाठः, सत्वे रूपासिद्धेः ।

६. 'रूपं रोचतेः' इति निरुक्तम् (३।१३) । रूपयतेर्वाऽचि रूपं सिद्धम् ।

७. वैयमुद्रिते 'गादयतीति' अपपाठः । गदयतेरदन्तत्वाद् उपधावृद्धिर्न भवति ।

८. वैयमुद्रिते 'मादयतीति' अपपाठः । 'मदी हर्षग्लेपनयोः' इत्यस्य घटादौ (१।५५५) पाठान्मित्संज्ञायां 'मितां ह्रस्वः' (अ० ६।४।९२) इति ह्रस्वत्वं भवति ।

कृहनिभ्यां क्त्नुः ॥ ३० ॥—क्त्नुः । हत्नुः ॥ ३० ॥

गमे सन्वच्च ॥ ३१ ॥—जिगत्नुः ॥ ३१ ॥

दाभाभ्यां नुः ॥ ३२ ॥—दानुः । भानुः ॥ ३२ ॥

वचेर्गश्च ॥ ३३ ॥—वग्नुः ॥ ३३ ॥

धेट इच्च ॥ ३४ ॥—धेनुः ॥ ३४ ॥

सुवः कित् ॥ ३५ ॥—सूनुः ॥ ३५ ॥

जहातेर्द्वेऽन्त्यलोपश्च ॥ ३६ ॥—जह्नुः ॥ ३६ ॥

स्थो णुः ॥ ३७ ॥—स्थाणुः ॥ ३७ ॥

---

३०. करोतीति **क्त्नुः**, शिल्पी वा । यो हन्ति येन वा स **हत्नुः**, व्याधिः शस्त्रं वा । [**'अनुदात्तोपदेश०** (अ० ६ । ४ । ३७) इत्यादिना नकार-लोपः ॥]

३१. गमयति शरीराणीति **जिगत्नुः**, प्राणो वा ।

३२. ददातीति **दानुः**, दानशीलो बुद्ध्यादिविचक्षणो वा । भाति दीप्यतेऽसौ **भानुः**, सूर्यः प्रकाशः किरणा[1] वा । **'स्वर्भानुः'** राहुः । **'चित्रभानुः'** सूर्योऽग्निर्वा । **'बृहद्भानुः'** अग्निः ॥

३३. वक्तीति **वग्नुः**, वाचालो वा ॥

३४. धयन्ति पिबन्ति यस्याः सा **धेनुः**, नवप्रसूता गौर्वा । [**'संज्ञायाम् कन्'** (अ० ५।३।८७) इति] कनि सति **'धेनुका'** हस्तिनी वा ॥

३५. सूयत [2]उत्पद्यतेऽसौ **सूनुः**, अनुजः पुत्रः सूर्यो वा ॥

३६. जहाति दोषानीति **जह्नुः**, कश्चिद् राजर्षिर्वा ॥

३७. तिष्ठतीति **स्थाणुः**, शुष्कवृक्षो निश्चलो वा ॥

---

१. वैयमुद्रिते 'किरणो वा' इति पाठः । प्रथमसंस्करणान्ते 'किरणा वा' इत्येव पाठः शोधितः । किरणानां बहुत्वाद् बहुवचनं युक्तम् ।

२. सुवति प्रसवति परमैश्वर्यहेतुर्भवतीति सूनुः । तथा च प्रयोगः—'तमु ष्टुहि योऽन्तः सिन्धोर्स्तस्य सूनुः ।' अथर्व ६।१।२॥ 'मा त्वा प्रजाभि भून्मोत सूनुः' (अ० ७।३५(३६)३) इत्यत्राद्युदात्तः सूनुं दृश्यते । तस्य कारणं मृग्यम् । अन्यत्र सर्वत्रान्तोदात्त एव सूनुशब्दः ।

अजिवृरीभ्यो निच्च ॥ ३८ ॥—वेणुः । वर्णुः । रेणुः ॥ ३८ ॥

विषेः किच्च ॥ ३९ ॥—विष्णुः ॥ ३९ ॥

कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः ॥ ४० ॥—कर्कः । दाकः । धाकः । राका । अर्कः । कल्कः ॥ ४० ॥

---

३८. अजति गच्छति प्रक्षिपति वा स **वेणुः**, वंशो राजविशेषो वा । व्रियते सम्भजतीति **वर्णुः**, गदो देशभेदो वा । रिणाति गच्छति हिनस्ति हन्यते वा स **रेणुः**, धूलिः [वा] । 'सुरेणुः' सुवर्णरजः, त्रसरेणुर्वा[1] ॥

३९. [चान्निच्च ।[2]] वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगदिति **विष्णुः**, जगदीश्वरः ॥

४०. बहुलवचनान्न ककारस्येत्सञ्ज्ञा । करोतीति **कर्कः**[3], अग्निः शुक्लाश्वो दर्पणो घटो वा । ददातीति **दाकः**, यजमानो वा । दधातीति **धाकः**, आधारोऽनड्वान् वा । राति ददातीति **राका**, पौणमासी[4] नदीभेदो वा । अर्चयतीति **अर्कः**, अर्कपर्णं स्फटिकं सूर्यो[5] वा । कलते शब्दयतीति **कल्कम्**, दम्भः किल्विषं वा ।

---

१. वैयमुद्रिते 'त्रसरेणुः सुरेणुर्वा' इति पाठश्चिन्त्यः, सुरेणुशब्दस्यार्थनिर्देशप्रसंगात् । अत्रोज्ज्वलदत्तीयोणादिवृत्तिर्द्रष्टव्या ।

२. विष्णुशब्दस्याद्युदात्तत्वान्निदत्रानुवर्तते ।

३. सायण ऋग्भाष्ये (१।२९।७) 'कृकदाश्वम्' पदव्याख्याने 'कृदाधारार्चिकलिभ्यः कन्' इति भावे कन् प्रत्ययः । कित् इत्यनुवृत्तेः गुणाभावः' इत्याह । तच्चिन्त्यम् । किदनुवृत्तौ 'कर्क-अर्क' शब्दयोर्गुणो न स्यात् । 'दाक-धाक' शब्दयोः कित्वाद् 'घुमास्था०'(अ० ६।४।६६) इतीत्त्वं प्रसज्येत । उत्तरसूत्रे (४१) 'कक्' प्रत्ययविधानं च व्यर्थं स्यात् । वस्तुतः 'कृक' शब्दे उत्तरसूत्रेण विधीयमानः कक् बाहुलकात् कृञोऽपि द्रष्टव्यः ।

४. याज्ञिकाः पौर्णमास्याः पूर्वां चतुर्दशीमपि लक्षणया पोर्णमासीमातिष्ठते । तथा चोक्तम्—'या पूर्वापौर्णमासी साऽनुमतिर्योत्तरा सा राकेति विज्ञायते' इति (निरुक्त ११।२९) ।

५. निरुक्ते (५।४) अर्कशब्दस्य 'देवः, मन्त्रः, अन्नम्, वृक्षविशेषः (आक)' इत्येतेऽर्था उक्ताः ।

सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कक् ॥ ४१ ॥—सृकः । वृकः । भूकम् । शुष्कः । मुष्कः ॥ ४१ ॥

शुकवल्कोल्काः ॥ ४२ ॥

बाहुलकात्—रमतेऽसौ रङ्कः[1], कृपणो मन्दो वा । **कपिलकादित्वात्** (द्र०—अ० ८।२।१८ वा०) लत्वे कृते लङ्का, दुष्टनगरी वृक्षशाखा पुंश्चली[2] वा ॥

४१. सरतीति **सृकः**, वाणो[3] वज्रं वायुरुत्पलं वा । वृणोतीति **वृकः**, काकः श्वापदो वा । वृक एव 'वार्केण्यः'[4] । भवतीति **भूकम्**, छिद्रं कालो वा । शुष्यतीति **शुष्कः**, नीरसो वा । मुष्यत आव्रियत इति **मुष्कः**, अण्डकोषः सङ्घातो वा । मुष्कोऽस्यास्तीति[5] 'मुष्करः' ।

बाहुलकाद्—अवति रक्षणहेतुर्भवतीति **ओकः**, राशिः स्थानं वा । मूर्व्यते बध्यतेऽसौ **मूकः**, वचनवर्जितो वा । रेफवकारयोर्लोपः ॥

४२. **शुकादयः** कप्रत्ययान्ता निपाताः[6] । शोभतेऽसौ **शुकः**, पक्षिजाति-र्व्याससुत्रो वा । वलते संवृणोति येन तत् [**वल्कम्**,] [7]वल्कलं वा । ओषति दहतीति **उल्का**, विद्युदग्नेर्ज्वाला वा । षकारस्य लत्वम् ॥

---

१. वैयमुद्रितेषु केषुचित्संस्करणेषु 'रञ्जकः' इत्यपपाठः । संस्करणान्ते शोधन-पत्रे यथावच्छोधनं दृश्यते ।

२. वैयमुद्रितेषु केषुचित्संस्करणेषु 'पुंश्चलो वा' इत्यपपाठः । प्रथमसंस्करणान्ते शोधनपत्रेऽस्य शोधनमुपलभ्यते ।

३. वैयमुद्रितेषु 'वाणी' इत्यपपाठः । प्रथमसंस्करणान्ते शोधनपत्रेऽस्य शोधनं दृश्यते ।

४. 'वृकाट्टेण्यण्' (अ० ५।३।११५) इति स्वार्थे टेण्यण् प्रत्ययः ।

५. 'ऊषसुषिमुष्कमधो रः' (अ० ५।२।१०७) इति मत्वर्थे रप्रत्ययः ।

६. अस्मिन् विषये ३।२८ सूत्रवृत्तौ (पृष्ठ ८६) टिप्पणी ३ द्रष्टव्या ।

७. वैयमुद्रितयोः १-२ संस्करणयोः शुद्धः सन्नप्ययमुत्तरसंस्करणेषु ओष्ठचादिः पठ्यते ।

इण्भीकापाशल्यतिमर्चिभ्यः कन् ॥ ४३ ॥— एकः । भेकः । काकः । पाकः । शल्कम् । अत्कः । मर्कः ॥ ४३ ॥

नौ हः ॥ ४४ ॥— निहाका ॥ ४४ ॥

[1]नौ सदेर्डिच्च ॥ ४५ ॥— निष्कः ॥ ४५ ॥

स्यमेरीट् च ॥ ४६ ॥— स्यमीक; स्यमिकः ॥ ४६ ॥

---

४३. एति प्राप्नोतीति एकः, मुख्योऽन्यः केवलो वा । यो बिभेति यस्माद्वा सः भेकः, मण्डूको मेघो वा । कायति शब्दयतीति काकः,वायसो वा । पिबत्यसाविति पाकः, शिशुर्वृद्धो वा । शल्यति गच्छति, शल्यते वा तत् शल्कम्, [2]वल्कलं वा । अतति निरन्तरं गच्छतीति अत्कः, पथिकः शरीरावयवो वा । 'मर्च' इति सौत्रो[3] धातुः । मर्चति[4] चेष्टतेऽसौ मर्कः, शरीरवायुर्वा ।

बाहुलकात्—स्यतीति शाकम्, स्यतीति साकं वा ॥[5]

४४. नितरां जहाति त्यजतीति निहाका, गोधिका वा ॥

४५. निषीदतीति निष्कः, परिमाणभेदो वा ॥

४६. स्यमिति शब्दयतीति स्यमीकः, वल्मीको वृक्षभेदो वा । [6]चकारादिडागमे स्यमिकः ॥

---

१. सूत्रमिदमुज्ज्वलदत्तवर्जमन्यासु वृत्तिषु नोपलभ्यते । 'नौ' पदस्य पूर्वसूत्राद् अनुवृत्तिसम्भवे पुनरत्र 'नौ'निर्देशोऽस्य सूत्रस्याप्रामाणिकत्वं द्योतयति । अन्यथा 'सदेर्डिच्च' इत्येव सूत्रकारोऽसुसूत्रयत् ।

२. द्रष्टव्या पूर्वं ८९ पृष्ठस्था टिप्पणी ७ ।

३ 'मर्च शब्दार्थे' चुरादौ (१०।११७) पठ्यते ।

४. 'नपदान्त०' (अ० १।१।५७) सूत्रभाष्ये 'मर्चयतेर्मर्कः' इत्युक्तम् ।

५. बाहुलकाद् डुमिञ् धातोः कनि 'मेकः' इत्यपि भवति । मेकशब्दो मुखवचन इति केचिदाहुः । सृष्टेः प्रथमः संवत्सरो मेक इत्युच्यत इत्यन्ये । अत एव मेकः संवत्सरः, ऋतवो मेकभुवा इति पौराणिकाः स्मरन्ति ।

६. चकारस्येदं प्रयोजनं नान्यवृत्तिकारैः प्रदश्यते । केचिद् वृत्तिकाराः सूत्रे 'इट् च' इति पठन्ति । तन्मते 'स्यमिकः' इत्यपि भवति ।

अजियुधुनीभ्यो दीर्घश्च ॥ ४७ ॥—वीकः । यूका । धूकः । नीकः ॥ ४७ ॥

ह्रियो रश्च लो वा ॥ ४८ ॥—ह्रीका; ह्लीका ॥ ४८ ॥

शकेरुनोन्तोन्त्युनयः ॥ ४९ ॥—शकुनः; शकुन्तः; शकुन्तिः; शकुनिः ॥४९॥

भुवो झिच ॥ ५० ॥—भवन्तिः ॥ ५० ॥

कन्युच् क्षिपेश्च ॥ ५१ ॥—क्षिपण्युः । भुवन्युः ॥ ५१ ॥

अनुङ् नदेश्च ॥ ५२ ॥—नदनुः । क्षिप्रणुः ॥ ५२ ॥

कृवृदारिभ्य उनन् ॥ ५३ ॥—करुणा । वरुणः । दारुणम् ॥ ५३ ॥

---

४७. अजति गच्छतीति वीकः, वायुः पक्षी वा । यौतीति यूका,शिरः-केशजन्तुर्वा । धूनोति कम्पयतीति धूकः, वायुर्वा । नयतीति नीकः, वृक्ष-विशेषो वा ॥

४८. जिह्रेति लज्जां करोतीति ह्रीका; ह्लीका, लज्जा वा ॥

४९. उन, उन्त, उन्ति, उनि इत्येते प्रत्यया भवन्ति । शक्नोतीति शकुनः; शकुन्तः; शकुन्तिः; शकुनिः, पक्षिनामानि वा ॥

५०. भवन्ति पदार्था यस्मिन् स भवन्तिः, वर्तमानकालो वा । कामयतेऽसौ कुन्तिः; स्त्रियां 'कुन्ती'[1] । धातोः कुरादेशः प्रत्ययादिलोपश्च । अवतीति अवन्तिः, राजा वा । वदतीति वदन्तिः, कोलाहलो वा । 'किंवदन्ती' जनश्रुतिः[2] । कुन्त्यादयो बाहुलकादेव भवन्ति ॥

५१. चाद् भुवः । क्षिप्यति प्रेरयतीति क्षिपण्युः, वसन्त ऋतुर्वा । भवतीति भुवन्युः, स्वामी सूर्यो वा ॥

५२. चात् क्षिपेः । नदत्यव्यक्तं शब्दं करोतीति नदनुः, मेघो वा । क्षिप्यतीति क्षिपणुः, वायुर्वा ॥

५३. किरति विक्षिपति दुर्गुणमिति करुणः,वृक्षभेदो वा; करुणा, कृपा वा । करुणा शीलमस्येति कारुणिकः[3] । वृणोति व्रियते वाऽसौ वरुणः, उत्तमं जलं वृक्षभेदो वा । दारयति यत् येन वा तत् दारुणं, भीषणं वा ॥

---

१. 'कृदिकारादक्तिनः' (अ० ४।१।४५) इति गणसूत्राद् ङीषि रूपम् । उज्ज्वल-दत्तस्तु 'जॄविशिभ्यां झच्' (उ० ३।१२६) सूत्रवृत्तौ गौरादित्वान्ङीष् इत्याह । तच्चि-न्त्यम् । गौरादिगणेऽपाठात् । २. अमरकोष १।६।७॥

३. 'शीलम्' (अ० ४।४।६१) इति सूत्रेण ठक् ।

त्रो रश्च लो वा ॥ ५४ ॥—तरुणः; तलुनः ॥ ५४ ॥

क्षुधिपिशिमिथिभ्यः कित् ॥ ५५ ॥—क्षुधुनः । पिशुनः । मिथुनम् ॥ ५५ ॥

फलेर्गुक् च ॥ ५६ ॥—फल्गुनः ॥ ५६ ॥

अशेर्लशश्च ॥ ५७ ॥—लशुनम् ॥ ५७ ॥

अर्जेर्णिलुक् च ॥ ५८ ॥—अर्जुनः ॥ ५८ ॥

तृणाख्यायां चित् ॥ ५९ ॥—अर्जुनम् ॥ ५९ ॥

अर्त्तेश्च ॥ ६० ॥—अरुणः ॥ ६० ॥

अजियमिशीङ्भ्यश्च ॥ ६१ ॥—वयुनम् । यमुना । शयुनः ॥ ६१ ॥

---

५४. उनन् । तरतीति तरुणः; तलुनः, युवा वृक्षभेदो वा । स्त्रियां गौरादित्वात् (अ० ४।१।४१) ङीष् । तरुणी; तलुनी[1] वा युवतिः ॥

५५. क्षुध्यति भोक्तुमिच्छतीति क्षुधुनः, म्लेच्छजातिर्वा । पिशत्यवयवं करोतीति पिशुनः; खलः सूचको वा । मेथति जानाति ज्ञायते हिनस्ति वा तत् मिथुनम्, द्वयोः संयोगो राशिर्वा ॥

५६. फलति निष्पन्नो भवतीति फल्गुनः, शुक्लो वा ॥

५७. उनन् । अश्यते भुज्यते यत्तत् लशुनम्, औषधरूपः कन्दो वा ॥

५८. उनन् । अर्जयतीति अर्जुनः, शुक्लो मयूरो वृक्षभेदो वा; अर्जुनी सौरभेयी ॥

५९. अर्जयति यत्तत् अर्जुनं तृणम् । चित्करणमन्तोदात्तार्थम् ॥

६०. ऋच्छति प्राप्नोतीति अरुणः, सूर्यः कुष्ठं रक्तं वा ॥

६१. वीयते गम्यतेऽत्रेति वयुनम्, मन्दिरं वा । यच्छतीति यमुना, नदीभेदो वा । शेतेऽसौ शयुनः, अजगरो वा ॥

---

१. 'नञ्स्नञीकक्ख्युंस्तरुणतलुनानामुपसंख्यानम्' (अ० ४।१।१५) इति वार्तिकेन ङीप् । गौरादिषु पाठाच्च ङीष् । उभयप्रत्यययोः स्वरभेदः प्राप्नोति । वार्तिकपाठात् 'तरुणी' शब्दस्य वैदिकवाङ्मये आद्युदात्तत्वदर्शनाद् गौरादिष्वनयोः पाठोऽनार्षो ज्ञेयः ।

वृतृवदिवचिवसिहनिकमिकषिभ्यः सः ॥ ६२ ॥—वर्षम् । तर्षः । वत्सः । वक्षः । वत्सम् । हंसः । कंसः । कक्षम् ॥ ६२ ॥

प्लुषेरच्चोपधायाः ॥ ६३ ॥—प्लक्षः ॥ ६३ ॥

मनेर्दीर्घश्च ॥ ६४ ॥—मांसम् ॥ ६४ ॥

---

६२. वृणोति स्वीकरोतीति **वर्षम्**, संवत्सरो वृष्टिरार्यावर्तो मेघो वा; स्त्रियां बहुवचनान्तो '**वर्षाः**' प्रावृषि ऋतौ । तरति येन यत्र वा स **तर्षः**, [प्लवः] समुद्रो वा । वदतीति **वत्सः**, बालो [१] [वा । वक्त्यस्मिन्निति **वक्षः**;] वक्षःस्थलं वा । [१] [वसत्यस्मिन्निति **वत्सम्**, निवासस्थानं वा ।] हन्तीति [२] **हंसः**, निर्लोभः सूर्यः पक्षिभेदोऽश्वभेदः शरीरस्थो वायुर्वा । कामयते परपदार्थानिति **कंसः**, तैजसद्रव्यं पात्रं तस्करो वा । कषति हिनस्तीति **कक्षः**[३], तृणं लता वनंसमीपं [४] बाहुमूलं वा ।

बाहुलकात्—राजते दीप्यते सा **राक्षा**; **लाक्षा** [रञ्जनद्रव्यम् वा] । **कपिलकादित्वात्** (अ० ८ । २ । १८ वा०) लत्वम् । यौतीति **योषा**, स्त्री वा ॥

६३. प्लोषति दहतीति[५] **प्लक्षः**, पिप्पलं पर्कटी[६], 'पाकरि' इति प्रसिद्धा, द्वीपभेदो गृहस्य द्वारपार्श्वं वा ॥

६४. मन्यते ज्ञायतेऽनेन तत् **मांसम्**, शरीरोपचयो वा ॥

---

१. कोष्ठान्तर्गतः पाठः प्रथमसंस्करणे नास्ति, द्वितीये परिवर्धितम् ।

२. वृत्तिकारेण स्वीये यजुषः (१०।२४) भाष्ये 'यः संहन्ति' इत्येवं 'हंस' शब्दो व्युत्पादितः । तथा सति सम्पूर्वाद् हन्तेर्डप्रत्यये 'संहः', वर्णव्यत्यये 'हंसः' इति सिध्यति ।

३. वैयमुद्रिते 'कक्षम्' इति पाठः । ४. 'वनम्' इत्येव साधुः पाठः स्यात् ।

५. 'चार्थे द्वन्द्वः' (अ० २।२।२९) सूत्रभाष्ये 'प्रक्षरतीति प्लक्षः' इत्युक्तम् । धातुवृत्तिकारेण 'प्रक्ष अदने' (१।६२०) धातुव्याख्यानान्ते प्लक्ष शब्दस्य भाष्यकारीयं निर्वचनमुद्धृत्योक्तम्—'तथा च श्रुतिरपि—'तस्य शिरश्छित्त्वा मेधं प्राक्षारयत् स प्रक्षोऽभवत्, तत्प्रक्षस्य प्रक्षत्वम्, यत्प्लक्षशाखा इति' (द्र०—पृष्ठ २२६, प्राच्यभारती-प्रकाशन, काशी) ।

६. वैयमुद्रिते 'पर्कटी वा' इत्यत्र 'वा' अनावश्यकम्, सर्वान्ते तस्य दर्शनात् ।

अशेर्देवने ॥ ६५ ॥— अक्षः ॥ ६५ ॥
स्नुव्रश्चिकृत्यृषिभ्यः कित् ॥६६॥—स्नुषा । वृक्षः । कृत्सम् । ऋक्षम् ॥६६॥
ऋषेर्जातौ । ६७ ॥—ऋक्षः ॥ ६७ ॥
उन्दिगुधिकुषिभ्यश्च ॥ ६८ ॥—उत्सः । गुत्सः । कुक्षः ॥ ६८ ॥

---

६५. अश्नुते व्याप्नोतीति अक्षः; अक्षाणि, इन्द्रियाणि द्युतं चक्रं शकटं व्यवहारो वा ॥

६६. स्नौति प्रस्रवतीति स्नुषा, यवीयसो भ्रातुर्भार्या वा । वृश्च्यते छिद्यतेऽसौ वृक्षः । 'वृक्ष वरणे' इत्यस्मादपि अचि[1] प्रत्यये 'वृक्षः' इति सिध्यति । अर्थभेदायात्र वृश्चिग्रहणम्, तेन छेद्यत्वात् कार्यं[2] जगदपि 'वृक्षः' उच्यते । कृन्तति छिनत्तीति कृत्सम्, उदकम् [वा] । ऋषति गच्छतीति ऋक्षम्, नक्षत्रसामान्यं वा ।

बाहुलकात्—[आ]समन्तान्मिषति हिनस्तीति आमिक्षा[3], क्षीरविकारो वा । लिश्यतेऽल्पा भवतीति लिक्षा, शिरःकेशजन्तुर्वा । रोहति बीजाज्जायतेऽसौ रुक्षः[4], वृक्षजातिः प्रीतिहीनो वा ॥

६७. [कित् ।] ऋषति गच्छतीति ऋक्षः, मृगजातिभेदो भल्लूकः [वा] । पूर्व(३।६६) सूत्रेण सिद्धे जातिनियमाद् यौगिके 'ऋष' धातोः[5] 'स प्रत्ययो वा ॥

६८. [कित् ।] उनत्ति क्लिद्यतीति उत्सः, जलस्रवणस्थानमृषिर्वा । गुध्नाति रोषं करोतीति गुत्सः, हारभेदः पुष्पगुम्फो वा । कुष्णाति निष्कर्षतीति कुक्षः, जठरस्थानं वा ॥

---

१. वैयमुद्रिते "इत्यस्मादपीगुपधात् के प्रत्यये' इत्यपपाठः । नहि 'वृक्ष' धातुरिगुपधः । तस्माद् 'अजपि सर्वधातुभ्यः' (अ० ३।१।११४) इत्यनेनाच् प्रत्ययो द्रष्टव्यः ।

२. 'किं स्विद् वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः' (ऋ० १०।३१।७) इति मन्त्रे प्रकृतिरपि 'वृक्ष' शब्देनोक्ता ।

३. 'तप्ते पयसि दध्यानयति साऽऽमिक्षा' (शाबरभाष्य ४।१।२२ उद्धृत) इति वचनात् तप्ते पयसि दधिनिक्षेपेण यो घनीभूतो भागः संपद्यते साऽऽमिक्षोच्यते । वृत्तिकारेण स्वीये संस्कारविधावुपनयनसंस्कारे (पृष्ठ ६६, पं० १ आ० स० श० सं०) 'श्रीखण्ड' इत्यर्थः प्रदर्शितः । ४. अस्यैव भाषायां 'रूख' 'रूखड़ा' इत्यपभ्रंशौ ।

५. वैमुद्रिते 'षः' इत्यपपाठः, 'स'प्रत्ययस्यानुवृत्तेः । सकारस्य षकारस्तु 'आदेशप्रत्यययोः' (अ० ८।३।५९) सूत्रेण भवति ।

गृधिपण्योर्दकौ च ॥ ६९ ॥ - गृत्सः । पक्षः ॥ ६९ ॥
अशेः सरन्[1] ॥ ७० ॥ - अक्षरम् ॥ ७० ॥

---

६९. [2]कित् । गृध्यति अभिकाङ्क्षतीति गृत्सः, कामो वा । गकारस्य भष्भावनिवृत्त्यर्थो दकारादेशः[3] । पणायति स्तौति व्यवहरति[4] वा येन यत्र वा स पक्षः, मासार्द्धः पार्श्वभागः साध्यविरोधः समूहो बलं मित्रसहायो वा ॥

७०. अश्नुते व्याप्नोतीति अक्षरम्[5], ब्रह्म वर्णो मोक्ष उदकं वा ॥

---

१. अस्य सूत्रस्य व्याख्याने प्रौढमनोरमायां भट्टोजिदीक्षितः उज्ज्वलदत्तादिवृत्तिकाराणां 'सरन्' प्रत्ययस्य प्रत्याख्यानं चकार। तत्र हेतुरुक्तः—नित्त्वादाद्युदात्तत्वं प्राप्नोति । परन्तु वेदे 'अक्षर'शब्दो मध्योदात्तो दृश्यते । अतएव द्वितीयाह्निकान्ते 'अश्नोतेर्वा सरोऽक्षरम्' इति [लण्सूत्रे] भाष्यकृतोक्तम् (द्र०—प्रौ० म० पृष्ठ ७७६)। एवमेव तत्त्वबोधिन्यामप्युक्तम् । पृष्ठ ५४१ निर्णयसागर संस्क०) । यत्त्वत्र भट्टोजिदीक्षितेन 'सर'प्रत्यये भाष्यकृतः सम्मतिरुक्ता, सा चिन्त्या । तत्रैवोक्तश्लोकव्याख्याने 'अश्नोतेर्वा पुनरयमौणादिकः सरन् प्रत्ययः' इति स्पष्टं भाष्यकृतोक्तम् । कैयटेनापि 'अश्नोतेर्वा सरोऽक्षरम्' इत्यस्य व्याख्याने 'सरन् प्रत्ययस्यानुबन्धलोपे कृतेऽनुकरणं सरः इति' व्याख्यातम् । तस्माद् भाष्यकारमते 'सरन्' प्रत्यय एव इति स्पष्टं भवति । यत्तु भाष्यस्य केषुचिद् हस्तलेखेषु 'सरः प्रत्ययः' पाठो दृश्यते, स प्रामादिक एव । सरन् प्रत्यये मध्योदात्तत्वं व्यत्ययेन व्याख्यातव्यम् ।

२. वैयमुद्रिते 'चित्' इत्यपपाठः ।

३. अयं भावः—सकारप्रत्यये 'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' (अ० ८।२।३७) इत्यनेन गकारस्य भष्भावेन घकारः प्राप्नोति । धकारस्य दकारादेशे झषन्तत्वं नश्यति, तेन भष्भावो न भवति ।

४. यद्यपि काशिकाकारादयः पनधातोः साहचर्यात् पण्धातोरपि स्तुतावेव आयप्रत्ययं विदधते (द्र०—काशिका ३।१।२८), तथापि केचन वैयाकरणा सामान्यरूपेण आयप्रत्ययमाहुः । तथाहि 'क्रियारत्नसमुच्चयकार' आह—'पणायते पनायते इति पक्षान्तरे' इति (पृष्ठ ६७) । पाणिशब्दसाधके (उ० ४।१३३) सूत्रे आयप्रत्ययस्य लोपं विदधाति सूत्रकारः पाणिना च व्यवहारः स्तुतिश्चोभयमपि क्रियते । तेन ज्ञायते व्यवहारार्थेऽप्यायप्रत्ययः सूत्रकारमते इष्टः । 'वणिक्' शब्दसाधके (उ० २।७१) सूत्रे पणेरेव निर्देशाच्च व्यवहारे तदभावमपि द्योतयति सूत्रकारः । अयं वृत्तिकारः स्ववृत्तौ वेदभाष्ये च बहुत्र व्यवहारेऽप्यायप्रत्ययान्तं प्रयुनक्ति । तेनायं काशिकावृत्तिकाराद्युक्तं नियमं नेच्छतीति प्रतीयते ।

५. सायणः स्वीये ऋग्भाष्ये (१।३४।४) 'अक्षराण्युदकानि । औणादिकः क्सरप्रत्ययः' इत्युक्तवान् ।

वसेश्च ॥ ७१ ॥—वत्सरः ॥ ७१ ॥

संपूर्वाच्चित् ॥ ७२ ॥—संवत्सरः ॥ ७२ ॥

कृधूमदिभ्यः कित् ॥ ७३ ॥—कृसरः । धूसरः । मत्सरः ॥ ७३ ॥

पतेरश्च लः ॥ ७४ ॥—पत्सलः ॥ ७४ ॥

तन्यृषिभ्यां क्सरन् ॥ ७५ ॥—तसरः । ऋक्षरः ॥ ७५ ॥

पीयुक्वणिभ्यां कालन् ह्रस्वं सम्प्रसारणञ्च ॥ ७६ ॥—पियालः। कुणालः ॥ ७६ ॥

'कठिकषिभ्यां काकुः ॥ ७७ ॥—कठाकुः । [२]कषाकुः ॥ ७७ ॥

---

७१. वसन्त्यस्मिन्निति **वत्सरः**[३], वर्षो वा ॥

७२. चित्वादन्तोदात्तस्वरः । सम्यग्वसन्त्यत्र स **संवत्सरः**[४] ॥

७३. यः करोति क्रियते वा स **कृसरः**, तिलौदनं मिश्रं वा । धूनोतीति **धूसरः**, ईषत्पाण्डुरो वा । माद्यतीति **मत्सरः**, असह्यपरसंपत्तिर्जनः कृपणः क्रुद्धो वा; '**मत्सरा**' मक्षिका वा ॥

७४. पतन्ति गच्छन्ति यत्र स **पत्सलः**, पन्था वा ॥

७५. तनोतीति **तसरः**, सूत्रवेष्टनो वा । ऋषति प्राप्नोति वा स **ऋक्षरः**, ऋत्विग्वा ॥

७६. 'पीयुः' सौत्रो धातुः । पीयति तर्पयतीति **पियालः**, वृक्षभेदो वा, 'चिरोंजी' इति प्रसिद्धा । क्वणति शब्दं करोतीति **कुणालः**, देशभेदो वा ।

बाहुलकात्—भजतीति **भगालम्**, नरमस्तकं वा । कुत्वं च ॥

७७. कठतीति **कठाकुः**, पक्षी वा । [५]कषति हिनस्तीति **कषाकुः**, अग्निः सूर्यो वा ॥

---

१. गैयमुद्रिते 'कठिकुषिभ्यां' इति पाठः । अग्रिमा टिप्पणी द्रष्टव्या ।

२. गैयमुद्रिते 'कुषाकुः' पाठः ।

३. यजुषि (२७।४५) वत्सरशब्दोऽप्यन्तोदात्त उपलभ्यते । तदर्थम् उत्तर-सूत्रे पठितस्य 'चित्' पदस्यास्मिन् सूत्रेऽपकर्षो व्याख्यातव्यः ।

४. क्वचित् सूत्रपाठः 'संपरिपूर्वाच्चित्' इत्युपलभ्यते (द्र०—अमरटीकासर्वस्व, भाग १, पृष्ठ ४६) । परन्तु यजुषि (२७।४५) वत्सर—संवत्सर-परिवत्सर-इदावत्सर-इद्वत्सर' शब्दानामन्तोदात्तत्वं दृश्यते । तेन सूत्रे समो ग्रहणमुपलक्षणार्थं व्याख्येयम् ।

५. अयं गैयमुद्रिते प्रथमसंस्करणे पाठः । द्वितीयसंस्करणे सूत्रपाठानुसारं

सर्त्तेर्दुक् च ॥ ७८ ॥—सृदाकुः ॥ ७८ ॥

वृतेर्वृद्धिश्च ॥ ७९ ॥—वार्त्ताकुः; वार्त्ताकम् ॥ ७९ ॥

पर्देर्नित्सं प्रसारणमलोपश्च ॥ ८० ॥—पृदाकुः ॥ ८० ॥

सृयुवचिभ्योऽन्युजागूजक्नुचः ॥ ८१ ॥—सरण्युः । यवागूः । वचक्नुः ॥ ८१ ॥

आनकः शीङ्भियः ॥ ८२ ॥—शयानकः । भयानकः ॥ ८२ ॥

आणको लूधूशिङ्घिधाञ्भ्यः ॥ ८३ ॥—लवाणकः । धवाणकः । शिङ्घाणकः । धाणकः ॥ ८३ ॥

---

७८. सरतीति **सृदाकुः**, वायुर्वा; सरन्त्यापोऽस्यामिति **सृदाकुः**, नदी [वा] ॥

७९. वर्त्ततेऽसौ **वार्त्ताकुः**[1], 'वृन्ताक' इति प्रसिद्धम् । बाहुलकादुकारस्य अ, ई भवतः । **वार्त्ताकम्; वार्त्ताकी**, हिङ्गुली वा ॥

८०. पर्दते कुत्सितं शब्दं करोतीति **पृदाकुः**, व्याघ्रः सर्पो वा ॥

८१. सरतीति **सरण्युः**, मेघो वायुर्वा । यौति मिश्रयतीति **यवागूः**, दुग्धे पक्वयवचूर्णं वा । वक्तीति **वचक्नुः**, वाचालः प्राज्ञो वा ॥

८२. शेतेऽसौ **शयानकः**, अजगरो वा । बिभेत्यस्मादिति **भयानकः**, भयप्रदः [वा] ॥

८३. लुनाति येन तत् **लवाणकम्**, दात्रं वा । धूनोतीति **धवाणकः**, वायुर्वा । शिङ्घति समन्ताज्जिघ्रतीति **शिङ्घाणकः**, श्लेष्मा वा ।

'कुषति निष्कर्षतीति' इत्येवं परिवर्तितः । उज्ज्वलदत्तवृत्तौ सूत्रे 'कठिकुषिभ्यां' इत्युक्त्वा वृत्तौ 'कष' इत्येव धातुः पठितः । यौवत्र 'अग्निसूर्यौ' अर्थौ निर्दशितौ तौ 'कषाकु' शब्दस्यैवोक्तौ । दशपाद्यां 'कुडिकुषिभ्यां काकुः' (१।१५०) इति पठित्वा 'कुषाकुः' पदस्य 'मूषकः' अर्थो निर्दशितः । क्षीरस्वामिना क्षीरतरङ्गिण्यां 'कुष निष्कर्षे' (९।५१) धातोर्व्याख्याने 'कुडिकषिभ्यां काकुः' इत्येव पाठ उद्धृतः ।

१. गैयमुद्रिते 'वार्ताकुः हिंगुली' इत्येवं पाठः । अत्र 'हिङ्गुली' पदस्यास्थाने पाठ इति कृत्वा 'वार्ताकी' पदादनन्तरं नीतम् । द्रष्टव्याऽत्रोज्ज्वलदत्तवृत्तिः ।

उल्मुकदर्विहोमिनः ॥ ८४ ॥

ह्रियः कुक् रश्च लो वा ॥ ८५ ॥—ह्रीकुः । ह्लीकुः ॥ ८५ ॥

हसिमृग्रिण्वामिदमिलूपूधूर्विभ्यस्तन् ॥ ८६ ॥—हस्तः । मर्त्तः । गर्त्तः । एतः । वातः । अन्तः । दन्तः । लोतः । पोतः । धूर्तः ॥ ८६ ॥

बाहुलकात्—ककारलोपे **शिङ्घाणम्**, काचपात्रं लोहनासिकयोर्मलं वा । दधाति धीयते वा स **धाणकः**, व्यवहारयोग्यद्रव्यभागो[1] वा ॥

८४. ओषति दहतीति **उल्मुकम्**, ज्वलदङ्गारो वा । मुकप्रत्ययो धातोः षकारस्य लत्वम् । दृणाति विदारयति येन स **दर्विः**, [2]परिवेषणपात्रं वा । विन् प्रत्ययः । जुहोतीति **होमी**, यजमानो वा । अत्र मिन्प्रत्ययः ॥

८५. जिह्रेति लज्जां करोतीति **ह्रीकुः** लज्जावान् । **ह्लीकुः**, जतुत्रपुणी लाक्षादिर्वा ॥

८६. हसतीति **हस्तः**, नक्षत्रं करो वा । हस्तोऽस्यास्तीति **'हस्ती'** । म्रियतेऽसौ **मर्त्तः**, मनुष्यो वा । मर्त्त एव **'मर्त्यः'** स्वार्थे यत्[3] । गिरति निगलति स **गर्त्तः**,[4] अवटः पतनस्थानं वा । एति प्राप्नोति यं स **एतः**, विचित्रवर्णो वा; स्त्रियां—**'एनी; एता'**[5] । वातीति **वातः**, वायुर्व्याधिर्वा । अमति गच्छतीति **अन्तः**, नाशः समीपं तत्त्वस्वरूपं मनोहरं वा । दाम्यत्युपशाम्यति यो येन वा स **दन्तः**, दशनो वा । शोभना दन्ता यस्याः सा

---

१. 'दीनारभागः' इत्युज्ज्वलदत्तवृत्तिः ।

२. निरुक्ते (१।१४) 'दर्विहोमी' इति पठ्यते । व्याख्यातारः समस्तमेकपदमाहुः । वस्तुतस्तत्र 'कृतोऽप्येकपदिकाः' इति वचनात् 'दर्विः होमी' इति शब्दः पाठो द्रष्टव्यः ।

३. द्रष्टव्या काशिका ५।४।२५॥

४. निरुक्ते (३।५) 'गर्त' शब्दस्य सभास्थाणुः, श्मशानसंचयः, रथः इत्यर्था निरुक्ताः ।

५. 'वर्णादनुदात्तात्तोपधात् तो नः' (अ० ४।१।३९) सूत्रेण वा ङीप् । तत्सन्नियोगेन तकारस्य नकारादेशः ।

नञ्याप इट् च ॥ ८७ ॥—नापितः ॥ ८७ ॥

तनिमृङ्भ्यां किच्च ॥ ८८ ॥—ततम् । मृतम् ॥ ८८ ॥

अञ्चिघृसिभ्यः क्तः ॥ ८९ ॥—अक्तम् । घृतम् । सितम् ॥ ८९ ॥

'**सुदती**'[1] युवतिः । '**दन्तावलो**'[2] हस्ती[3] । '**दन्तुरः**'[4] [उन्नतदन्तः]। लुनातीति **लोतः**, अश्रुचिह्नं वा । पुनातीति **पोतः**, बालो वहित्रो वा । धूर्वतीति **धूर्त्तः**, शठो लवणं धत्तूरं वा ।

बाहुलकात्—तोसति शब्दयतीति **तूस्तम्**, पापं जटा वा । तूस्तं करोति **तूस्तयति**[5] । छ्यति छिनत्तीति **छातः**, दुर्बलो वा । अभितो म्लायतीति **अभिम्लातः**, हर्षक्षीणो वा ॥

८७. नाप्नोति सत्कर्माणीति **नापितः**, केशच्छेदको वा ॥

८८. तनोतीति **ततम्**, वीणादिकं वाद्यं वा । म्रियते येन तत् **मृतम्**, याचितं भैक्ष्यं[7] वा ॥

८९. यदनक्ति प्रकटीकरोति तत् **अक्तम्**, व्याघ्रः परिमितं वा । जिघर्ति संचलति दीप्यते वा तत् **घृतम्**, उदकं[8] सर्पिः प्रदीप्तं वा । सिनोति बध्नातीति **सितम्**, शुक्लं वा ।

---

१. वैयमुद्रिते क्वचित् 'सुदन्ती' इत्यपपाठः प्रथमसंस्करणे शोधनपत्रे संशोधने कृतेऽप्युपलभ्यते । अत्र दन्तशब्दस्य (अ० ५।४।१४१) समासान्तो दतृ (=दत्) आदेशः ।

२. 'दन्तशिखात् संज्ञायाम्' (अ० ५ । २ । ११३) इति मत्वर्थीयो वलच् प्रत्ययः ।

३. वैयमुद्रिते 'दन्तावलो दन्तुरो वा हस्ती' इत्यपपाठः । नहि 'दन्तुर'शब्देन हस्ती उच्यते । किन्तर्हि ? यस्योन्नता दन्ताः स उच्यते । अत्र निन्दार्थे उरच् प्रत्ययः ।

४. 'दन्तउन्नत उरच्' (अ० ५।२।१०६) इत्यनेन निन्दायां मत्वर्थीय 'उरच्' प्रत्ययः ।

५. अ० ३।१।२१ सूत्रेण करोत्यर्थे णिच् ।

६. बाहुलकान्नञो नलोपाभावः ।

७. 'मृतं तु याचितं भैक्ष्यम्' इति मनुः (४।५) ।

८. निघण्टौ (१।१२) घृतमित्युदकनामसु पठ्यते ।

दुतनिभ्यां दीर्घश्च ॥ ९० ॥—दूतः । तातः ॥ ९० ॥

जेर्मूट् चोदात्तः ॥ ९१ ॥—जीमूतः ॥ ९१ ॥

लोष्टपलितौ ॥ ९२ ॥

हृश्याभ्यामितन् ॥ ९३ ॥—हरितः । श्येतः ॥ ९३ ॥

रुहेरश्च लो वा ॥ ९४ ॥—रोहितः; लोहितम् ॥ ९४ ॥

पिशेः किच्च ॥ ९५ ॥—पिशितम् ॥ ९५ ॥

बहुलवचनात्—हूर्च्छति कुटिलं भवतीति **मुहूर्त्तम्**, घटिकाद्वयकालो वा । धातोर्मुडागमः, राल्लोपः [अ० ६।४।२१] इति छलोपः । ऋच्छत्यात्मानं प्राप्नोतीति **ऋतम्**, यथार्थं वा । वसति यत्रेति **वस्तम्**, स्थानं वा ॥

९०. दवति गच्छति दुनोत्युपतपति वा स **दूतः**[1], बहुकार्यसाधको राजभृत्यो वा; स्त्रियां '**दूती**' । तनोति कार्याणीति **तातः**, पिता वा ।

बाहुलकात्—स्यति कर्मसमाप्तिं करोतीति **सीता**, क्षेत्रे हलेन कृता रेखा, स्त्रीविशेषो[2] वा ॥

९१. धातोर्दीर्घः प्रत्ययस्य मूडुदात्तत्वं च । यो जयति येन वा स **जीमूतः**, मेघः पर्वतो वा ॥

९२. लोष्टते सङ्घातो भवतीति **लोष्टम्**, मृत्पिण्डो वा । पल्यते प्राप्यते तत् **पलितम्**, वृद्धावस्थया केशादीनां शुक्लत्वं वा ॥

९३. हरतीति **हरितः**, वर्णभेदो वा । श्यायति गच्छतीति **श्येतः**, श्यामवर्णो वा । स्त्रियां—'**हरिणी; हरिता । श्येनी; श्येता**[3] ॥

९४. रोहति प्रादुर्भवतीति **रोहितः**, मृगमत्स्ययोर्भेदः [वा]; **रोहितं**, रुधिरं वा । **लोहितः**, अङ्गारको[4] रुधिरं रक्तवर्णो वा । [स्त्रियाम्—**रोहिणी, रोहिता । लोहिनी, लोहिता**[5] ॥]

९५. पिश्यतेऽवयवरूपं क्रियते तत् **पिशितम्**, मांसं वा ॥

---

१. वृत्तिकारोऽयमृग्वेदभाष्ये (१।१२।८) ण्यन्तादपि दूतशब्दं निर्ब्रवीति । तत्र 'बहुलमन्यत्रापि संज्ञाछन्दसोः' (उ० २।२३) इत्यनेन णिलुक् । यद्वान्तर्णीतण्यर्थात् प्रत्ययो वक्तव्यः ।
२. रामस्य पत्नी ।

३. अत्र ९८ पृष्ठस्था टिप्पणी ५ द्रष्टव्या ।

४. मङ्गलग्रह इत्यर्थः ।

श्रुदक्षिस्पृहिगृहिभ्य आय्यः ॥ ९६ ॥—श्रवाय्यः। दक्षाय्यः। स्पृहयाय्यः। गृहयाय्यः ॥ ९६ ॥

[1]**दधिषाय्यः ॥ ९७ ॥**

वृञ एण्यः ॥ ९८ ॥—वरेण्यः ॥९८ ॥

---

९६. श्रावयतीति **श्रवाय्यः**, दानपशुर्वा। दक्षयति वर्द्धतेऽसौ **दक्षाय्यः**, गृध्रो वा। स्पृहयतीति **स्पृहयाय्यः**, अभीप्सुर्नक्षत्रं वा। गर्हयति पदार्थान् गृह्णातीति **गृहयाय्यः**, गृहस्वामी वा। आय्यप्रत्यये णेरयादेशः[2] ॥

९७. दधि स्यति समापयतीति[3] **दधिषाय्यः**[4], घृतम्। निपातनात् षत्वम् ॥

९८. व्रियते स्वीक्रियतेऽसौ **वरेण्यः**, श्रेष्ठो वा ॥

---

१. वैयमुद्रिते 'दधातेर्द्वित्वमित्त्वं षुक् च' इत्यपपाठः। अयं सिद्धान्तकौमुद्यन्तर्गतोणादिसूत्रवृत्तेः पाठः। वृत्तिकारस्त्वत्र 'दधिषाय्यः' इत्येव सूत्रपाठं मनुते। अत एव वृत्तौ निपातनात् षत्वमाह। परन्तु स्वीयऋग्भाष्ये (१।७३।२) 'दिधिषायः' पदस्य व्याख्याने वैयमुद्रितमेव सूत्रपाठमुद्धृतवान्।

२. 'अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु' (अ० ६।४।५५) इति सूत्रेणेति शेषः।

३. यथा त्वत्र वैमुद्रिते सूत्रपाठस्तदनुसारं 'दधिषाय्य' शब्दो दधातेद्वित्वमित्त्वं षुगागमश्चं निपात्यते। इदमेव च निपातनं दशपादीवृत्तिकारोऽपि निदर्शयति (८।२)। दशपादीवृत्तिकारस्तु पक्षान्तरे धिष धातोरपि निपातनं ब्रवीति। दधिषाय्यं पृषदाज्यमिति दशपादीवृत्तिकारः (८।२) पृष्ठ २८३)।

४. भट्टोजिदीक्षितस्तु सर्वासु वृत्तिषु पठ्यमानं 'दधिषायः' सूत्रपाठमृग्वेदे श्रूयमाणं 'दिधिषाय्य'शब्दं सायणभाष्ये (१।७३।२) तत्पदप्रक्रियानिदर्शनाय 'दधातेः दिधिषाय्यः (३।९७) इति साय्यप्रत्ययान्तो निपात्यते' इति पाठं च दृष्ट्वा प्रत्याख्यातवान् (द्र०—प्रौढमनोरमा पृष्ठ ७८२)। तदाहोपुरुषिकामात्रमेव। यत्तु सायणभाष्ये (१।७३।२) 'साय्य' प्रत्यय उक्तः, सोऽनादरणीय एव, पूर्वसूत्रे 'आय्य' प्रत्ययस्योक्तत्वात्। सायणाचार्येण ऋग्भाष्ये (१।६३।६) 'अतसाया' पदव्याख्यानेऽपि 'साय्य' प्रत्ययस्य कल्पना कृता। तस्या प्रत्याख्यानं वृत्तिकारेण स्वीये ऋग्भाष्ये (१।६३।६) कृतम्। द्रष्टव्या तत्रस्थाऽस्मदीया टिप्पणी।

यत्त्वस्या वृत्तिकारेण ऋग्भाष्ये (१।७३।२) 'दधातेर्द्वित्वमित्त्वं षुक्' इत्युक्तम्, तस्यायं भावः—दधातेः पूर्वमित्त्वं ततो द्वित्वमिति। अन्यथा पूर्वं द्वित्वेऽभ्यास इत्त्वं न श्रूयेत।

स्तुवः केय्यश्छन्दसि ॥ ९९ ॥—स्तुवेय्यम् ॥ ९९ ॥

राजेरन्यः ॥ १०० ॥ राजन्यः ॥ १०० ॥

शॄरम्योश्च ॥ १०१ ॥—शरण्यम् । रमण्यम् ॥ १०१ ॥

अर्त्तेर्निच्च ॥ १०२ ॥—अरण्यम् ॥ १०२ ॥

पर्जन्यः ॥ १०३ ॥

---

९९. स्तूयतेऽसौ **स्तुवेय्यः**, पुरन्दरो वा । 'क्सेय्यः'[1] इति पाठान्तरं, तदा **स्तुषेय्यः** ॥

१००. राजते दीप्यतेऽसौ **राजन्यः**, अग्निर्वा; क्षत्रियजातौ तु राज्ञोऽपत्यं **राजन्यः**[2] । तत्रान्त्यस्वरितः[3] ॥

१०१. शृणाति हिनस्तीति **शरण्यम्**, अज्ञानं वा । रमतेऽस्मिंस्तत् **रमण्यम्**, गृहं वा ॥

१०२. ऋच्छन्ति गृहाद् गच्छन्ति यत्र तत् **अरण्यम्**, वनं वा; महदरण्यम् **अरण्यानी**[4] ॥

१०३. पर्षति सिञ्चतीति[5] **पर्जन्यः**, मेघः समर्थो वा । निपातनात् षकारस्य जकारः ॥

---

१. अयं दशपाद्युणादिवृत्तेः पाठः (द० उ० ८।४) । अयमेव पाठः सायणेन-र्भाष्ये (१०।१२०।६) उद्धृतः । सायणभाष्यमाधारीकृत्य दीक्षितेन 'केय्यः' पाठस्य प्रौढमनोरमायां (पृष्ठ ७८२) प्रत्याख्यानं कृतम् ।

२. 'राजश्वसुराद् यत्' (अ० ४।१।१३७) इति यत् । अयं च नापत्यसामान्ये भवति । किं तर्हि ? 'राज्ञोऽपत्ये जातिग्रहणम्' इति वार्तिकेन जातिविशिष्टेऽपत्ये ।

३. 'तित्स्वरितम्' (अ० ६।१।१७९) इति सूत्रेणेति शेषः । औणादिकस्तु प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तः ।

४. 'हिमारण्ययोर्महत्त्वे' (अ० ६।१।४९) इति वार्तिकेन अरण्यस्य महत्वे गहनत्वे ङीष् आनुक् च । निरुक्तकारस्तु 'अरण्यान्यरण्यस्य पत्नी' (९।३०) इत्याह । विशेषस्त्वत्र पूर्वत्र (पृष्ठे ४३, टिप्पण्यां ४) द्रष्टव्यः)

५. तुलना कार्या –'पर्जन्यस्तृपेः, आद्यन्तविपरीतस्य तर्पयिताजन्यः' इति यास्कः (निरु० १०।१०) । वररुचिस्तु निरुक्तसमुच्चये (पृष्ठ ६७ द्वि० सं०) '[पर्जन्यः] तृपेराद्यन्तविपर्ययेण तकारलोपेन च जन्यप्रत्ययान्तस्य रूपम्' इत्याह । यथा तु यास्कस्य निर्वचनं तथा पर्जन्यो द्विधातुजः ।

वदेरान्यः ॥ १०४ ॥— वदान्यः ॥ १०४ ॥

अमिनक्षियजिवधिपतिभ्योऽत्रन् ॥ १०५ ॥—अमत्रम् । नक्षत्रम् । यजत्रम् । वधत्रम् । पतत्रम् ॥ १०५ ॥

गडेरादेश्च कः ॥ १०६ ॥ —कडत्रम् । कलत्रम् ॥ १०६ ॥

वृञश्चित् ॥ १०७ ॥— वरत्रा ॥ १०७ ॥

सुविदेः कत्रन् ॥ १०८ ॥— सुविदत्रम् ॥ १०८ ॥

कृतेर्नुम् च ॥ १०९ ॥—कृन्तत्रम् ॥ १०९ ॥

---

१०४. उद्यते वदतीति वा स **वदान्यः**, वाग्मी त्यागी वा ॥

१०५. अमति प्राप्नोति यत्र तत् **अमत्रम्**, पात्रं वा । नक्षति गच्छतीति **नक्षत्रम्**, तारका वा । इज्यते यजति वा तद् **यजत्रम्**, अग्निहोत्रं होता वा । वधीति हनः स्थाने वधादेशो निपात्यते[1] । हन्ति येन तद् **वधत्रम्**[2], आयुधं वा । पतति गच्छति येन तत् **पतत्रम्**, वाहनं लोमानि वा ॥

१०६. [धातोरादेः कादेशः ।] गडति सिञ्चतीति **कडत्रम्** । बाहुलकात् डस्य लः । **कलत्रम्**, कटिभागो भार्या वा ॥

१०७. वृणोत्युदकादिकं यया या वा सा **वरत्रा**, चर्मरज्जुर्वा ॥

१०८. सुष्ठु विद्यते तत् **सुविदत्रम्**,[3] कुटुम्बं वा ॥

१०९. कृन्तति छिनत्ति येन तत् **कृन्तत्रम्**, लाङ्गलं वा ॥

---

१. इदं वृत्तिकाराणां मतेन। यथा तु वामनस्तथा 'वध' प्रकृत्यन्तरं द्रष्टव्यम् । काशिका ७।३।३५ । अस्य प्रकृत्यन्तरत्वेऽस्मदीये 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थस्य प्रथमे भागे (पृष्ठ ३३-३४ सं० ३, सं० २०३०) विशेषेण द्रष्टव्यम् ।

२. श्वेतवनवासी तु बन्धेर्नलोपे बकारादिं बधत्रमाह ।

३. 'सुविदत्रं धनं भवति । विन्दतेर्वैकोपसर्गात् (=सु विद्+कत्रन्), ददातेर्वा द्व्युपसर्गात्' (=सु वि+दा+कत्रन्) इति यास्कः (निरु० ७।९) । सूपपदाद् विदधातोः कत्रन् प्रत्यये सुविदत्रः' इति स्वरः प्राप्नोति, 'सविदत्रः' इति चेष्यते । एवं 'कृन्तत्र' इत्यत्रापि । तस्मादत्र 'कत्र' प्रत्यय एवेष्यते, इति स्पष्टम् ।

भृमृदृशियजिपर्विपच्यमितमिनमिहर्य्यिभ्योऽतच् ॥११०॥—भरतः । मरतः । दर्शतः । यजतः । पर्वतः । पचतः । अमतः । तमतः । नमत । हर्य्यतः ॥ ११० ॥

पृषिरञ्जिभ्यां कित् ॥ १११ ॥—पृषतः । रजतम् ॥ १११ ॥

खलतिः ॥ ११२ ॥

---

११०. भरति पुष्णातीति **भरतः**, राजभेदो नटो[1] रामानुजो वा । म्रियते येन[2] [स] **मरतः**, मृत्युर्वा । पश्यति येन स **दर्शतः**, चन्द्रः सूर्यो वा । यजतीति **यजतः**, ऋत्विग्वा । पर्वति पूर्णो भवतीति **पर्वतः**, गिरिर्वा[3] । पर्व विद्यतेऽस्मिन्निति मत्वर्थीयस्तकारप्रत्ययो[4] वा । पचति येन स **पचतः**, अग्निर्वा । अमति गच्छतीति **अमतः**, रेणुर्वा । ताम्यति काङ्क्षतीति **तमतः**, तृष्णापरो वा । नमतीति **नमतः** नम्रो वा । हर्यति गच्छतीति **हर्यतः**, अश्वो वा ।

बाहुलकात्—मलते स्वरूपं धरतीति **मालती**, [पुष्पलता वा] । उपधादीर्घो, गौरादित्वात्[5] [अ० ४ । १ । ४१] ङीष् ॥

१११. पर्षति सिञ्चतीति **पृषतः**, विन्दुर्मृगो वा । रजति प्रियं भवतीति **रजतम्**, रूप्यं शुक्लं वा ॥

११२. स्खलति सञ्चलतीति[6] **खलतिः**, निष्केशशिराः पुरुषो वा । धातोः सलोपः प्रत्ययान्तस्येत्वं निपातः[7] ॥

---

१. नाट्यशास्त्रस्य रचयिता भरतमुनिः, तत्प्रोक्तं ग्रन्थं येऽधीयते विदन्ति ते नटा अपि 'भरताः' इत्युच्यन्ते ।

२. वैयमुद्रिते 'असौ' इत्यपपाठः ।

३. अयं पाठो वैयमुद्रितेऽग्रेऽस्थाने पठ्यते ।

४. 'तप् पर्वमरुद्भ्यां वक्तव्यः' (अ० ५।२।१२२) इति वार्तिकेन तप् प्रत्ययः, वृत्तिकारेण अनुबन्धस्य लोपं कृत्वा 'तकारप्रत्ययः' इत्युक्तम् ।

५. गौरादिगणे 'मालत' शब्दः पठ्यते ।

६. 'खलति' शब्दो भीमादिगणे (अ० ३।४।७४) पठ्यते । तेन अपादानेऽपि प्रत्ययो भवति ।

७. अत्र ८६ पृष्ठस्था टिप्पणी ३ द्रष्टव्या ।

शीङ्शपिरुगमिवञ्चिजीविप्राणिभ्योऽथः ॥ ११३ ॥—शयथः । शपथः । रवथः । गमथः । वञ्चथः । जीवथः । प्राणथः ॥ ११३ ॥

भृञ्शिचत् ॥ ११४ ॥—भरथः ॥ ११४ ॥

रुविदिभ्यां ङित् ॥ ११५ ॥—रुवथः । विदथः ॥ ११५ ॥

उपसर्गे वसेः ॥ ११६ ॥—आवसथः । संवसथः ॥ ११६ ॥

अत्यविचमितमिनमिरभिलभिनभितपिपतिपनिपणिमहिभ्योऽसच् ॥ ११७ ॥—अतसः । अवसः । चमसः । तमसः । नमसः । रभसः । लभसः । नभसः । तपसः । पतसः । पनसः । पणसः । महसम् ॥ ११७ ॥

---

११३. शेतेऽसौ **शयथः**, अजगरो वा । शप्यत आक्रुश्यत इति **शपथः**, निश्चयकरणं वा । रौतीति **रवथः**, कोकिलो वा । गच्छतीति **गमथः**, पथिको वा । वञ्चति प्रलम्भयतीति **वञ्चथः**, धूर्तः । अस्य स्थाने 'वन्दि' इति पाठान्तरे **वन्दथः**, स्तोता स्तुत्यो वा । जीवतीति **जीवथः**, आयुष्मान् [वा] । प्राणितीति **प्राणथः**, बलवान् वा ।

बाहुलकात्—दृणातीति **दरथः**, दिक्षु प्रसरणं गर्त्तो वा । [1]शाम्यतीति **शमथः**, शान्तिः [वा] । [2]दाम्यतीति **दमथः**, दान्तिः दमो वा ॥

११४. बिभर्त्तीति **भरथः**, लोकपालो राजा वा ॥

११५. रौतीति **रुवथः**, श्वा वा । वेत्तीति **विदथः**, योगी[3] वा ॥

११६. [आ] समन्ताद्वसति यत्र स **आवसथः**, गृहं वा । सम्यग्वसन्ति यत्र स **संवसथः**, ग्रामो वा ॥

११७. अतति निरन्तरं गच्छतीति **अतसः**, वायुर्वा; स्त्रियाम् 'अतसी'[4] । अवति रक्षादिकं करोतीति **अवसः**, राजा वा । चमति भक्षयति

---

१. शान्त्यर्थे 'शमनं शमथः' निर्वचनं द्रष्टव्यम् ।

२. दमदान्त्योः 'दमनं दमथः' निवर्चनं द्रष्टव्यम् ।

३. गैयमुद्रिते 'योगो वा' इत्यपपाठः । द्रष्टव्यात्रोज्ज्वलदत्तवृत्तिः ।

४. 'अलसी' इति भाषायां प्रसिद्धा । 'गौरादित्वात् [अ० ४।१।४१] इति ङीष्' इत्युज्ज्वलदत्तः । 'अतस'शब्दो न साक्षाद् गौरादिषु पठ्यते । तत्र पठिते 'पिप्पल्यादयश्च' इति गणसूत्रे पिप्पल्यादीनामाकृतिगणत्वान्ङीष् द्रष्टव्यः ।

वेत्रस्तुट् च ॥ ११८ ॥—वेतसः ॥ ११८ ॥

वहियुभ्यां णित् ॥ ११९ ॥—वाहसः । यावसः ॥ ११९ ॥

वयश्च ॥ १२० ॥—वायसः ॥ १२० ॥

येन स **चमसः**; 'गौरादित्वात् [अ० ४ । १ । ४१] '**चमसी**'[1] । ताम्यति काङ्क्षतीति **तमसः**, ध्वान्तं वा । नमतीति **नमसः**, अनुकूलं वा । रभतेऽसौ **रभसः**, वेगो हर्षो वा । लभतेऽसौ **लभसः**, अश्वबन्धनं वा । नभते हिनस्तीति **नभसः**, आकाशं[2] वा । तपति तापहेतुर्भवतीति **तपसः**, चन्द्रमा वा । पततीति **पतसः**, पक्षी वा । पनायति[3] स्तौतीति **पनसः**, कण्टकिफलं वा । [पणायति[4] व्यवहरतीति **पणसः**, पण्यद्रव्यं वा] । महतीति **महसम्**, ज्ञानं वा ।

बाहुलकात्—अम्यते प्राप्यते तत् **तामसम्**[5], कमलं वा । प्रत्ययस्य णित्वाद् वृद्धिर्धातोश्च तुट् । स्यति कर्म समापयतीति **साध्वसम्**, [6]प्रातिभं ज्ञानं वा । धातोर्धुक् । कक्कते चञ्चलं भवतीति **कीकसम्**, अस्थि वा । धातोः कीकादेशः । तरतीति **तरसम्**, मांसं वा ॥

११८. वयति तन्तून् संतनोतीति **वेतसः**, वृक्षभेदो वा ॥

११९. वहतीति **वाहसः**, अजगरो वा । यौति मिश्रयत्यमिश्रयति वा स **यावसः**,[7] तृणसन्ततिर्वा ॥

१२०. वयते गच्छतीति **वायसः**, काको वा ॥

---

१. 'चमस' शब्दोऽपि न गौरादिषु साक्षात् पठ्यते । अत्रापि पूर्ववत् पिपल्यादीनां आकृतिगणत्वान्ङीष् ज्ञेयः ।

२. आकाशशब्दोऽर्धर्चादिषु (अ० २।४।३१) पठ्यते । तेन पुंन्नपुंसकलिङ्गः ।

३. स्तौत्यर्थे आत्मनेपदं भवतीति काशिकाकारादय आहुः ।

४. व्यवहारार्थेऽप्यायप्रत्ययो भवतीति पूर्वमुक्तम् (द्र०—पृष्ठ ९५, टि० ४) ।

५. नैयमुद्रिते 'तामरसम्' इत्यपपाठः । अमेरसचि वृद्धौ तुटि च 'तामरस' रूपासिद्धेः । उज्ज्वलदत्तवृत्तावप्ययमपपाठ उपलभ्यते ।

६. नैयमुद्रिते 'पश्चात्' इत्यपपाठः ।

७. वेदे (यजुः २१।३३) 'यवस' इत्यपि श्रूयते । तत्र बाहुलकत्वादसच् णिन्न भवति ।

दिवः कित् ॥ १२१ ॥—दिवसम् ॥ १२१ ॥

कृशृशलिकलिगर्दिभ्योऽभच् ॥ १२२ ॥—करभः । शरभः । शलभः । [कलभः] । गर्दभः ॥ १२२ ॥

ऋषिवृषिभ्यां कित् ॥१२३ ॥—ऋषभः । वृषभः ॥ १२३ ॥

रुषेर्नित्लुष् च ॥ १२४ ॥—लुषभः ॥ १२४ ॥

रासि[1]वल्लिभ्यां च ॥ १२५ ॥—रासभः । [1]वल्लभः ॥ १२५ ॥

जॄविशिभ्यां झच् ॥ १२६ ॥—जरन्तः । वेशन्तः ॥ १२६ ॥

---

१२१. दीव्यति प्रकाशते सूर्यो यत्र तद् दिवसम्; दिवसः वा । [2]अर्धर्चादिपाठाद् [अ० २।४।३१] द्विलिङ्गः ॥

१२२. किरति विक्षिपतीति करभः, हस्तस्य [3]वहिर्भागः [उष्ट्र]वालो वा । शृणा[ति हिनस्]तीति शरभः, आरण्यानां मध्ये हिंसकविशेषपशुजातिः । शलते गच्छतीति शलभः, पतङ्गो वा । कलते संख्यां करोतीति स कलभः, करिशावको वा । गर्दयति शब्दं करोतीति गर्दभः, खरो वा ॥

१२३. ऋषति गच्छतीति ऋषभः; वर्षतीति वृषभः, [4]श्रेष्ठपर्यायौ बलीवर्दौ वा ॥

१२४. रोषति हिनस्तीति लुषभः, मत्तहस्ती वा । [किदनुवर्तनाद् गुणाभावः ।]

१२५. रासति शब्दयतीति रासभः, खरो वा । [5]वल्लते संवृणोतीति [5]वल्लभः, प्रियो वा ॥

१२६. प्रत्ययादिझकारस्य झोऽन्तः । [अ० ७।१।३] इत्यन्तादेशः । जीर्यति स जरन्तः, महिषो वा । विशति प्रवेशं करोतीति वेशन्तः, अल्पजलाशयो वा ।

---

१. गैयमुद्रिते 'रासिवल्लिभ्यां' 'वल्लभः' इत्यपपाठौ ।

२. गैयमुद्रिते 'अर्द्धादिपाठाद्' इत्यपपाठः ।

३. मणिबन्धादारभ्य कनिष्ठापर्यन्तः ।

४. गैयमुद्रिते 'श्रेष्ठपर्यायौ बलीवर्दो वा' इत्यपपाठः ।

५. गैयमुद्रिते 'बल्लते बल्लभः' इत्यपपाठः । प्रथमसंस्करणान्ते शोधितः पाठोऽप्युत्तरत्राशुद्ध एव मुद्र्यते ।

रुहिनन्दिजीविप्राणिभ्यः षिदाशिषि ॥ १२७ ॥—रोहन्तः । नन्दन्त. । जीवन्तः । प्राणन्तः । रोहन्ती ॥ १२७ ॥

तॄभूवहिवसिभासिसाधिगडिमण्डिजिनन्दिभ्यश्च ॥ १२८ ॥—तरन्तः । भवन्तः । वहन्तः । वसन्तः । भासन्तः । साधन्तः । गण्डयन्तः । मण्डयन्तः । जयन्तः । नन्दयन्तः ॥ १२८ ॥

हन्तेर्मुट् हि च ॥ १२९ ॥—हेमन्तः ॥ १२९ ॥

भन्देर्नलोपश्च ॥ १३० ॥—भदन्तः ॥ १३० ॥

ऋच्छेररः ॥ १३१ ॥—ऋच्छरः ॥ १३१ ॥

बाहुलकात्—अर्हति पूज्यो भवतीति **अर्हन्तः** [पूज्यः] ॥

१२७. [1]'रोहतीति **रोहन्तः**, वृक्षभेदो वा । नन्दति समृद्धियुक्तो भवतीति **नन्दन्तः**, पुत्रो वा । यो जीवति [येन वा] स **जीवन्तः**, औषधं वा । प्राणिति श्वासप्रश्वासान् प्रवर्त्तयति स **प्राणन्तः**, वायुर्वा । षित्त्वात् स्त्रियां ङीष् **'प्राणन्ती, रोहन्ती, नन्दन्ती, जीवन्ती'** ॥

१२८. ऋच् । यस्तरति येन यत्र वा स **तरन्तः** समुद्रः; तरन्ती नौका वा । यो भवतीति यत्र वा स **भवन्तः**, कालो वा । वह्नि कार्याणि प्रापयतीति **वहन्तः**, वायुर्वा । यो वसति यत्र वा स **वसन्तः**, ऋतुभेदो वा । भासयते दीप्यतेऽसौ **भासन्तः**, सूर्यो वा । साध्नोति कार्याणीति **साधन्तः**. भिक्षुको वा । गण्डयति सेचयतीति **गण्डयन्तः**, मेघो वा । मण्डयति शोभितं करोतीति **मण्डयन्तः**, भूषणं वा । जयतीति **जयन्तः**, जयशीलः[वा]। स्त्रियां **'जयन्ती'** पुष्पभेदो वा । **'विजयन्तः'** कश्चिद्राजविशेषस्तस्य प्रासादो **'वैजयन्तः'**, **वैजयन्ती** पताका । नन्दन्ति येन स **नन्दयन्तः**, आनन्दकरो वा । [2]यतः पूर्वसूत्रेऽपि नन्दिः पठितः, ततोऽत्र पुनर्ग्रहणमनाशिष्यपि यथा स्यात्॥

१२९. यो हन्ति शीतेन स **हेमन्तः**, ऋतुभेदो बा ॥

१३०. भन्दते कल्याणं करोतीति **भदन्तः**, प्रव्रजितो वा ॥

१३१. ऋच्छति गच्छति स **ऋच्छरः**; **ऋच्छरा** वेश्या वा ।

---

१. अत्राशिषि प्रत्ययविधानाद् इह 'रोहताद् रोहन्तः, नन्दतात् समृद्धियुक्तो भवतात् नन्दन्तः, जीवतात् जीवन्तः' इत्येवं व्युत्पत्तिप्रदर्शनं युक्तं स्यात् ।

२. गैयमुद्रिते 'अतः पूर्व ···अत्र पुन······' इत्यपपाठः ।

अर्त्तिकमिभ्रमिचमिदेविवासिभ्यश्चित् ॥ १३२ ॥—अररः । कमरः । भ्रमरः । चमरः । देवरः । वासरः ॥ १३२ ॥

कुवः करन् ॥ १३३ ॥—कुररः ॥ १३३ ॥

अङ्गिमदिमन्दिभ्य आरन् ॥ १३४ ॥—अङ्गारः । मदारः । मन्दारः ॥ १३४ ॥

गडेः कड च ॥ १३५ ॥—कडारः ॥ १३५ ॥

भृङ्गारभृङ्गारौ ॥ १३६ ॥

बाहुलकात्—वदतीति वदरम्, वदर्य्याः फलं वा । कन्दति वैकल्यं करोतीति कदरः, श्वेतखदिरो वा । [धातोर्नलोपः ।] कपिलकादित्वात् [अ० ८ । २ । १८ वा०] लत्वे [कदलः], गौरादित्वात् [अ० ४।१।४१] ङीष् 'कदली, कदरी, वदरी' । मन्दर-कन्दर-शीकर-कोटर-शवर-समर-बर्बर-वर्कर-कर्पर-पिञ्जर-अम्बर-आडम्बर-जर्जर-कर्कर-नखर-तोमर प्रभृतयोऽपि अरप्रत्ययान्ता बहुलवचनादेव साधनीयाः ॥

१३२. ऋच्छति गच्छति यतः स अररः, कपाटो वा । कामयतेऽसौ कमरः, कामुको वा । भ्राम्यतीति भ्रमरः, षट्पदः कामुको वा । चमति भक्षयतीति चमरः, मृगभेदो वा । गौरादित्वात् [अ० ४ । १ । ४१] स्त्रियां ङीष् 'चमरी' सुरा गौः । चमर्य्या अयं 'चामरः' बालसमूहः । दीव्यति क्रीडादिकं करोतीति देवरः, विधवाया द्वितीयः पतिः[1], पत्युः कनिष्ठभ्राता [वा] । वासयतीति वासरः, मङ्गलादिवारो वा[2] ॥

१३३. कौति शब्दयतीति कुररः, पक्षिभेदो वा ॥

१३४. अङ्गति गच्छति स अङ्गारः, निर्धूमोऽग्निर्भूमिविकारो वा । माद्यति मत्तो भवतीति मदारः, वराहो वा । मन्दते स्तौतीति मन्दारः, निम्बतरुरर्कवृक्षो वा । बाहुलकात् 'मन्द'धातोर् 'आरु' प्रत्ययोऽपि भवति । मन्दतेऽसौ मन्दारुः, निम्बार्कौ वा ॥

१३५. गर्डति सिञ्चतीति कडारः, पीतवर्णो वा ॥

१३६. भृणाति हिनस्तीति भृङ्गारः, हस्तिशोभा[3] नाट्यरसो दम्प-

---

१. 'देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते' । निरुक्त ३।१५।

२. भौमः, मङ्गलनामा ग्रह इत्यर्थः ।

३. अत्र 'हस्तिभूषा' पाठो युक्तः स्यात् । द्रष्टव्योज्ज्वलवृत्तिः ।

कञ्जिमृजिभ्यां चित् ॥ १३७ ॥—कञ्जारः । मार्जारः ॥ १३७ ॥

कमेः किदुच्चोपधायाः ॥ १३८ ॥—कुमारः ॥ १३८ ॥

तुषारादयश्च ॥ १३९ ॥—तुषारः । कासारः । सहारः । [तर्कारः] ॥ १३९ ॥

दीङो नुट् च ॥ १४० ॥—दीनारः ॥ १४० ॥

सर्त्तेरपः षुक् च ॥ १४१ ॥—सर्षपः ॥ १४१ ॥

उषिकुटिदलिकचिखजिभ्यः कपन् ॥ १४२ ॥—उषपः । कुटपः । दलपः । कचपम् । खजपम् ॥ १४२ ॥

त्योरन्योऽन्यं सम्भोगस्पृहा वा । अत्र धातोर्नुम् ह्रस्वादेशश्च । बिभर्ति पुष्यतीति **भृङ्गारः**, सुवर्णपात्रविशेषो वा; स्त्रियां 'भृङ्गारी', कीटजातिभेदो वा, 'भींगर' इति प्रसिद्धः ॥

१३७. कञ्जति रौतीति **कञ्जारः**, मयूरो व्यञ्जनं वा । मार्ष्टि शुन्धतीति **मार्जारः**, विडालो वा; स्त्रियां **'मार्जारी'** ॥

१३८. चिदनुवर्त्तते । 'कामयते भोगानिति **कुमारः**, शिशुर्युवराजो वा। **'कुमार क्रीडायाम्'** इत्यस्मादपि पचाद्यचि[2] कृते कुमारशब्दो व्युत्पद्यते । तदुपायान्तरमर्थभेदश्च ॥

१३९. यस्तुष्यति येन वा तत् **तुषारम्**, हिमं वा । कासते शब्दयति निन्दति वा स **कासारः**,सरो[3] वा । सहतीति **सहारः**, आम्रभेदो वा । तर्कयति भाषतेऽसौ **तर्कारः**; स्त्रियां गौरादित्वात् [अ० ४ । १ । ४१] **'तर्कारी'**, जयन्ती विशेषलता[4] वा ॥

१४०. दीयते क्षयति येन वा स **दीनारः**, सुवर्णाभरणं[5] वा ॥

१४१. सरति गच्छति स **सर्षपः**, कटुस्नेहवान् वा ॥

१४२. ओषति दहति स **उषपः**, अग्निः सूर्यो वा । कुटतीति **कुटपः**,

---

१. गैयमुद्रितेषु १-४ संस्करणेषु 'कामते' इत्यपपाठः ।

२. 'अजपि सर्वधातुभ्यः' (अ० ३।१।१३४) इति वार्तिकेनेति भावः ।

३. गैयमुद्रिते 'सरसी' इत्यपपाठः । कासारः क्षुद्रसर उच्यते । सरसी महत्सरः । तदुक्तं महाभाष्ये—'दक्षिणापथे हि महान्ति सरांसि सरस्य इत्युच्यन्ते' (महा० १।१।१८)।

४. 'चंदलाई' नाम्ना प्रसिद्धा ।

५. सुवर्णमुद्राविशेषोऽपि दीनार उच्यते ।

क्वणेः सम्प्रसारणञ्च ॥ १४३ ॥—कुणपण् ॥ १४३ ॥

कपश्चाक्रवर्मणस्य ॥ १४४ ॥

विटपविष्टपविशिपोलपाः ॥ १४५ ॥

वृतेस्तिकन् ॥ १४६ ॥—वर्त्तिका ॥ १४६ ॥

मानभाण्डं वा । दालयति विदारयतीति दलपः, प्रहारो वा । कचते बध्नातीति कचपम्, शाकपात्रं वा । खजति मथ्नाति मथ्यत इति खजपम्, घृतं वा ॥

१४३. क्वणति शब्दं करोतीति कुणपः, शवो मृद्भेदो वा ॥

१४४. चाक्रवर्मणस्य मते क्रपे सति प्रत्ययस्यादिरुदात्तः । अन्यमते सङ्घातस्याद्युदात्तत्वम्[1] ॥

१४५. 'कपप्रत्ययान्ता निपाताः'[2] । वेटति शब्दयति वायुनेति विटपः, शाखाविस्तारो वा । विशन्ति यत्रेति विष्टपम्, भुवनं वा । [प्रत्ययस्य तुडागमः ।] त्रिविष्टपः, सुखविशेषभोगो वा । धातोर्वकारस्य पत्वं प्रत्ययस्य तुट् च त्रिपिष्टपम्,[3] इति वा । विशन्ति यत्रेति विशिपम्, मन्दिरं वा । प्रत्ययादेरित्वम् । वलते संवृणोतीति उलपम्, कोमलतृणं वा । धात्वादेः सम्प्रसारणम् ॥

१४६. वर्त्ततेऽसौ वर्त्तिका, पक्षिभेदो[4] वा । यस्तु 'वृतु'धातोर्ण्वुल्प्रत्यये 'वर्त्तका' शब्दस्तत्र [6]वार्तिकेनेत्वनिषेधाद् 'वर्त्तका' इत्येव । तत्रोणादीनामव्युत्पन्नत्वाद् [वर्त्तिका] वर्तका व्युत्पन्न इति भेदः[7] ॥

---

१. कपप्रत्यये 'कुणपः' इति स्वरः । कपन् प्रत्यये 'कुणपः' इति स्वरः ।

२. अस्मिन् सूत्रे निर्दिष्टेषु चतुर्षु 'विष्टप-उलप' शब्दौ वैदिकग्रन्थेषूपलभ्येते । तयोः प्रथमः मध्योदात्तः, अपर आद्युदात्तः । तेनाऽत्र 'कप' 'कपन्' इत्युभयप्रत्ययान्त निपातनं द्रष्टव्यम् ।

३. द्रष्टव्याऽत्र ३।२८ सूत्रवृत्तौ पृष्ठ ८६, टिप्पणी ३ ।

४. गैयमुद्रितेषु १-४ संस्करणेषु 'त्रिविष्टपम्' इत्यपपाठः ।

५. 'वर्तिका चटकजातिः··· अस्या गच्छन्त्याः समुद्रमध्येऽपि शब्दः श्रूयते इति नाविका आचक्षते' इति स्कन्दस्वामी ऋग्भाष्ये (१।११२।८) आह ।

६. 'वर्तका शकुनौ प्राचाम्' (अ० ७।३।४५) इति वार्तिकेन ।

७. अयमपि व्युत्पन्ने भेदः—प्राचां मते 'वर्तका' प्रयुज्यते, अन्येषां 'वर्तिका' इति ।

कृतिभिदिलतिभ्यः कित् ॥ १४७ ॥—कृत्तिका । भित्तिका । लत्तिका ॥ १४७ ॥

इष्यशिभ्यां तकन् ॥ १४८ ॥—इष्टका । अष्टका ॥ १४८ ॥

इणस्तशन्तशसुनौ ॥ १४९ ॥—एतशः । एतशाः ॥ १४९ ॥

[1]वीपतिभ्यां तनन् ॥ १५० ॥—वेतनम् । पत्तनम् ॥ १५० ॥

दृदलिभ्यां भः ॥ १५१ ॥—दर्भः । दल्भः ॥ १५१ ॥

अर्त्तिगृभ्यां भनन् ॥ १५२ ॥—अर्भः । गर्भः ॥ १५२ ॥

---

१४७. कृन्ततीति कृत्तिका, नक्षत्रं वा । भिनत्तीति भित्तिका, भित्तिर्वा । लततीति लत्तिका, गोधा वा ॥

१४८. इष्यतेऽसौ इष्टका [मृद्विकारविशेषः] । अश्नुते सा अष्टका, वैदिककर्मविशेषो वा ।

बाहुलकात्--मस्यति परिणमतीति मस्तकम्, शिरो वा । दधातीति धातकम् । स्त्रियां 'धातकी'[2] पुष्पभेदः ॥

१४९. एति प्राप्नोतीति एतशः,[एतशौ,]। एतशाः, एतशसौ, अश्वो[3] ब्राह्मणो वा । [4]एकोऽदन्तोऽपरः सान्तः ॥

१५०. [5]वेति प्राप्नोति खादति वा तद् वेतनम्, भृतिर्वा । वेतनेन जीवति 'वैतनिकः'[6] कर्मकरः । पतति गच्छतीति पत्तनम्, नगरं वा ॥

१५१. दृणाति विदारयतीति दर्भः, कुशो वा । दलते विशीर्णो भवतीति दल्भः, [7]ऋषिश्चकं वा ॥

१५२. इयर्ति गच्छतीति अर्भः, शिशुर्वा । अल्पोऽर्भोऽर्भकः । गिरति गृणात्युपदिशतीति गर्भः, जठरं तत्रस्थो वा । 'गर्भादप्राणिनि' इति तारकादित्वाद् (अ० ५।२।३६) इतच् । गर्भिताः शालयः । प्राणिनि तु—'गर्भिणी' ॥

---

१. वैयमुद्रिते 'विपतिभ्यां' इत्यपपाठः ।

२. गौरादित्वान्ङीष् ।

३. निघण्टावश्वनामसु पठ्यते [१।१४] ।

४. एकः—'एतशः [एतशौ]' इति, अपरः—'एतशाः एतशसौ' इति भावः ।

५. वैयमुद्रिते 'वेत्ति' इत्यपपाठः ।

६. 'वेतनादिभ्यो जीवति' (अ० ४।४।१२) इत्यनेन ठक् ।

७. एतन्नामा ऋषिविशेष इति भावः ।

इणः कित् ॥ १५३ ॥—इभः ॥ १५३ ॥

असिसञ्जिभ्यां क्थिन् ॥ १५४ ॥—अस्थि । सक्थि ॥ १५४ ॥

प्लुषिकुषिशुषिभ्यः क्सिः ॥ १५५ ॥—प्लुक्षिः । कुक्षिः । शुक्षिः ॥ १५५ ॥

अशेर्नित् ॥ १५६ ॥—अक्षि ॥ १५६ ॥

इषेः क्सुः ॥ १५७ ॥—इक्षुः ॥ १५७ ॥

अवितॄस्तृतन्त्रिभ्य ईः ॥ १५८ ॥—अवीः । तरीः । स्तरीः । तन्त्रीः ॥ १५८ ॥

यापोः किद् द्वे च ॥ १५९ ॥—ययीः । पपीः ॥ १५९ ॥

---

१५३. एतीति इभः, हस्ती वा ॥

१५४. अस्यति प्रक्षिपति येन तत् अस्थि, कीकसं शरीरान्तरवयवो वा । सजतीति सक्थि, ऊरुदेशो वा ॥

१५५. प्लोषति दहतीति प्लुक्षिः, अग्निर्वा । कुष्णाति निष्कृषतीति कुक्षिः[1], जठरं गर्भाशयो वा । शोषयतीति शुक्षिः, वायुर्वा । अत्रान्तर्गतो णिच्, तस्य च पर्णशुड्वत् (द्र०—२।२३, पृष्ठ ५४, ५५) णिलुक् ॥

१५६. अश्नुते व्याप्नोति विषयान् येन तत् अक्षि, नेत्रं वा ॥

१५७. इष्यते स इक्षुः, मधु तृणं वा ॥

१५८. अवतीति अवीः, रजस्वला स्त्री वा । तरति यया सा तरीः, नौका वस्त्रादिरक्षकं भाण्डं वा । [2]स्तृणोत्याच्छादयतीति स्तरीः, धूमो वा । तन्त्रयति कुटुम्बं धरतीति तन्त्रीः, वीणा वा । णिलोपः ॥

१५९. याति प्रापयति स ययीः, अश्वो वा । पिबति पाति रक्षतीति वा स पपीः, सूर्यश्चन्द्रो वा ॥

---

१. कुक्षिः सूर्यः—'कुष्णाति निष्कर्षति सर्वपदार्थेभ्यो रसं यः' इति स्वीये ऋग्भाष्ये (१।८।७) वृत्तिकारः ।

२. गैयमुद्रिते तृतीयसंस्करणे 'स्तृणात्या०' पाठः ।

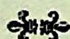
लक्षेर्मुट् च ॥ १६० ॥—लक्ष्मीः ॥ १६० ॥

इत्युणादिषु तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

---

१६०. लक्षयति पश्यत्यङ्कयति वा सा **लक्ष्मीः**, विभूतिर्वा । लक्ष्मीरस्यातीति **'लक्ष्मणः'** । **'लक्ष्म्या अच्च'** इति पामादिपाठात् [अ० ५।२।१००] मत्वर्थीयो नः[1] ॥

इत्युणादिव्याख्यायां वैदिकलौकिककोषे तृतीयः पादः ॥ ३ ॥



---

१. पूर्वत्र 'लक्षेरट् मुट् च' (उ०३।७) इति सूत्रेणापि लक्ष्मणशब्दः साधितः ।

[अथ चतुर्थपादारम्भः]



वातप्रमीः ॥ १ ॥

ऋतन्यञ्जिवन्यञ्ज्यर्पिमद्यत्यङ्गिकुयुकृशिभ्यः कत्निच्यतुजलिजिष्णुजिष्ठ-जिसन्स्यनिथिन्नुल्यसासानुकः ॥ २ ॥—रत्निः । तन्यतुः । अञ्जलिः। वनिष्णुः । अञ्जिष्ठः । अर्पिसः । मत्स्यः । अतिथिः । अङ्गुलिः । कवसः । यवासः । कृशानुः ॥ २ ॥

---

१. वात इव प्रमिणोति प्रक्षिपतीति **वातप्रमीः**, अतिशीघ्रगामी हरिणविशेषो वा । पुँल्लिङ्ग एवायं शब्दः । वातप्रमीन् मृगान् । ङौ तु—वातप्रमी, अमि—वानप्रमीम् ।

बाहुलकात्—[1]उश्यते काम्यतेऽसौ **उशी**, वाञ्छा [वा] । तत्कुशला नरा अस्मिन् सन्तीति **'उशीनरो'** देशः । अत्र बहुलवचनादेव सम्प्रसारणम् ॥

२. एभ्यो द्वादश धातुभ्यः कत्निजादयो द्वादश प्रत्यया यथासंख्यं भवन्ति । ऋच्छति गच्छतीति **रत्निः**[2],बद्धमुष्टिहस्तो[3] वा। [बद्धमुष्टिः] प्रसृत-[कनिष्ठ]ाङ्गुलिररत्निः[4] । तनु—यतुच्—तनोति विस्तृणोतीति **तन्यतुः**, वायू रात्रिर्वा । अञ्जू—अलिच्—अनक्ति व्यक्तं करोतीति **अञ्जलिः**, संयुतौ करौ वा । वनु—इष्णच्—वनोति याचतेऽसौ **वनिष्णुः**, अपानवायुर्वा । अञ्जू—इष्ठच्—अनक्ति प्रकटयति पदार्थानिति **अञ्जिष्ठः**,सूर्यो वा । अर्पि—इसन्—अर्पयतीति **अर्पिसः**, [हृदयस्य] अग्रमांसं वा । [मदि—स्यन्—] माद्यति हृष्यतीति **मत्स्यः**, मीनो वा । अत—इथिन्—अतति निरन्तरं गच्छति भ्रमतीति **अतिथिः**, अकस्मादागतः सज्जनो वा । न विद्यते नियता तिथिरस्येति व्युत्पत्त्यन्तरम् । स्त्रियां **कृदिकारादक्तिनः** [अ० ४ । १ । ४५

---

१. वैयमुद्रिते प्रथमसंस्करणे 'वष्टि कामयतेऽसौ' इति पाठः ।

२. कित्त्वाद् गुणाभावे यणादेशः । ३. अर्थात् विंशत्यङ्गुलिप्रमाणम् ।

४. 'कत्निच्' स्थाने 'अत्निच्' पाठान्तरे 'अरत्नि' शब्दः सिद्ध्यति । तत्प्रमाणं द्वाविंशत्यङ्गुलिः ।

श्रः करन् ॥ ३ ॥––शर्करा ॥ ३ ॥

पुषः कित् ॥ ४ ॥––पुष्करम् ॥ ४ ॥

कलँश्च ॥ ५ ॥––पुष्कलम् ॥ ५ ॥

गमेरिनिः ॥ ६ ॥––गमी ॥ ६ ॥

आङि णित् ॥ ७ ॥––आगामी ॥ ७ ॥

भुवश्च ॥ ८ ॥––भावी ॥ ८ ॥

प्र स्थः ॥ ९ ॥––प्रस्थायी ॥ ९ ॥

परमे कित् ॥ १० ॥––परमेष्ठी ॥ १० ॥

गणसूत्रम्] इति ङीष् 'अतिथी' स्त्री । अङ्गि—उलि—अङ्गति चेष्टतेऽनेन सः अङ्गुलिः, करशाखा वा । कु—अस—कौति वा कवत इति कवसः, कण्टकजातिर्वा । 'अच' इति पाठान्तरम् । तदा कवत इति कवचम् [,वर्म उरस्त्राणं वा]। [यु— आस—] यौति मिश्रयतीति यवासः, कण्टकवृक्षभेदो[1] वा । [कृश—आनुक्—] कृशति तनूकरोतीति कृशानुः, अग्निर्वा ॥

३. शृणातीति शर्करा, खण्डविकारो मृद्विकारो वा ॥

४. पुष्णातीति पुष्करम्, अन्तरिक्षं कमलमुदकं वा ॥

५. 'पुष' धातोः कलनपि । पुष्यतीति पुष्कलम्, पूर्णं वा ॥

६. गमिष्यतीति गमी, पथिको वा । भविष्यति गम्यादयः [३ । ३ ३] इति कालनियमः ॥

७. णित्त्वाद् वृद्धिः । आगमिष्यतींति आगामी [भविष्यत्कालः] ॥

८. इनिः णित् । भविष्यतीति भावी [भविष्यत्कालः] ॥

९. इनिः णित् । णित्त्वाद्युक् । प्रस्थातुमिच्छतीति प्रस्थायी गन्तुमनाः ॥

१०. परमे उत्तमे व्यवहारे तिष्ठतीति परमेष्ठी, सर्वेषां पितामह ईश्वरो वा । सप्तम्या अलुक्[2] षत्वं[3] च ।

---

१. 'जवासा' इति लोके प्रसिद्धः ।

२. 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' (अ० ६।३।१३) इत्यनेन ।

३. अम्बाम्बगोभूमि०' (अ० ८।३।९७) इत्यादिना ।

मन्थः ॥ ११ ॥—मन्थाः, मन्थानौ ॥ ११ ॥

पतः स्थ च ॥ १२ ॥—पन्थाः ॥ १२ ॥

खजेराकः ॥ १३ ॥—खजाकः ॥ १३ ॥

बलाकादयश्च ॥ १४ ॥—बलाका । मनाका । पवाका ॥ १४ ॥

[1]**शलिपटिपतिभ्यो नित् ॥ १५ ॥**—शलाका । पटाकः । पताका ॥ १५ ॥

---

११. इनिः कित्, कित्त्वान्नलोपः । मन्थयति विलोडयतीति **मन्थाः**, **मन्थानौ**, **मन्थानः**, दध्यादिमन्थनदण्डो वज्रो वायुर्वा । [2]मथिन् शब्दस्य सर्वनामस्थान आत्त्वम् [, थोन्थ आदेशश्च (अ० ७।१।८६, ८७)] ॥

१२. पतन्ति गच्छन्ति यत्र स **पन्थाः**, **पन्थानौ** [3]मार्गः । पूर्ववदात्वम् । 'पथे गतौ' इत्यस्माद्धातोः पचाद्यचि[4] कृते **पथः**, **पथौ**, **पथाः** इत्यदन्तोऽपि दृश्यते ॥

१३. खजति मथ्नातीति **खजाकः** पक्षिः; **खजाका**, दर्विर्वा ।

बहुलवचनात्—मन्द्यन्ते स्तूयन्ते तानि **मन्दाकानि**, स्रोतांसि वा । तान्यस्याः सन्तीति '**मन्दाकिनी**' नदीभेदः ॥

१४. बलते संवृणोत्यसौ **बलाका**, बकपङ्क्तिः कामिनी [वा]; **बलाको**, बकपक्षी वा । मन्यते जानाति सा **मनाका**, हस्तिनी वा । पुनातीति **पवाका**, [वात्या वा] ॥

१५. यां शलन्ति गच्छन्तीति **शलाका**, अञ्जनयष्टिका वा । पटति गच्छतीति **पटाकः**, पक्षी वा । पत्यते ज्ञायतेऽसौ **पताका**,[5] ध्वजा वा ॥

---

१. सूत्रमिदं सोदाहरणं गैयमुद्रिते वृत्तेराधारभूते हस्तलेखे च नोपलभ्यते । उज्ज्वलदत्तवृत्तौ (मुद्रितायां) न दृश्यते । वृत्तिरुदाहरणानि च उभयत्र पूर्वसूत्रस्य वृत्तावुपलभ्यन्ते ।

२. इदं वाक्यं गैयमुद्रिते 'मन्थाः' इत्यस्मादनन्तरमस्थान उपलभ्यते ।

३. इदमपि पदं गैयमुद्रिते 'पन्थाः' इत्यस्मात्पदात्परमस्थाने दृश्यते ।

४. 'अजपि सर्वधातुभ्यः' (अ० ३।१।१३४ वा०) इति भावः ।

५. पताका दूराद् दृश्यमाना विशिष्टं स्थानादिकं द्योतयति स्वयं च ज्ञायते । तेन 'पातयति ज्ञापयतीति पताका' इत्यपि व्युत्पत्तिर्द्रष्टव्या ।

पिनाकादयश्च ।। १६ ।।—पिनाकः । तडाकः ।। १६ ।।

कषिदूषिभ्यामीकन् ।। १७ ।।—कषीका । दूषीका ।। १७ ।।

अनिहृषिभ्यां किच्च ।। १८ ।।—अनीकम् । हृषीकम् ।। १८ ।।

चङ्कणः कङ्कण च ।। १९ ।।—कङ्कणीका ।। १९ ।।

शॄपॄवृजां द्वे रुक् चाभ्यासस्य ।। २० ।।—शर्शरीकः । पर्परीकः । वर्व्रीकः ।। २० ।।

---

१६. पाति [1]रक्षतीति **पिनाकः**, त्रिशूलं [2]धनुर्वा । ताडयत्याहन्तीति **तडाका**, प्रभा वा ।

बहुलवचनात्—आगप्रत्यये सति **तडागः** इत्यपि सिद्धं भवति । भन्दतेऽसौ **भदाकः** कल्याणम् । धातोर्नलोपः । श्यायते[3] प्राप्नोतीति **श्यामाकः**, व्रीहिभेदो वा, 'समा' इति प्रसिद्धः । मुगागमो निपातनम् । न भाति प्रकाशत इति **नभाकम्**, मेघयुतमाकाशं वा । यं पिनष्टि सम्यक् चूर्णयति स **पिण्याकः**, तिलकल्को वा । धातोः पकारस्य [4]णत्वं युगागमश्च । वर्त्तते येन स **वार्त्ताकः**; **वार्त्ताकी** वा, 'वनभण्टा' इति प्रसिद्धा । धातोर्वृद्धिः । गुवति पुरीषमुत्सृजतीति **गुवाकः**, पूगीफलं वा । कुटादित्वाद् गुणाभावः ।।

१७. कषति हिनस्तीति **कषीका**, पक्षिजातिर्वा । दूषयतीति **दूषीका**, नेत्रमलं वा ।।

१८. अनिति जीवयतीति **अनीकम्**, विरुद्धं[5] सैन्यं वा । हृष्यति तुष्टो भवतीति येन तत् **हृषीकम्**, ज्ञानेन्द्रियं वा ।।

१९. यङ्लुगन्तात् 'कंण' धातोरीकन् कङ्कणादेशश्च । पुनः पुनः कणति शब्दयतीति **कङ्कणीका**, वाद्यसाधनविशेषो वा, 'घरियार' इति प्रसिद्धः । **किङ्किणीका** क्षुद्रघण्टिका । बहुलवचनात् [धातोरकारस्येत्त्वे] सिद्धम् ।।

२०. शृणाति हिनस्तीति **शर्शरीकः**, हिंसकः [वा] । पिपर्ति पालयतीति

---

१. वैयमुद्रिते प्रथमसंस्करणे 'रक्षयतीति' पाठः ।

२. वैयमुद्रिते 'धातुर्वा' इत्यपपाठः ।

३. वैयमुद्रिते श्यायति' इत्यपपाठः, श्यैङो ङित्त्वात् ।

४. वैयमुद्रिते 'धत्वं' इत्यपपाठः ।

५. अत्र 'विरुद्धं' पदमनावश्यकम् । सैन्यमात्रमनीकमुच्यते ।

फर्फरीकादयश्च ॥ २१ ॥—फर्फरीकम् । दर्दरीकम् । कर्करीकम् । तिन्तिडीकः । चञ्चरीकः । मर्मरीकः । पुण्डरीकः ॥ २१ ॥

ईषेः किद्ध्रस्वश्च ॥ २२ ॥—इषीका ॥ २२ ॥

ऋजेश्च ॥ २३ ॥—ऋजीकः ॥ २३ ॥

सर्तेर्नुम् च ॥ २४ ॥—सृणीका ॥ २४ ॥

मृडः [1]कीकन्कङ्कणौ ॥ २५ ॥—मृडीकः । मृडङ्कणः ॥ २५ ॥

अलीकादयश्च ॥ २६ ॥—अलीकम् । व्यलीकम् । वलीकम् ॥ २६ ॥

पर्परीकः, सूर्य्यो वा । वृणोति स्वीकरोतीति **वर्वरीकः**, कुटिलकेशो जनो वा ॥

२१. स्फुरति चेतनं भवतीति **फर्फरीकम्**, पत्रादिसहितः शाखाग्रन्थिर्वा । ईकन्प्रत्यये धातोः फर्फरादेशः । दृणातीति **दर्दरीकम्**, वादित्रं वा । करोति कार्याणि येन तत् **कर्करीकम्**, शरीरं वा; **कर्करीका** गलन्तिका, 'कलशी' इति प्रसिद्धा । अत्रोभयत्र धातोर्द्वित्वमभ्यासस्य रुक् च । तिम्यत्यार्द्रीकरोतीति **तिन्तिडीकः**, वृक्षजातिर्वा । मकारस्य डकारोऽभ्यासस्य नुट् च । चरति गच्छति भक्षयति वा स **चञ्चरीकः**, भ्रमरो वा । अभ्यासस्य नुम् । म्रियतेऽसौ **मर्मरीकः**, हीनजनो वा । पुणति शुभकर्माचरतीति **पुण्डरीकम्**, श्वेताम्भोजं सितपत्रं भेपजं व्याघ्रोऽग्निर्वा ॥

२२. कित्त्वाद् गुणाभावः । ईषते गच्छतीति **इषीका**, मुञ्जादिशलाका वा ॥

२३. कित् । अर्जति गच्छतीति **ऋजीकः**, उपहतो वा । कित्त्वाद् गुणनिषेधः ॥

२४. सरति प्राप्नोतीति **सृणीका**, लाला वा, ष्ठीवनभेदः 'लार' इति प्रसिद्धम् ॥

२५. मृडति सुखयतीति **मृडीकः** सुखदाता । **मृडङ्कणः**, वालो वा ।

बहुलवचनात्—कायति शब्दयतीति **कङ्कणः**, करभूषणं वा ॥

२६. कीकन्प्रत्ययान्ता अमी निपात्यन्ते । अलति वारयतीति **अली-**

---

१. वैयमुद्रिते 'कीकच्कङ्कणौ' इत्यपपाठः, उत्तरसूत्रवृत्तौ 'कीकन्' प्रत्ययस्य साक्षात् निर्देशात् ।

कॄतॄभ्यामीषन् ॥ २७ ॥—करीषः । तरीषः ॥ २७ ॥

शॄपॄभ्यां किच्च ॥ २८ ॥—शिरीषः । पुरीषम् ॥ २८ ॥

अर्जेर्ऋज च ॥ २९ ॥—ऋजीषम् ॥ २९ ॥

अम्बरीषः ॥ ३० ॥

कॄशॄपॄकटिपटिशौटिभ्य ईरन् ॥ ३१ ॥—करीरः । शरीरम् । परीरम् । कटीरः । पटीरः । शौटीरः ॥ ३१ ॥

कम्, मिथ्या वा । विपूर्वाद् **व्यलीकम्**, अप्रियं खेदो वा । वलते संवृणोत्यनेन तत् **वलीकम्**, गृहच्छादनसामग्री वा ।

अन्येऽपि—वलते संवृतो भवतीति **वल्मीकम्**, छिद्रमृषिभेदो वा । तस्यापत्यं '**वाल्मीकिः**' । मुडागमः । वहतीति **वाहीकः**, गौरश्वो वा । धातोर्वृद्धिः । सुष्ठु प्रतीतीति **सुप्रतीकः**, अग्निर्वा । धातोस्तुट् च ॥

२७. कीर्यते विक्षिप्यते स **करीषः**, शुष्कगोमयं वा । तरति येन स **तरीषः**, नौका वा ॥

२८. शृणाति हिनस्तीति **शिरीषः**,वृक्षभेदो वा । पिपर्ति तत् **पुरीषम्**, शकृद्वा ॥

२९. अर्जति सञ्चितो भवति [रसो] यस्मात्तत् **ऋजीषम्**, पिष्टपचनं, वा 'तवा' इति प्रसिद्धम् ॥

३०. अम्बते शब्दयतीति **अम्बरीषः**,आकाशः स्वेदनी वा, 'भाड़' इति प्रसिद्धम् ॥

३१. किरतीति **करीरः**, वृक्षभेदो वंशाङ्कुरो वा । शीर्य्यते हिंस्यत इति **शरीरम्**, प्राणिकायो वा । पूर्यतेऽनेनेति **परीरम्**, फलं वा । कट्यत आव्रियतेऽसौ **कटीरः**, कुटी जघनदेशो वा । पटति गच्छतीति **पटीरः**, कन्दुकः कामश्चन्दनवृक्षो वा । शौटति गर्वं करोतीति **शौटीरः**, त्यागी वीरो वा । **ब्राह्मणादित्वात्** [अ० ५ । १ । १२३] ष्यञ्—**शौटीर्य्यम्** वैराग्यम् ।

बहुलवचनात्—हिण्डत इतस्ततो गच्छतीति **हिण्डीरः**,[1] समुद्रफेनो दाडिमो वा । **किर्मीर-तूणीर-जम्बीर-कुम्भीर-कुटीरादयो**ऽपीरन्प्रत्ययान्ता बाहुलकादेव **बोद्धव्याः** ॥

---

१. वैयमुद्रियोः ३-४ संस्करणयोः 'हिण्डोरः' इत्यपपाठः ।

वशेः किच्च ॥ ३२ ॥—उशीरम् ॥ ३२ ॥

कशेर्मुट् च ॥ ३३ ॥—कश्मीरः ॥ ३३ ॥

कृञ उच्च ॥ ३४ ॥—कुरीरम् ॥ ३४ ॥

घसेः किच्च ॥ ३५ ॥—क्षीरम् ॥ ३५ ॥

गभीरगम्भीरौ ॥ ३६ ॥

विषाविह्रा ॥ ३७ ॥

पच एलिमच् ॥ ३८ ॥—पचेलिमः ॥ ३८ ॥

---

३२. उश्यते काम्यते तद् **उशीरम्**, वीरणमूलं वा, 'खसखस' इति प्रसिद्धम् ॥

३३. ईरनित्येव । कष्टे गच्छति शास्ति वाऽसौ **कश्मीरः**, देशभेदो वा ॥

३४. क्रियते तत् **कुरीरम्**, मैथुनं[1] वा; कपिलकादित्वात् [अ० ८ । २ । १८ वा०] लत्वे **कुलीरः**, जलजन्तुभेदो वा ॥

३५. अद्यते भक्ष्यते यत्तत् **क्षीरं**, दुग्धं वा ॥

३६. 'गम' धातोर्मकारस्य भकारः, एकस्मिन् पक्षे नुमागमश्च । गम्यते प्राप्यते ज्ञायते वा स **गभीरः**; [**गम्भीरः**],[2] शान्तो महाशयो[3] वा । विशेष्यलिङ्गावेतौ शब्दौ ॥

३७. विशेषेण स्यति कर्मान्तं करोतीति **विषा**, बुद्धिर्वा । विशेषेण जहाति त्यजति दुःखमिति **विह्रा**, सुखलोको वा । स्वभावादनयोरव्ययत्वम् ॥

३८. पचति पदार्थानिति **पचेलिमः**, अग्निः सूर्यो वा । यस्तु 'पच'

---

१. 'कुरीराणि अलङ्कृतान्याभूषणानि' इति वृत्तिकारो यजुषो (११।५६) भाष्य आह । 'स्त्रीभिः' शृङ्गारार्थं शिरसि धार्यमाणं कनकाभरणं कुरीरः' इति महीधरः (यजुः ११।५६) भाष्ये ।

२. निपातनादन्तोदात्तावुभौ ।

३. 'महासरो वा' इति शुद्धः पाठः स्यात् ।

शीङो धुक्लक्वलञ्वालनः ॥ ३६ ॥—शीधु । शीलम् । शैवलः । शैवालम्; शेपालः ॥ ३६ ॥

मृकणिभ्यामूकोकणौ ॥ ४० ॥—मरूकः । काणूकः ॥ ४० ॥

वलेरूकः ॥ ४१ ॥—वलूकः ॥ ४१ ॥

उलूकादयश्च ॥ ४२ ॥—उलूकः । वावदूकः । शम्बूकः । भल्लूकः ॥ ४२ ॥

शलिमण्डिभ्यामूकण् ॥ ४३ ॥—शालूकम् । मण्डूकः ॥ ४३ ॥

धातोः सामान्यवार्त्तिकेन कृत्यार्थे केलिमज् विधीयते, स भावे कर्मणि कर्मकर्त्तरि वेति भेदः[1] ॥

३६. शेते येन तत् **शीधु**, मद्यं वा । **शीलं** स्वभावः । **शैवलम्** ; **शैवालम्**; वाहुलकात् प्रत्ययवकारस्य पकारः **शेपालम्**, जलनील्या नामान्येतानि, उदके लतारूपमुत्पन्नं 'सेवार' इति प्रसिद्धम् ॥

४०. म्रियते असौ **मरूकः**, मृगो वा । कणति शब्दयतीति **काणूकः**, काको वा ॥

४१. वलते संवृणोतीति **वलूकः**, पक्षी कमलमूलं वा ॥

४२. ऊकप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । वलतेऽसौ **उलूकः**, पक्षीभेदो वा । धातोः सम्प्रसारणम् । भृशं वक्तीति **वावदूकः** वक्ता । यङ्लुगन्तादूकः । [शमयतीति **शम्बूकः**,] जलशुक्तिर्वा । धातोर्वुक् । वाहुलकादुकप्रत्यये **शम्बुकः** इत्यपि सिद्धम् । भल्लते परितो भाषतेऽसौ **भल्लूकः**, ऋक्षो वा । वाहुलकाद् ह्रस्वे **भल्लुकः** इत्यपि । तथा भलतेऽसौ **भालूकः** स एव । महतीति **मधूकः**, वृक्षभेदो[2] वा । तथा **एलूक-जम्बूक-बन्धूक-वास्तूकादयो**ऽप्यत्रैव द्रष्टव्याः ॥

४३. शल्यते प्राप्यते यत्तत् **शालूकम्**, मूलद्रव्यं वा । मण्डति शोभतेऽसौ **मण्डूकः**, भेको जलजन्तुर्वा ॥

---

१. 'केलिमर उपसंख्यानम्' (अ० ३।१।९५) अनेन वार्तिकेन कृत्यसंज्ञकत्वात् केलिमर् भावे कर्मणि च भवति । काशिकाकारस्तु 'कर्मकर्तरि चायमिष्यते' इत्युक्तवान् ।

२. 'महुआ' इति प्रसिद्धः ।

नियो मिः ॥ ४४ ॥—नेमिः ॥ ४४ ॥

अर्त्तेरुच्च[1] ॥ ४५ ॥—ऊर्मिः ॥ ४५ ॥

भुवः कित् ॥ ४६ ॥—भूमिः ॥ ४६ ॥

अश्नोते रश च[2] ॥ ४७ ॥—रश्मिः ॥ ४७ ॥

दल्मिः ॥ ४८ ॥

वीज्याज्वरिभ्यो निः ॥ ४९ ॥—वेणिः । ज्यानिः । जूर्णिः ॥ ४९ ॥

---

४४. नयतीति **नेमिः**, चक्रावयवो वा ।

बाहुलकात्—याति कार्याणि प्रापयतीति **यामिः**; आदेर्जत्वं **जामिः**, स्वसा कुलस्त्री वा ॥

४५. ऋच्छति गच्छतीति **ऊर्मिः**[1], जलतरङ्गो वा ॥

४६. भवन्ति पदार्था अस्यामिति[3] **भूमिः**, उत्पत्तिस्थानम् [वा]। अल्पा भूमिः '**भूमिका**' । कृदिकारादक्तिनः [अ० ४।१।४५ गणसूत्र] इति ङीष् '**भूमी**' ॥

४७. अश्नुते व्याप्नोतीति **रश्मिः**, किरणो रज्जुर्वा ॥

४८. दलति येन विदृणातीति **दल्मिः**, सूर्यकिरण उत्तमायुधं वा ॥

४९. वीयते क्षिप्यते स **वेणिः**, केशविन्यासो वा । [4]निपातनाण्णत्वम् । जिनाति वयोहीनो भवतीति **ज्यानिः**, क्षतिर्वा । ज्वरति रोगी भवतीति[5] **जूर्णिः**, स्त्रीरोगो वा ।

---

१. अन्ये वृत्तिकारा 'अर्तेरू च, अर्तेरूच्च' इत्येवं पठन्ति । ह्रस्वत्वे तपरत्वेऽपि 'हलि च' (अ० ८।२।७७) इत्यनेन दीर्घत्वं भवत्येव, यथा 'आस्तीर्णम्, विस्तीर्णम्' इत्यत्र ऋकारस्य स्थाने इत्वे तपरत्वे च भवति । वृत्तिकारोऽयं स्वीये ऋग्भाष्ये (१।९५।१०) 'अर्त्तेरुच्च' इति सूत्रमुद्धृत्य 'ऋधातोर्मिः प्रत्यय ऊकारादेशश्च' इत्याह । तेन तन्मते 'अर्तेरू च' इति सूत्रपाठः प्रमाणितो भवति ।

२. वैयमुद्रिते '०रशच्' इत्यपपाठः ।

३. भूमिशब्दस्य भीमादिगणे पाठात् 'भवन्ति पदार्था अस्याः' इत्यपि निर्वचनं द्रष्टव्यम् ।

४. अत्र बाहुलकाण्णत्वं वक्तव्यम् ।

५. ज्वरति रोगी भवत्यनेनेति जूर्णिः, 'जूड़ी ताप' इति लोके प्रसिद्धो ज्वरः ।

सृवृषिभ्यां कित् ॥ ५० ॥—सृणिः । वृष्णिः ॥ ५० ॥

अङ्गेर्नलोपश्च ॥ ५१ ॥– अग्निः ॥ ५१ ॥

वह्निश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्यो नित् ॥ ५२ ॥—वह्निः । श्रेणिः । श्रोणिः । योनिः । द्रोणिः । ग्लानिः । हानिः । तूर्णिः ॥ ५२ ॥

बाहुलकात्—क्षौति शब्दयतीति **क्षोणिः**; [स्त्रियां] ङीष्[1] '**क्षोणी**', भूमिर्वा । क्रीणातीति **क्रेणिः**; **क्रेणी** ॥

५०. सरति गच्छतीति **सृणिः**, अङ्कुशं वा । वर्षतीति **वृष्णिः**, क्षत्रियो वैश्यो वा ॥

५१. अङ्गति [2]गच्छति प्राप्नोति जानाति वा स **अग्निः**, वह्निः प्रसिद्धो वा ॥

५२. वहतीति **वह्निः**, अग्निर्वा । श्रयति सेवतेऽसौ **श्रेणिः**, पङ्क्तिर्वा; निपूर्वात् **निश्रेणी**, अधिरोहिणी[3] वा । शृणोतीति **श्रोणिः**, कटिप्रदेशो वा । यौति संयोजयति पृथक् करोति वा स **योनिः**[4], कारणम् उपस्थेन्द्रियं वा । द्रवन्ति गच्छन्ति यत्र स **द्रोणिः**, सेचनी देशविशेषो वा । ग्लायति यस्मिन् स **ग्लानिः**, दौर्बल्यं दौर्मनस्यं वा । हीयते जहाति वा स **हानिः**, अपचयो वा; **प्रहाणिः**, **परिहाणिः** । **कृत्यचः** [अ० ८।४।२८] इति णत्वम् । त्वरति सम्यग्भ्रमतीति **तूर्णिः**, मनो वा ।

बहुलवचनात्—शेतेऽसौ **शिनिः**, क्षत्रियो वा । धातोर्ह्रस्वत्वं च । म्लायतीति **म्लानिः**, आनन्दक्षयो वा ॥

---

१. 'कृदिकारादक्तिनः' (अ० ४।१।४५) इति गणसूत्रेण ।

२. वृत्तिकारोऽयं सत्यार्थप्रकाशे 'अग्नि' शब्दव्याख्याने 'अञ्चु गतिपूजनयोः, अग, अगि, इण् गत्यर्थक धातु हैं । इन से अग्नि शब्द सिद्ध होता है' । इत्याह (पृष्ठ १८, रालाकट्रसं०) । अत्र निरुक्तम् (७।१४) अप्यनुसन्धेयम् ।

३. 'निसैनी सीढ़ी' इति प्रसिद्धा ।

४. योनिशब्द उभयलिङ्गः । तदाह पाणिनिः—'श्रोणियोन्यूर्मयः पुंसि च ।' लिङ्गा० १।८॥

घृणिपृश्निपार्ष्णिचूर्णिभूर्णयः ॥ ५३ ॥

वृदृभ्यां विन् ॥ ५४ ॥—र्वविः । दर्विः ॥ ५४ ॥

जॄशॄस्तॄजागृभ्यः क्विन् ॥ ५५ ॥—जीर्विः । शीर्विः । स्तीर्विः । जागृविः ॥ ५५ ॥

---

५३. जिघर्ति क्षरति दीप्यते वा स घृणिः, किरणो वा । स्पृशति संयुक्तो भवतीति पृश्निः, [1]अल्पशरीरो वा । धातोः सलोपः । पर्षति सिञ्चतीति पार्ष्णिः, पादतलं वा । धातोर्वृद्धिः । चरति गच्छति भक्षयति चूर्णयति प्रेरयतीति वा चूर्णिः[2], विवरणं वा । [चरतेरुपधाया ऊत्त्वम् ।] बिभर्ति धरति सर्वमिति भूर्णिः, पृथिवी वा । [धातोरूत्त्वम् ॥]

बाहुलकात्—घुरति शब्दयतीति घूर्णिः[3] ॥

५४. वृणोतीति र्ववि:, भक्षको वा । दृणाति यया सा दर्विः,[4] सूपचालनपात्रं वा; ङीष्[5]—'दर्वी' ॥

५५. जीर्यतीति जीर्विः,[6] पशुर्वा । शृणातीति शीर्विः [हिंस्रो वा] । स्तृणोत्याच्छादयतीति स्तीर्विः, अध्वर्युर्वा । जागर्तीति जागृविः, नृपतिर्वा ॥

---

१. निरुक्ते पृश्निशब्दस्य द्यौरादित्यश्चार्थं उक्तः । द्र०—निरु० २।१४॥ऋग्भाष्ये (१।२३।१०) पृश्निर्भूमिरिति सायणः; द्यौरिति स्कन्दः; माध्यमिका वागिति वेङ्कटमाधवः; आकाश इति दयानन्दः । सायणेन ऋग्भाष्ये (१।२३।१०) पृश्निशब्दमधिकृत्योक्तम्—'उणादावाद्युदात्तो निपातितः' इति । तदयुक्तम्, पूर्वसूत्रान्निदनुवृत्तेराद्युदात्तत्वस्य सिद्धत्वात् ।

२. चूर्णिशब्दो बहुषूणादिवृत्तिषु न पठ्यते । चरधातोर्निष्पन्नस्य चूर्णिशब्दस्य 'कपर्दकसंख्या' अर्थ उज्ज्वलदत्तेनोक्तः । 'कपर्दकशतम्' इति भट्टोजिदीक्षितः ।

३. यथा तु वृत्तिस्तथा 'घूर्णिः'शब्दकर्त्ता उच्यते । कोशेषु 'घूर्ण चलने' इत्यस्मादिनि 'घूर्णि' शब्दो भ्रमणेऽर्थे निर्दिष्टः ।

४. दर्विशब्दः 'उल्मुकदर्विहोमिनः' इत्यत्र पूर्वं (३।८४) निपातितः ।

५. कृदिकारादक्तिनः (अ० ४।१।४५) इति गणसूत्रेण वा ङीष् ।

६. अथर्वणि (१४।१।२१) 'जिर्वि' इति श्रूयते । तत्र 'हलि च' (अ० ८।२।७७) इत्यनेन प्राप्तस्य दीर्घत्वस्य छान्दसत्वाद् बाहुलकाद् वा प्रतिषेधो वक्तव्यः ।

दिवो द्वे दीर्घश्चाभ्यासस्य ॥ ५६ ॥—दीदिविः ॥ ५६ ॥

कृविघृष्विछविस्थविकिकीदिवि ॥ ५७ ॥

पातेर्डतिः ॥ ५८ ॥—पतिः ॥ ५८ ॥

शकेर्ऋतिन् ॥ ५९ ॥—शकृत् ॥ ५९ ॥

---

५६. दीव्यतीति दीदिविः[1], सुखमन्नं वा । क्विन्प्रत्ययस्य बाहुलकादेवेत्सञ्ज्ञालोपौ[2] न भवतः ॥

५७. करोति येन स कृविः, तन्तुवायद्रव्यं वा । घर्षति सिञ्चतीति घृष्विः, वराहो वा । छ्यति सूक्ष्मं करोतीति छविः, दीप्तिर्वा । धातोर्ह्रस्वत्वं च । तिष्ठतीति स्थविः, तन्तुवायो वा । अत्रापि ह्रस्वः । किकिना शब्देन [3]ददातीति किकीदिविः, चाषो वा, 'नीलकण्ठ' इति प्रसिद्धः । [उपपदस्य द्वितीयेकारस्य दीर्घत्वम् ।] किकीदिविः, किकिदिविः, किकिदीविः[4], किकिदिवः, कीकीदीविः[5] इति पञ्चभेदा बहुलवचनादेव मन्तव्याः ॥

५८. पाति रक्षतीति पतिः, स्वामी वा ॥

५९. शक्नोतीति शकृत्, [पुरीषं वा] ।

---

१. सायणाचार्य ऋग्भाष्ये (१।१।८) 'दीदिवि'शब्दे 'अभ्यस्तानामादिः' (अ० ६।१।१८३) इत्यनेनाद्युदात्तत्वमाह । तदयुक्तम्, तस्य लसार्वधातुकपरत एव विधानात्। क्विन्प्रत्ययस्य नित्वादाद्युदात्तत्वस्य सिद्धत्वाच्च ।

२. प्रत्ययस्थस्येकारस्येति भावः । अनुनासिकत्वाभावादपीत्संज्ञालोपयोरभावः शक्यते वक्तुम् ।

३. गैयमुद्रिते 'दीव्यति' इति अपपाठः । दीव्यतिधातोर्निपातने 'किः' प्रत्ययः स्यात् । तथा चाह वृत्तिकारः स्वीये यजुर्भाष्ये (१२।८७)—'किकं ज्ञानं दीव्यति··· —दिवुधातोरौणादिकः किर्बाहुलकात् । इह तु क्विन्प्रत्ययस्य प्रकरणम् । तेन ददातीति पाठ एव युक्तः । 'घुमास्थागापा०' (अ० ६।४।६६) इत्यनेन ईत्वम् ।

४. गैयमुद्रिते 'किकिदीवः' इत्यपपाठः ।

५. गैयमुद्रिते 'किकीदीविः' इत्यपपाठः ।

अमेरतिः ॥ ६० ॥—अमतिः ॥ ६० ॥

वहिवस्यर्त्तिभ्यश्चित् ॥ ६१ ॥—वहतिः । वसतिः । अरतिः ॥ ६१ ॥

अञ्चेः को वा ॥ ६२ ॥—अङ्कतिः; अञ्चतिः ॥ ६२ ॥

हन्तेरंह च ॥ ६३ ॥—अंहतिः ॥ ६३ ॥

रमेर्नित् ॥ ६४ ॥—रमतिः ॥ ६४ ॥

बाहुलकात्—यजतीति यकृत्, कालखण्डं[1] वा । धातोर्जकारस्य ककारः ॥

६०. अमति गच्छतीति अमतिः, कालो वा ।

बाहुलकात्—व्रतमाचरतीति व्रततिः विस्तरः; 'व्रतती', लता वा । मालयति गन्धं धारयतीति मालतिः; मालती[2] सुमना वा, 'चमेली' इति प्रसिद्धा । स्थापयति धर्म्ममिति स्थपतिः, वाग्मी यज्ञकर्ता[3] वा । ण्यन्तस्य 'स्था'धातोः पुकि सति ह्रस्वत्वम् ॥

६१. वहति प्रापयति पदार्थान् प्राप्नोति वेति वहतिः, पवनो वा । वसन्ति यत्रेति वसतिः; वसती[4] वा, गृहं रात्रिर्वा । ऋच्छति गच्छतीति अरतिः, क्रोधो वा ॥

बाहुलकात्—अलति भूषयति समर्थो वा भवति स अलतिः, गीतमात्रिका वा ॥

६२. अञ्चति गच्छति पूजयति वा स अङ्कतिः; अञ्चतिः, वायुर्वा ॥

६३. अतिः । हन्त्नेनेति अंहतिः, दानं वा ॥

६४. रमन्तेऽस्मिन् स रमतिः, कालः कामो वा ॥

---

१. 'जिगर' इति प्रसिद्धः शरीरावयवः । स हि कृष्णवर्णो भवति । अतएव 'शितामः' इत्युच्यते । 'शितामतः श्यामतो यकृत्तः' इति यास्कः (निरु० ४।३) ।

२. 'कृदिकारादक्तिनः' (अ० ४।१।४५) इति गणसूत्रेण वा ङीष् ।

३. बृहस्पति एव यागकर्ता स्थपतिरुच्यते । द्र०—अमर २।७।६, व्याख्यासुधा टीका च ।

४. कृदिकारादक्तिनः (अ० ४।१।४५) इति वा ङीष् ।

सूङः क्रिः ॥ ६५ ॥—सूरिः ॥ ६५ ॥

अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन् ॥ ६६ ॥—अद्रिः । शद्रिः । भूरिः । शुभ्रिः ॥ ६६ ॥

वङ्क्रयादयश्च ॥ ६७ ॥—वङ्क्रिः । वप्रिः । अंह्रिः । तन्द्रिः । भेरिः ॥ ६७ ॥

राशदिभ्यां त्रिप् ॥ ६८ ॥—रात्रिः । शत्रिः ॥ ६८ ॥

अदेस्त्रिनिश्च ॥ ६९ ॥—अत्री; अत्रिः ॥ ६९ ॥

---

६५. सूते प्राणिनः प्रसवति समर्थयतीति **सूरिः**, पण्डितो वा; स्त्रियां '**सूरी**' ॥

६६. योऽत्ति अदन्ति यत्रेति वा स **अद्रिः**, पर्वतो मेघो वृक्षः सूर्यो वा । शीयते शातयतीति **शद्रिः**, शर्करा वा । भवतीति **भूरिः**, बहुसुवर्णं वा; भूरि प्रयोजमनस्य स '**भौरिकः**'[२], कनकाध्यक्षो वा । शोभतेऽसौ **शुभ्रिः**, चतुर्वेदविद् ब्रह्मा वा ॥

६७. वङ्कतेऽसौ **वङ्क्रिः**, वाद्यभेदो गृहदारु वा । वपन्ति यस्मिन् स **वप्रिः**, क्षेत्रं वा । सम्प्रसारणाभावो बाहुलकात् । अंहयति भाषतेऽसौ **अंह्रिः**, पादो वा । 'तन्दि'[३] सौत्रो धातुः । तन्दति क्लिश्नातीति **तन्द्रिः**, मोहो वा । स्त्रियां '**तन्द्री**'[४] । बिभेति येन स **भेरिः**, वाद्यविशेषो वा; [स्त्रियाम्] '**भेरी**'[४] वा ॥

६८. राति सुखं ददातीति **रात्रिः**, [;रात्रि] प्रसिद्धा वा । शीयते छिनत्तीति **शत्रिः**, हस्ती वा ॥

६९. चात् त्रिप् । अत्ति भक्षयतीति **अत्री**, **अत्रिणौ**, पापं वा । **अत्रिः**, मुनिभेदो वा । तस्यापत्यम् '**आत्रेयः**'[५] ॥

---

१. वृत्तिकारोऽयमृग्भाष्ये (१।१०।२) 'अदिसदिभू०' इति सूत्रपाठ उदाजहार। दण्डनाथः (सरस्वतीकण्ठाभरण २।१।२२४व्याख्याने) 'सदि' पठति । हेमचन्द्रः स्वीयोणादिविवरणे (सं० ६९२) 'शदिसदि' उभौ धातू पठति ।

२. 'प्रयोजनम्' (अ० ५।१।१०८) इत्येन ठञ् प्रत्ययः ।

३. मूलतो धातुः 'तदि' इदित् । इह सनुम्को निर्दिष्टः। 'तन्द' धातौ प्रत्यययस्य कित्त्वाद् अनुनासिकलोपः (अ० ६।४।२४) स्यात् ।

४. कृदिकारादक्तिनः (अ० ४।१।४५) इति गणसूत्रेण वा ङीष् ।

५. इतश्चानिञः (अ० ४।१।१२२) इति ढक् ।

पतेरत्रिन् ॥ ७० ॥—पतत्रिः ॥ ७० ॥

मृकणिभ्यामीचिः ॥ ७१ ॥—मरीचिः । कणीचिः ॥ ७१ ॥

श्वयतेश्चित् ॥ ७२ ॥—श्वयीचिः ॥ ७२ ॥

वेञो डिच्च ॥ ७३ ॥—वीचिः ॥ ७३ ॥

ऋहनिभ्यामूषन्[1] ॥ ७४ ॥—अरूषः[1] । हनूषः[1] ॥ ७४ ॥

पुरः कुषन् ॥ ७५ ॥—पुरुषः; पूरुषः ॥ ७५ ॥

---

७०. पततीति पतत्रिः, पक्षी वा; [पतत्री,] पतत्रयः । पक्षवाचकात् पतत्रशब्दान्मत्वर्थ इनिः । पतत्री, पतत्रिणौ ॥

७१. म्रियतेऽसौ मरीचिः, दीप्तिर्महर्षिर्वा । कणति शब्दयतीति कणीचिः, पत्रादियुक्ता शाखा शब्दो वा ॥

७२. श्वयति गच्छति वर्धते वा स श्वयीचिः, व्याधिर्वा ॥

७३. वयति तन्तून् सन्तनोतीति वीचिः, [2]तरङ्गो वा । डित्त्वाट्टिलोपः ॥

७४. ऋच्छति गच्छतीति अरूषः[1], सूर्यो वा । हन्तीति हनूषः[1], दस्युः [वा] ॥

७५. पुरत्यग्रं गच्छतीति पुरुषः पुमान् । अन्येषामपि दृश्यते [६ । ३ । १३६] इति दीर्घे[3] पूरुषः वा ॥

---

१. अयं पाठ उज्ज्वलदत्तवृत्त्यनुसारी । अन्ये वृत्तिकाराः 'ऋहनिभ्यामुषन्' इति पठन्ति । तन्मते 'अरुषः, हनुषः' उदाहरणे अत्र द्रष्टव्ये । अयमेव च पाठो युक्तः । इह 'ऊषन्'प्रत्यये पुनः 'पीयेरूषन्' (४।७७) इत्यत्र ऊषन्प्रत्ययविधानं पुनरुक्तदोषयुक्तं स्यात् । तन्निवारणाय त्रयोऽपि धातव एकत्रैव पठ्येरन् ।

२. गैयमुद्रितेषु 'वीचिः । डित्त्वाट्टिलोपः । तरङ्गो वा' इति पूर्वापरपाठः । षष्ठे संस्करणे यथास्थानं स्थापितः ।

३. इदं काशिकाकारस्य मतम् । भाष्यकारमते छान्दसं दीर्घत्वम् । (द्र०—महा० ६।४।७४) । अत्र भागवृत्तिकारमतम् (द्र०—भागवृत्तिसंकलनम्, अ० ६।३।१३७, पृष्ठ ३४ सं० २०२१) अपि द्रष्टव्यम् ।

पॄनहिकलिभ्य उषच् ॥ ७६ ॥—परुषः । नहुषः । कलुषम् ॥ ७६ ॥

पीयेरूषन् ॥ ७७ ॥—पीयूषम्; पेयूषम् ॥ ७७ ॥

मस्जेर्नुम् च ॥ ७८ ॥—मञ्जूषा ॥ ७८ ॥

गण्डेश्च ॥ ७९ ॥—गण्डूषः ॥ ७९ ॥

अर्त्तेररुः ॥ ८० ॥—अररुः ॥ ८० ॥

कुटः[1] किच्च ॥ ८१ ॥—कुटरुः ॥ ८१ ॥

शकादिभ्योऽटन् ॥ ८२ ॥—[2]शकटः । कङ्कटः । देवटः । करटः ॥ ८२ ॥

---

७६. पिपर्तीति **परुषम्**, निष्ठुरं वचो वा । नह्यति बध्नातीति **नहुषः**, राजर्षिः सर्पविशेषो वा । कलते शब्दयतीति **कलुषम्**, पापम् [वा] ॥

७७. पीयति पीयते वा तत् **पीयूषम्**; **पेयूषम्**, नूतनं पयोऽमृतं वा । सप्तरात्रप्रसूतायाः[3] क्षीरं [पेयूषमुच्यते[4] । बाहुलकात् पक्षे गुणः ॥] ।

बहुलवचनात्—अङ्कयते लक्षयतीति **अङ्कूषः**, नकुलो वा ॥

७८. धातोर्नुम् । स चाचोऽन्त्यात्परः । जश्त्वश्चुत्वे, [झरो झरि सवर्णे (अ० ८।४।६४) इत्येकस्य जकारस्य लोपः ।] मज्जति शुद्धो भवतीति **मञ्जूषा**, काष्ठमयं द्रव्यं वा ॥

७९. गण्डति वदनावयवं दिशतीति **गण्डूषः** जलादिना पूर्णं मुखम्, 'कुल्ला' इति प्रसिद्धम् ॥

८०. ऋच्छति प्राप्नोति येन तद् **अररुः**, आयुधं वा ॥

८१. कुटतीति **कुटरुः**, वस्त्रगृहं वा ['तम्बू' इति प्रसिद्धम्] ॥

८२. शक्नोतीति **शकटः**; **शकटं**, यानविशेषः, ऋषिर्वा । यस्यापत्यं

---

१. वैयमुद्रिते 'किश्च' इत्यपपाठः । कुटादित्वात् ङित्वे [द्र०—अ० १।२।१] सिद्धे कित्त्वविधानं ङित्वस्यानित्यत्वज्ञापनार्थमिति श्वेतवनवासी। अत्र वृत्तिकारस्याष्टाध्यायी-भाष्ये (३।२।१६२) अस्मदीया टिप्पणी द्रष्टव्या ।

२. अत्रोदाहरणानि निदर्शनमात्राणि, वृत्तावन्यान्यप्युक्तानि ।

३. आसप्तरात्रं प्रसूतायाः क्षीरमित्यर्थः ।

४. अयं हारावलीकोषस्य पाठ इत्यत्रोज्ज्वलदत्तवृत्तिः प्रमाणम् ।

कृकदिकडिकटिभ्योऽम्बच् ॥ ८३ ॥—करम्बम् । कदम्बः । कडम्बः । कटम्बः ॥ ८३ ॥

कदेर्णित् पक्षिणि ॥ ८४ ॥—कादम्बः ॥ ८४ ॥

"शाकटायनः' । वृणोतीति **वरटः** कीटभेदः; वरटा, हंसयोषिद्वा । कङ्कते गच्छतीति **कङ्कटः**, कवचो वा । सरति प्रसरतीति **सरटः**[2], कृकलासो वा, 'गिरगिट' इति प्रसिद्धः । देवते व्यवहरतीति **देवटः**, शिल्पी वा । कम्पते येन स **कपटः**, माया वा । धातोर्नलोपः । 'कर्क-मर्क-क[र्प-प]र्पाः' सौत्रा धातवः । कर्कतीति **कर्कटः**, जलजन्तुभेदो वा । मर्कतीति **मर्कटः**, वानरो वा; स्त्रियां गौरादित्वात् [अ० ४ । १ । ४१] ङीष् **'मर्कटी'** । कर्पतीति **कर्पटः**, छिन्नं पुराणं वस्त्रं वा । पर्पति गच्छतीति **पर्पटः**, ऊषरभूमिर्वा। कखति हसतीति **कक्खटम्**, कठिनं वा । [3]कुमागमः । चपति सान्त्वयति येन स **चपेटः**; **चर्पटो** वा, प्रसृताङ्गुलिर्हस्तो वा । एकत्र प्रत्ययादेरेत्वम्, अन्यत्र [4]रमागमश्च । मयते प्राप्नोति यं स **मयटः**, प्रासादो वा । किरति विक्षिपतीति **करटः**, काको वा । एवमन्येऽपि शब्दा अटन्प्रत्ययान्ता यथाप्रयोगं साध्याः ॥

८३. करोतीति **करम्बम्**, व्यामिश्रम् [वा] । कदतीति **कदम्बः**, वृक्षभेदो वा । कडत्यावृणोतीति **कडम्बः** अग्रभागो वा । कटतीति **कटम्बः**, वादित्रं वा ॥

८४. कदति विकलो भवतीति **कादम्बः**, पक्षिभेदो वा, 'बकः' इति प्रसिद्धः । [पक्षिणोऽन्यत्र **कदम्बः**, वृक्षभेदः ॥]

---

१. नडादिभ्यः फक् (अ० ४।१।९९) इति फक् ।

२. शब्दोऽयमुत्तरत्र (उ० ४।१०६) सूत्रवृत्तौ 'अटच्'प्रत्ययान्तः साध्यते । तत्र 'सरटो वायुर्वा' इत्युक्तम् । प्रत्ययभेदेन स्वरभेदः—सुरटः, सुरटः ।

३. गैयमुद्रिते 'कुगागम' इत्यपपाठः । कुकि कित्त्वाद् धातोरन्तं स्याद्, इष्यतेऽन्त्यात्पूर्वम् । धातुप्रदीपे तु 'कक्ख हसने' इति पठ्यते, तत्र विनाऽप्यागमेन सिद्धम् ।

४. गैयमुद्रिते 'रेफागमश्च' इत्यपपाठः । अस्मिन् पाठे कस्य रेफागमः कुत्र चेति न ज्ञायते । सन्निधानात् प्रत्ययादरेव प्राप्नोति । न तथा रूपसिद्धिः स्यात् ।

कलिकर्द्योरमः ॥ ८५ ॥—कलमः । कर्दमः ॥ ८५ ॥

कुणिपुल्योः किन्दच् ॥ ८६ ॥—कुणिन्दः । पुलिन्दः ॥ ८६ ॥

कुपेर्वा वश्च ॥ ८७ ॥—कुविन्दः; कुपिन्दः ॥ ८७ ॥

नौ षञ्जेर्घथिन् ॥ ८८ ॥—निषङ्गथिः ॥ ८८ ॥

उदृत्तेश्चित् ॥ ८९ ॥—उदरथिः ॥ ८९ ॥

सर्त्तेर्णिच्च ॥ ९० ॥—सारथिः ॥ ९० ॥

खर्जिपिञ्जादिभ्य ऊरोलचौ ॥ ९१ ॥—'खर्जूरः । कर्पूरः । धुस्तूरः । वल्लूरम् ॥ पिञ्जूलम् । लाङ्गूलम् ॥ ९१ ॥

---

८५. कलते सङ्ख्यातीति **कलमः**, शालिभेदो वा । कर्दति कुत्सितं शब्दयतीति **कर्दमः**, पापं [पङ्को] वा ॥

८६. कुण्यते शब्द्यतेऽसौ **कुणिन्दः**, शब्दो वा । पोलति महान् भवतीति **पुलिन्दः**, शवरश्चाण्डालभेदो वा ।

बाहुलकात्—अलति भूषयतीति **अलिन्दः**, गृहैकदेशो वा । प्रज्ञादित्वाद् [अ० ५ । ४ । ३८] अणि '**आलिन्दः**' इत्यपि सिद्धम् ॥

८७. कुप्यति क्रुद्धो भवति स **कुविन्दः**; **कुपिन्दः**, तन्तुवायो वा ॥

८८. नितरां सजति सङ्गं करोतीति **निषङ्गथिः**, आलिङ्गको वा । घित्वात् [अ० ७ । ३ । ५२] कुत्वम् ॥

८९. उदृच्छन्त्यूर्ध्वं गच्छन्त्यापोऽस्मिन् स **उदरथिः**, समुद्रो वा ॥

९०. सारयति नियमेन चालयतीति **सारथिः**, नियन्ता वा । अत्र [२]अन्तर्णीतण्यर्थः, णित्त्वाद् वृद्धिः ॥

९१. **खर्ज्यादिभ्य ऊरः**—खर्जति मार्जयतीति **खर्जूरः**, वृक्षभेदो रजतं वा; स्त्रियां गौरादित्वात् [अ० ४।१।४१] ङीप् '**खर्जूरी**' । कल्पते समर्थो भवतीति **कर्पूरः**, सुगन्धिद्रव्यं वा । बाहुलकादत्र लत्वाभावः[३] । धुनोति

---

१. उदाहरणान्यत्र निदर्शनमात्राणि ।

२. वैयमुद्रिते 'णेर्लोपः' इत्यपपाठः, सूत्रे 'सर्त्तेः' इति वचनात्, णिजन्ते च तेनैव वृद्धेः सम्भवाच्च ।

३. कृपो रो लः (अ० ८।२।१८) इत्यनेन विहितस्येति शेषः ।

कुवश्चट् दीर्घश्च ॥ ९२ ॥—कूची ॥ ९२ ॥
समीणः ॥ ९३ ॥—समीचः; समीची ॥ ९३ ॥
सिवेष्टेरू च ॥ ९४ ॥—सूचः; सूची ॥ ९४ ॥
[1]शमेर्बन् ॥ ९५ ॥—शम्वः ॥ ९५ ॥

कम्पयतीति धुस्तूरः, कनकाह्वयः [वा], 'धतूरा' इति प्रसिद्धः । [धातोः स्तुगागमः ।] वल्लते संवृणोतीति वल्लूरम्, शुष्कमांसं वा । शालयति गमयतीति शालूरः, मण्डूको वा । मल्लते धरतीति मल्लूरः । [2]कस्ते गच्छति प्राप्नोति शास्ति वा स कस्तूरः; स्त्रियां 'कस्तूरी' प्रसिद्धा, सुगन्धिभेदः ।

पिञ्जादिभ्य ऊलः—पिङ्क्ते वर्णयतीति पिञ्जूलम्, कुशवर्तिर्वा । कञ्चते दीप्यतेऽसौ कञ्चूलः, स्त्रीगात्राभरणं[3] वा । लङ्गति गच्छतीति लाङ्गूलम्, पुच्छं वा । धातोर्वृद्धिः । ताम्यति काङ्क्षति यत्तत् ताम्बूलम्, 'पान' इति प्रसिद्धम् । धातोर्वुक् दीर्घत्वं च । शृणाति हिनस्तीति शार्दूलः, व्याघ्रो वा । धातोर्दुक् वृद्धिश्च । दुनोत्युपतापयतीति दुकूलम्, स्त्रिया [4]उत्तरीयं वस्त्रम् । धातोः कुक् । कुस्यति श्लिष्यतीति कुसूलः, धान्यपत्रं वा ॥

९२. कौति शब्दयतीति कूचः, स्तनं हस्ती वा; स्त्रियां 'कूची' चित्रलेखनी ॥

९३. सम्यगेति गच्छतीति समीचः, समुद्रो वा; समीची हरिणी ॥

९४. इव्भागस्य टेरू आदेशः । सीव्यति येन स सूचः, दर्भाङ्कुरो वा; [स्त्रियाम्] सूची इति प्रसिद्धा [एव] ।

९५. शाम्यतीति शम्बः[1], मुसलस्य लोहमुखं वा, 'शामी' इति प्रसिद्धा ॥

---

१. वैयमुद्रिते 'शमेर्वन्' इति पाठः । तथैवोदाहरणे वृत्तौ च ज्ञेयम् । अत्रोत्तरसूत्रे च वकारवकारयोः पाठान्तरं दृश्यते । तत्र च 'बवयोरभेदः' इति मूलम् । अयं च बवयोरभेदेनोच्चारणं वङ्गदेशोद्भवानां प्राचां दृश्यते । उज्ज्वलदत्तोऽपि वङ्गदेशीयः। तन्मूलक एवात्र पाठभेदोऽजायत । दशपादीवृत्तिकारोऽपि 'वन्' प्रत्ययं मत्वाऽन्तस्थान्तेषु पठति ।

२. उ० १।८५ सूत्रे धातोः 'कश' रूपमुक्तम्, वृत्तावपि तथैव व्याख्यातम् । इह तु 'कस' रूपमाश्रितम् । तेन उभयथाऽपि धातो रूपं ज्ञेयम् ।

३. 'कांचली' इति नाम्ना प्रसिद्धं वस्त्रम् ।

४. वैयमुद्रिते 'अधोवस्त्रम्' इत्यपपाठः । 'संव्यानमुत्तरीयं क्षौमं सूक्ष्मं दुकूलं स्यात् ।' वैजयन्तीकोष पाताल काण्ड पुराध्याय, श्लोक १२२ ।

'उल्बादयश्च ॥ ९६ ॥——उल्बम् । शुल्बम् ॥ ९६ ॥

स्थः स्तोऽम्बजवकौ ॥ ९७ ॥——स्तम्बः । स्वतकः ॥ ९७ ॥

शाशपिभ्यां ददनौ ॥ ९८ ॥—शादः । शब्दः ॥ ९८ ॥

अब्दादयश्च ॥ ९९ ॥—अब्दः । कुन्दः ॥ ९९ ॥

---

९६. बन्प्रत्ययान्ता निपाताः । उच्यति समवैतीति 'उल्बः, गर्भो वा । चकारस्य लत्वं गुणाभावश्च । शोचतीति शुल्बम्, ताम्रं वा । पूर्ववत् सर्वम् । नयति प्रापयति शुभगुणानिति निम्बः, वृक्षभेदो वा । वीयते काम्यते तत् बिम्बम्, मण्डलमोषधिविशेषो वा । अत्रोभयत्र 'नी वी' धातोर्नुमागमो ह्रस्वत्वं [वीयतेर्बत्वं] च । स्त्रियां गौरादित्वाद् [अ० ४।१।४१] बिम्बी । बिम्बफलमिवोष्ठौ यस्याः सा 'बिम्बोष्ठी' कन्या । दधाति धान्यहेतुर्भवतीति धन्वम्[२], धनुर्वा; तद्योगाद् 'धन्वी' जनः । जमति भक्षयतीति जम्बः, पङ्को वा ॥

९७. अम्बच् अवक इत्येतौ प्रत्ययौ । तिष्ठतीति स्तम्बः, शाखाशून्यो व्रीह्यादेर्गुच्छो वा । स्तवकः, पुष्पगुच्छो वा ॥

९८. श्यति सूक्ष्मं करोतीति शादः, कर्दमो बालतृणं वा । शप्यत आहूयतेऽनेन स शब्दो नादः । पस्य बः[३] ॥

९९. ददन्प्रत्ययान्ता निपाताः[४] । अवति रक्षणादिकं करोतीति अब्दः संवत्सरोऽवसरो मेघो वा । कौति शब्दयतीति कुन्दः, पुष्पजातिर्वा । धातोर्नुम् । वृणोतीति वृन्दम्, समूहो वा । नुम् [५]गुणाभावश्च । कनति दीप्यतेऽसौ कन्दः, सस्यमूलं सूकरो वा । तुदति व्यथतीति तुन्दः, स्थूलमुदरं वा; 'तुन्दी' स्थूलोदरी । धातोर्नुम् ॥

---

१. मुद्रिते 'उल्वादयश्च' इति पाठः । तथैवोदाहरणयोर्वृत्तौ च ।

२. उज्ज्वलदत्तवृत्त्यनुसारमस्यात्र संग्रहः । बान्तेऽस्य पाठो न युक्तः स्यात् ।

३. झलां जश् झशि (अ० ८।४।५२) इत्यनेनेति शेषः ।

४. द्र०—पूर्वत्र पृष्ठ ८६, टि० ३ ।

५. 'गुणाभावश्च' इति वचनमबुधबोधनार्थम् । वस्तुतो नुमि सति इक उपधायामभावादेव गुणो न प्राप्नोति ।

वलिमलितनिभ्यः कयन् ॥ १०० ॥—वलयम् । मलयः । तनयम् ॥ १०० ॥

वृह्रोः षुग्दुकौ च ॥ १०१ ॥—वृषयः । हृदयम् ॥ १०१ ॥

मीपीभ्यां रुः ॥ १०२ ॥—मेरुः । पेरुः ॥ १०२ ॥

जत्र्वादयश्च ॥ १०३ ॥—[जत्रु । शिग्रु । वितद्रु । अश्रु ॥ १०३ ॥]

रुशातिभ्यां क्रुन् ॥ १०४ ॥—रुरुः । शत्रुः ॥ १०४ ॥

---

१००. वलते संवृणोतीति **वलयम्**, करभूषणं वा । मलते धरतीति **मलयः**, पर्वतो वा । तनोति सुखमिति **तनयः**, पुत्रो वा ।

बाहुलकात्—आमयति पीडयतीति **आमयः**, रोगो वा ॥

१०१. वृणोतीति **वृषयः**, आश्रयो वा । षुक् । हरति विषयानिति **हृदयम्**, मनो वा । दुक् ॥

१०२. मिनोति प्रक्षिपतीति **मेरुः**, सुमेरुः पर्वतो वा । पीयते पिबतीति वा **पेरुः**, आदित्यो वा ।

बाहुलकात्—पिबतीति **पारुः**, स एव ॥

१०३. जायते तत् **जत्रु**, स्कन्धसन्धिर्वा । नस्य तः । **जत्रुणी, जत्रूणि** । शेतेऽसौ **शिग्रुः**, शोभाञ्जनस्तरुः 'सहिंजना' इति प्रसिद्धः, शाकं वा, मनुष्यविशेषो वा । तत्र शिग्रोरपत्यं 'शैग्रवः'[1] । विशेषेण तनोतीति **वितद्रुः**, नदी वा । नकारस्य दः । कबतेऽसौ **कद्रुः**, वर्णभेदो वा । बस्य दः । अस्यति प्रक्षिपति जलमिति **अस्रुः** । बहुलवचनात् शकारभेदे **अश्रुः**, नेत्रजलं वा ॥

१०४. रौति शब्दं करोतीति **रुरुः**, मृगभेदो वा । शीयते[2] शातयतीति[3] **शत्रुः** । प्रज्ञादित्वाद् (अ० ५।४।३८) अण् । 'शात्रवः' वैरी ॥

---

१. विदादित्वाद् (अ० ४।१।१०४) अञ् ।

२. यद्यप्यत्र सूत्रे 'शाति' ण्यन्तः पठ्यते, तथापि 'शदि' पाठान्तरमाश्रित्य 'शीयते' इति निर्देशो वृत्तिकृता कृतः । अस्मिन् पाठे दकारस्य तकारो बाहुलकाज्ज्ञेयः । श्वेतवनवासिनारायणौ 'शति' पाठं पठन्ति । 'शतिः सौत्रो धातुस्तयोर्मते ।

३. ण्यन्तपाठे 'शदेर्गतौ तः' (अ० ७।३।४२) इति दकारस्य तकारः । ह्रस्वत्वं प्रज्ञादिगणे (अ० ५।४।३८) पाठादिति दीक्षितोज्ज्वलदत्तौ । दशपादीवृत्तिकारस्तु 'बहुलमन्त्रापि संज्ञाछन्दसोः' (प० उ० २।२३; दश० उ० ८।४०) इत्यनेन णेर्लुक् 'लुग्लोपे न प्रत्ययकृतम्' इति वचनाद् वृद्ध्यभावः' (१।१५६) इत्याह ।

जनिदाच्युसृवृमदिषमिनमिभृञ्भ्य इत्वनत्वनत्नण्क्निनश्शक्स्यढडटोटचः।१०५ —जनित्वः। दात्वः। च्यौत्नः। सृणिः। वृशः। मत्स्यः। षण्ढः। नटः। भरटः॥ १०५॥

[1]अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते॥ १०६॥—पेत्वम्॥ १०६॥

कुसेरुम्भोमेदेताः॥ १०७॥—कुसुम्भम्। कुसुमम्। कुसीदम्। कुसितः॥ १०७॥

सानसिवर्णसिपर्णसितण्डुलाङ्कुशचषालेल्वलपल्वलधिष्ण्यशल्याः॥१०८॥—

---

१०५. जायते जनयति वा स जनित्वः, मातापितरौ वा। यो ददाति यत्र वा स दात्वः, यज्ञकर्म वा। च्यवते गच्छतीति च्यौत्नम्, वलं वा। सरतीति सृणिः, चन्द्रोऽङ्कुशो वा। वृणोतीति वृशः, ओषधिर्वा। माद्यतीति मत्स्यः, मीनो वा; स्त्रियां 'मत्सी'[2], मत्स्या'। समतीति [3]षण्ढः, अकृतदारो वा। [बाहुलकात् सकारादेशो (अ० ६।१।६२) न। नमतीति नटः, वंशावरोहीति प्रसिद्धः। डित्वाट्टिलोपः। बिभर्त्तीति भरटः, कुलालो वा॥

१०६. इत्वनादय इति शेषः। पीयते तत् पेत्वम्, अमृतं वा। कच्यते बध्यतेऽसौ कच्छः, शाकमूलं वा। सरतीति सरटः[4], वायुर्वा। ध्यायते तद् ध्यात्वम्, चिन्ता वा। जुहोतीति हौत्नः, यजमानो वा। लूयतेऽसौ लूनिः, व्रीहिर्वा, इत्यादि॥

१०७. कुस्यति श्लिष्यतीति कुसुम्भम्[5], महारजनं वा। कुसुमम्, पुष्पं वा। कुसीदम्, वृद्धिजीविका वा। कुसितः, देशो वा॥

१०८. सनोति ददाति सन्यते वा स सानसिः, हिरण्यं वा। असि-

अस्मिन् पक्षे वृद्धिवत् तकारादेशोऽपि न प्राप्नोति, तस्य बाहुलकाद् विधानं ज्ञेयम्, प्रज्ञादिगणे निपातनाद्वा।

१. गैयमुद्रिते 'अन्येपि दृश्यन्ते' इत्यपपाठः। नात्रान्यप्रत्यानां दर्शनमभिप्रेतम्। वृत्तौ इत्वनादीनामेव निर्देशात्।

२. गौरादित्वात् (अ० ४।१।४१) इति ङीष्। 'मत्स्यस्य ङ्याम्' (अ० ६।४।१४९ वा०) इति वार्तिकेन यकारलोपः। मत्स्या इत्यत्र टाप् शिष्टप्रयोगाज्ज्ञेयः।

३. सूत्रे ये 'शमि' धातु पठन्ति, तेषां मते 'शाम्यतीति शण्ढः, नपुंसको वा।'

४. शब्दोऽयं पूर्वत्र (४।८२) निरुक्तः।

५. अथर्वणि (२।३२।६) 'कुषुम्भ' शब्दः श्रूयते। तत्र बाहुलकात् सकारस्य षकारः।

मूशक्यविम्यः क्लः ॥ १०६ ॥—मूलम् । शक्लः । अम्ब्लः । अम्ल ॥१०६॥

माछाशसिभ्यो [1]यः ॥ ११० ॥—माया । छाया । [2]शस्यम् ॥ ११० ॥

[3]सुनोतेश्च ॥ १११ ॥—सव्यम् ॥ १११ ॥

प्रत्यय उपधावृद्धिश्च । वृणोतीति **वर्णसिः**, जलं वा । धातोर्नुक् । पिपर्तीति **पर्णसिः**, जलगृहं वा । पूर्ववत्सर्वम् । तण्डति ताडयति ताड्यते वा स **तण्डुलः**, [5]तुषरहितो व्रीहिर्वा । उलच् । अङ्क्ते लक्षयति येन स **अङ्कुशः**, शस्त्रभेदो वा । उशच् । चषति भक्षयतीति **चषालः**, यूपकङ्कणं वा । [आलच् ।] इलति स्वपितीति **इल्वलः**, नक्षत्रविशेषो वा । पलति गच्छतीति **पल्वलम्**, अल्पसरो वा । अत्रोभयत्र वलच्, [पूर्वत्र] गुणाभावश्च । धृष्णोति प्रगल्भो भवतीति **धिष्ण्यः**, स्थानमृक्षोऽग्निरालयो वा । ऋकारस्येकारो वा ण्यप्रत्ययश्च । शलति गच्छतीति **शल्यम्**, शस्त्रविशेषो बाणाग्रभागो वा । [यत् ॥]

१०६. मवते बध्नातीति **मूलम्**, ['मूली'] इति प्रसिद्धम् । शक्नोतीति **शक्लः**, प्रियंवदो वा । अम्बते शब्दं करोतीति **अम्ब्लः** ।

बाहुलकात्—अमति गच्छतीति **अम्लः**, रसविशेषो वा ।

११०. मात्यन्तर्भवतीति **माया**, छलं मिथ्याजालो वा । छ्यति प्रकाशमिति **छाया**, प्रकाशावरणमुत्कोचकप्रतिविम्बो वा । **शस्यते** यत्तत् [2]**शस्यम्**, क्षेत्रपक्वमन्नं गुणो वा ।

बाहुलकात्—अनिति जीवयतीति **अन्यः**, इतरो वा ॥

१११. सुनोत्यभिषवतीति **सव्यम्**, वामभागो वा ॥

---

१. वैयमुद्रिते 'वः' इत्यपपाठः ।

२. वैयमुद्रिते 'सस्यम्' इत्यपपाठः, सूत्रे 'शसि' ग्रहणात् । येषां तु सूत्रे 'ससि' पाठस्तेषां 'सस्यम्' उदाहरणम् ।

३. वैयमुद्रितेषु १-५ संस्करणेषु 'सनोतेः' इत्यपपाठः ।

४. अथर्वणि (२।३२।६) 'कुषुम्भ' शब्दः श्रूयते । तत्र बाहुलकात् सकारस्य षकारः ।

५. वैयमुद्रितेषु १-५ संस्करणेषु 'तण्डुलः । उलच् । तुषरहितो व्रीहिर्वा' इत्येवं पूर्वापरपाठः । षष्ठे संस्करणे शोधितः ।

जनेर्यक् ॥ ११२ ॥—जन्यम्; जाया ॥ ११२ ॥

अघ्न्यादयश्च ॥ ११३ ॥—अघ्न्या । [सन्ध्या ।] कन्या । बन्ध्या ॥ ११३ ॥

स्नामदिपद्यर्तिपृशकिभ्यो वनिप् ॥ ११४ ॥—स्नावा । मद्वा । पद्वा । अर्वा । पर्व[1] । शक्वा; शक्वरी ॥ ११४ ॥

---

११२. या जायते यस्यां वा सा **जाया**, पत्नी । **ये विभाषा** [६ । ४ । ४३] इति व्यवस्थितविभाषया पत्न्यां जाया, नित्यमात्वम्, अन्यत्र—**जन्यम्**, निर्वादो युद्धं वा ॥

११३. यगन्ता निपाताः[2] । यो न हन्यते न हन्तीति वा स **अघ्न्यः**, प्रजापालको वा, [3]'अघ्न्या' गौर्वा । धातोरुपधालोपो ह्रस्य[4] घत्वं च । सन्दधाति यस्यां वेलायां सा **सन्ध्या**, सायङ्कालः प्रतिज्ञा वा । आतो लोपः[5] । सम्यग् ध्यायन्ति परं ब्रह्म यस्यां सा सन्ध्या, इति तु **स्त्रियां क्तिन्** [अ० ३ । ३ । ९४] इत्यधिकारे **आतश्चोपसर्गे** [३ । ३ । १०६] इत्यङ् । कन्यते दीप्यते काम्यते गच्छति वा सा **कन्या**, कुमारी वा । बध्यतेऽसौ **बन्ध्या**, अप्रसूता वा ।

[**बाहुलकात्**—]कौति शब्दयतीति **कुड्यम्**, भित्तिर्वा । धातोर्डुक् । मन्यते येन तत् **मध्यम्**, द्वयोरन्तरालं वा । नस्य धः । उह्यते यत्तद् **वह्यम्**, मनुष्य[वाहन]विशेषो वा । अहति व्याप्नोतीति **अहल्या**, रात्रिर्वा । अहर्लीयतेऽस्यामिति व्युत्पत्त्यन्तरम् । पूर्वत्र धातोरलुगागमः । ऋषति गच्छतीति **ऋष्यः**, मृगभेदो वा । कष्टे गच्छति शास्ति वा स **कश्यः**, मद्यं वा । इत्यादि ॥

११४. स्नाति शुच्यतीति **स्नावा**, रसिको वा । **स्नावानौ, स्नावानः** । माद्यतीति **मद्वा**, कल्याणदातेश्वरो वा । पद्यन्ते यत्र स **पद्वा**, पन्था वा ।

---

१. वैयमुद्रिते षष्ठे संस्करणे 'पर्वा' इत्यपपाठः ।

२. द्र०—पूर्वत्र (पृष्ठ ८६) टि० ३ । ३. वैयमुद्रिते पूर्वापरपाठः ।

४. ह्रस्यघत्वं 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' (अ० ७।३।५४) इत्यनेन सिद्धम् ।

५. 'आतो लोप इटि च' (अ० ६।४।६४) इत्यनेन । वैयमुद्रितेषु १-५ संस्करणेषु पूर्वापरपाठः, षष्ठे यथास्थानं स्थापितः ।

शीङ्क्रुशिरुहिजिक्षिसृधृभ्यः क्वनिप् ॥ ११५ ॥—शीवा । क्रुश्वा । रुह्वा । जित्वा । क्षित्वा । सृत्वा । धृत्वा ॥ ११५ ॥

ध्याप्योः सम्प्रसारणं च ॥ ११६ ॥—धीवा । पीवा ॥ ११६ ॥

अदेर्ध च ॥ ११७ ॥—अध्वा ॥ ११७ ॥

प्र ईरशदोस्तुट् च ॥ ११८ ॥—प्रेत्वा; प्रेत्वरी । प्रशत्त्वा; प्रशत्त्वरी ॥ ११८ ॥

सर्वधातुभ्य इन् ॥ ११९ ॥—पचिः । तुण्डिः । वलिः । वटिः । मणिः । वल्हिः । यजिः । गण्डिः । तडिः । ध्राडिः । काशिः । वाशिः । घटिः; घटी । यतिः । केलिः । मसिः । कोटिः । जटिः । कटिः । हलिः । हेलिः । पणिः । कलिः । [। नन्दि] ॥ ११९ ॥

ऋच्छतीति **अर्वा**, अश्वो निन्द्यो वा । पिपर्तीति **पर्व**, ग्रन्थिर्वा । शक्नोतीति **शक्वा**, हस्ती वा । स्त्रियां ङीब्रेफौ—**शक्वरी**, नदी छन्दोभेदो वा ॥

११५. शेतेऽसौ **शीवा**, अजगरो वा । क्रोशतीति **क्रुश्वा**, शृगालो वा । रोहति बीजादुत्पद्यत इति **रुह्वा**, वृक्षो वा । जयतीति **जित्वा**, जयशीलः । क्षयति नाशयति क्षियति निवसति गच्छति वा स **क्षित्वा**, वायुर्वा । सरतीति **सृत्वा**, [1]प्रजापतिर्वा । धारयतीति **धृत्वा**, व्यापको जगदीश्वरो वा । स्त्रियां—**जित्वरी** इत्यादि बोध्यम् ॥

११६. ध्यायतीति **धीवा**, कर्मकरो[2] वा । स्त्रियां—**धीवरी**, मत्स्याधानं पात्रम् । प्यायते वर्द्धतेऽसौ **पीवा**, स्थूलो वा । **पीवरी** तरुणी ॥

११७. अत्ति भक्षयतीति **अध्वा**, मार्गो वा ॥

११८. प्रेतेऽसौ **प्रेत्वा**, सागरो वा । [स्त्रियाम्—] **प्रेत्वरी** । प्रशीयतेऽसौ **प्रशत्वा**, समुद्रो वा । [स्त्रियाम्—] **प्रशत्वरी**, नदी ॥

११९. पचति येन स **पचिः**, अग्निर्वा । तुण्डति छिनत्तीति **तुण्डिः** । वलते संवृणोतीति **वलिः**, महाराजो वा । वाटयति ग्रथ्नाति स **वटिः**, विभा-

---

१. प्रजापतिशब्देनात्र हिरण्याण्डस्य (=हिरण्यगर्भस्य) उत्तरावस्थोच्यते । स हि अप्सु पर्यप्लवत् । तदुक्तं शतपथे—तासु (=अप्सु) तपस्तप्यमानासु हिरण्यमाण्डं सम्बभूव । तदिदं······यावत्संवत्सरस्य वेला तावत् पर्यप्लवत् । ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत् । स प्रजापतिः (११।१।६।१,२)॥पुरुष सूक्तेऽयमेव पुरुषो विराण्नाम्ना स्मर्यते ।

२. गैयमुद्रिते 'कर्मकारो वा' इत्यपपाठः ।

हृपिषिरुहिवृतिविदिछिदिकीर्त्तिभ्यश्च ॥ १२० ॥—हरिः । पेषिः । रोहिः । वर्त्तिः । वेदिः । छेदिः । कीर्त्तिः ॥ १२० ॥

जको वा । मणति शब्दयतीति मणिः, बहुमूल्यः पाषाणो वा । प्रशंशितो मणिर्मणिकः[1] । तदेव 'माणिक्यम्'[2] । वल्हते प्रधानो भवतीति वल्हिः, वल्हिका नाम क्षत्रिया जनपदो वा । यजतीति यजिः, सङ्गन्ता होता वा । गण्डति स गण्डिः, वदनैकदेशो वा । [3]ताडयतीति [3]तडिः, पीडकः । ध्राडते विशेषेण हिनस्तीति ध्राडिः, पुष्पचयो वा । काश्यते दीप्यतेऽसौ काशिः, देशभेदो वा । तद्देशान्तर्गतत्वाद् वाराणसी नगरी काशिः; काशी । तस्य देशस्य राजा 'काश्य[4]' । वाश्यते शब्दयतीति वाशिः, काष्ठभेदिनी वा । घटतेऽसौ घटिः; घटी । यततेऽसौ यतिः, नियमधारी संन्यासी वा । केलति चलती यस्यां सा केलिः, क्रीडा वा । मस्यति परिणमते स मसिः मसी, पात्राञ्जनं वा । कुटतीति कोटिः, सङ्ख्यावरणमग्रभागो वा । बाहुलकाद् [5]गुणः । जटति सङ्घातं करोतीति जटिः, जटाधारी वा । कटतीति कटिः, कटी, शरीरमध्यं वा । हलति येन विलिखतीति हलिः, कृषीवलः कृषिसाधनं वा । हेलति विरुद्धं वहु भाषत इति हेलिः, प्रहेलिः । यः पणायति व्यवहारति स पणिः, [वाणिग्वा ।] विपणिः, वाणिजां वीथी वा । कलन्ते स्पर्द्धमाना भाषन्ते यत्र स कलिः, कलहो विग्रहो वा । नन्दति यत्रेति नन्दिः, वृद्धिर्वा । इत्यादीन्यनेकान्युदाहरणानि सन्ति ॥

१२०. [6]हरतीति हरिः, सर्पो मण्डूकोऽश्वः सिंहः सूर्यो वा । इगु-

---

१. स्थूलादित्वात् (अ० ५।४।३) प्रशंसायां कन् इत्युज्ज्वलदत्तः । तन्न, अस्मिन् सूत्रे 'प्रकारवचने' कनो विधानात् । संज्ञायाम् (अ० ५।३।८७) इत्यनेन कन् ज्ञेयः ।

२. चातुर्वर्ण्यादीनां स्वार्थे उपसंख्यानम् (अ० ५।१।१२४) इति वचनेन स्वार्थे ष्यञ् ।

३. बहुलमन्यत्रापि संज्ञाछन्दसोः (उ० २।२३) इति णेर्लुक्, लुक्त्वाद् वृद्धिर्न भवति । ४. वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ् (अ० ४।१।१६९) इति ञ्यङ् ।

५. गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन् ङित् (अ० १।२।१) इति ङित्त्वे गुणप्रतिषेधः प्राप्नोति ।

६. 'अच इः' (४।१४१) वक्ष्यति तद्बाधनार्थं हरतेर्ग्रहणम् । 'इ' प्रत्ययेऽन्तोदात्तत्वं स्यात् ।

इगुपधात् कित् ॥ १२१ ॥ कृषिः । ऋषिः । रुचिः । शुचिः । लिपिः ॥ १२१ ॥

भ्रमेः सम्प्रसारणञ्च ॥ १२२ ॥—भृमिः; भ्रमिः ॥ १२२ ॥

क्रमितमिशतिस्तम्भामत इच्च ॥ १२३ ॥—क्रिमिः; क्रृमिः । तिमिः । शितिः । स्तिभिः ॥ १२३ ॥

पधात् कित् [उ० ४ । १२१] इति वक्ष्यते तद्बाधनार्थं पिष्यादीनां ग्रहणम् । तत्र हि कित्त्वाद् गुणनिषेधः प्राप्तः, स न स्यात् । पिनष्टि येन स पेषिः, वज्रो वा । रोहतीति रोहिः, व्रतो वा । वर्त्तते सा वर्त्तिः, दीपोपकरणं वा । विद्यते या सा वेदिः, यज्ञभूमिर्वा । छिनत्तीति छेदिः, वर्धकिश्छेत्ता वा । कीर्त्यते संशब्द्यते सा कीर्त्तिः, पुण्यं यशो वा ।

१२१. कृष्यते [1]विलिख्यते या सा कृषिः, 'खेती' इति प्रसिद्धा । ऋषति गच्छति प्राप्नोति जानाति वा स ऋषिः, मन्त्रार्थद्रष्टा वा । रुच्यते सा रुचिः, दीप्तिर्वा । शुच्यतीति शुचिः, शुद्धिर्वा । लिम्पतीति लिपिः, लेखो वा । बाहुलकात् [2]वत्वे लिबिः, इत्यपि लिप्यर्थं एव । लिबिं करोतीति 'लिबिकरः'[3] । तूलते निष्कर्षतीति तूलिः, तूली[4]; कूर्चिका, दध्यादिना सह पक्वः क्षीरविकारो वा ॥

१२२. भ्राम्यतीति भृमिः, वायुर्वा । बाहुलकात् भ्रमिः, इत्यपि सिद्धम ॥

१२३. क्राम्यति पादान् विक्षिपतीति क्रिमिः, क्षुद्रजन्तुर्वा । सम्प्रसारणानुवृत्तेः क्रृमिः, इत्यपि । ताम्यत्याकाङ्क्षतीति तिमिः, मत्स्यभेदो वा । [5]शितिस्तम्भौ सौत्रौ धातू । [शेतति वर्णयुक्तो भवतीति] शितिः, कृष्णः शुक्लो वा । स्तभ्नातीति स्तिभिः, समुद्रो वा ॥

---

१. वैयमुद्रिते 'विलेख्यते' इत्यपपाठः ।

२. वैयमुद्रिते सर्वत्र वकारस्थाने वकारोऽपपाठः । प्रथमसंस्करणे बकार एव पठ्यते ।

३. द्र० अ० ३।२।२१॥ इतोऽग्रे वैयमुद्रिते 'लिप्यर्थं एव' पाठ अस्थाने पठ्यते, स यथास्थानं पठितः ।

४. कृदिकारादक्तिनः (अ० ४।१।४५) इति गणसूत्राद् वा ङीष् ।

५. वैयमुद्रिते 'शतिस्तम्भौ' इत्यपपाठ; शितिशब्दस्य निरूपणात् ।

मनेरुच्च ॥ १२४ ॥—मुनिः ॥ १२४ ॥

वर्णेर्बलिश्चाहिरण्ये ॥ १२५ ॥—वलिः ॥ १२५ ॥

वसिवपियजिराजिव्रजिसदिहनिवाशिवादिवारिभ्य इञ् ॥ १२६ ॥—वासिः । वापिः । याजिः । राजिः । व्राजिः । सादिः । निघातिः । वाशिः । वादिः । वारिः ॥ १२६ ॥

नहो भश्च ॥ १२७ ॥—नाभिः ॥ १२७ ॥

---

१२४. किदित्येव । मन्यते जानातीति मुनिः, मननशीलः । मुनिरियं ब्राह्मणी । बह्वादित्वात्[1] मुनी । मुनेर्भावः कर्म वा 'मौनम्' ॥

१२५. वर्णिः सौत्रो धातुः । वर्णयति स बलिः, राजकरः सत्कारसामग्री शरीराङ्गं वा । हिरण्ये तु वर्णिः, सुवर्णम् ॥

१२६. वस्त आच्छादयति वसति वा स वासिः, छेदनवस्तु[2] वा । वपन्ति यत्रेति वापिः, वापी[3]; जलाशयभेदो वा । यजतीति याजिः, यष्टा वा । राजते दीप्यतेऽसौ राजिः, राजी[3], पङ्क्तिर्वा । 'राजीवं'[4] पद्मम् । व्रजतीति व्राजिः, वायुसमूहो वा । सीदतीति सादिः, सारथिर्वा । हन्ति यया सा घातिः । 'निघातिः' लोहघाताऽऽधारा[5] । वाश्यते शब्दयतीति वाशिः, अग्निर्वा । वादयति व्यक्तमुच्चारयति स वादिः, विद्वान् वा । वारयति निवारयतीति वारिः, गजवन्धनी शृङ्खला वा । जले नपुंसकम्—वारि ।

बाहुलकात्—हरतीति हारिः, पथिकसंसृतिर्वा । 'संप्रहारिः' योद्धा । खटति काङ्क्षतीति खाटिः, शुष्कव्रणस्थानं वा ॥

१२७. नह्यति दुष्टं नाडीर्वा बध्नातीति नाभिः, क्षत्रियः प्राण्यङ्गं वा । नाभी—ङीष्[1] ॥

---

१. बह्वादिगणे 'कृदिकारादक्तिनः' (अ० ४।१।४५) इति गणसूत्राद्वा ङीष् ।

२. 'वसूला' इति भाषायां प्रसिद्धम् ।

३. कृदिकारादक्तिनः (अ० ४।१।४५) इति गणसूत्रेण वा ङीष् । वैयमुद्रिते इतोऽग्रेऽनावश्यकः 'वा' शब्दोऽधिकः ॥

४. राजीशब्दाद् 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (अ० ५।२।१०८) इति वार्तिकेन वः प्रत्ययः ।

५. वैयमुद्रिते 'ऽऽ' चिह्नं नास्ति ।

कृषेर्वृद्धिश्छन्दसि ॥ १२८ ॥—कार्षि ॥ १२८ ॥

श्रः शकुनौ ॥ १२९ ॥—शारिः । शारिका ॥ १२९ ॥

कृञ उदीचां कारुषु ॥ १३० ॥—कारिः ॥ १३० ॥

जनिघसिभ्यामिण् ॥ १३१ ॥—जनिः । घासिः ॥ १३१ ॥

अज्यतिभ्यां च ॥ १३२ ॥—आजिः । आतिः ॥ १३२ ॥

---

१२८. कर्षत्याकर्षतीति कार्षिः, अग्निर्वा । लोके तु—'कृषिः' ॥

१२९. शृणाति हिनस्तीति शारिः, पक्षी । स्त्री—शारिका[1] । शुकशारिकम् इति पक्ष[2] एकवद्भावः । [परिणायेन] शारीन् हन्तीति[3] शारिका, वा । शकुनेरन्यत्र शरि, हिंस्रः । कपिलकादित्वाद् [द्र०–अ० ८।२।१८ वा०] लत्वम्—शलिः, अपिशलिर्मुनिविशेषः, तस्यापत्यमापिशलिः । बाह्वादित्वाद् [द्र०–अ० ४।१।९६] इञ् ॥

१३०. करोतीति कारिः, शिल्पी । शिल्पिनोऽन्यत्र—करिः; [हस्ती] ॥

१३१. जायतेऽसौ जनिः, जननं वा । [जनिवध्योश्च (अ० ७।३।३५) इति वृद्ध्यभावः ।] घसति[4] भक्षयतीति घासिः, अग्निर्वा । [5]प्रत्ययान्तरकरणं स्वरार्थम् ॥

बाहुलकात्—शल्यते प्राप्यतेऽसौ शालिः, व्रीहयो वा । पलति गच्छतीति पालिः, खड्गादेरग्रभागो वा ॥

१३२. अजन्ति क्षिपन्ति शस्त्रादिकं यत्र स आजिः, संग्रामो वा ।

---

१. 'संज्ञायाम् (अ० ५।३।८७) इति कन्, ततष्टाप् स्त्रियाम् ।

२. शारयश्च शारिकाश्च इति बहूनां द्वन्द्वे 'विभाषा वृक्षमृग०' (अ० २।४।१२) इति सूत्रसहयोगिना 'बहुप्रकृतिः फलसेनावनस्पतिमृगशकुनिक्षुद्रजन्तुधान्यतृणानाम्' (अ० २।४।१२) इति वार्तिकेन विभाषैकवद्भावः ।

३. 'पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति' (अ० ४।४।३५) इत्यत्र पक्ष्यादिस्वरूपाणां पर्यायाणां तद्विशेषाणां च ग्रहणात् ढक् ।

४. भ्वादौ पाठसामर्थ्यात् सार्वधातुकलकारेष्वपि घसधातोः प्रयोगो द्रष्टव्यः ।

५. नैयमुद्रितेऽयं पाठः 'खड्गादेरग्रभागो वा' इत्यनन्तरमस्थाने पठ्यते ।

पादे च ॥ १३३ ॥—पदाजिः । पदातिः ॥ १३३ ॥

अशिपणाय्योरुडायलुकौ च ॥ १३४ ॥—राशिः । पाणिः ॥ १३४ ॥

वातेर्डिच्च ॥ १३५ ।—विः ॥ १३५ ॥

प्रे हरतेः कूपे ॥ १३६ ॥—प्रह्रिः ॥ १३६ ॥

नौ व्यो यलोपः पूर्वस्य च दीर्घः ॥ १३७ ॥—नीविः ॥ १३७ ॥

समाने ख्यः स चोदात्तः ॥ १३८ ॥—सखा ॥ १३७ ॥

अतति निरन्तरं गच्छतीति **आतिः**, तित्तिरिभेदो वा । शोभना आती[1] **'स्वाती'** नक्षत्रम् ॥

१३३. पद्भ्यामजत्यतति वा स **पदाजिः, पदातिः** पद्गः । पादस्य **पदाज्याति०** [६।३।५१] इति सूत्रेण पदादेशः ॥

१३४. अशेरुट्, पणायतेरायलुक् । अश्नुते व्याप्नोतीति **राशिः**, समूहो वा । पणायति[2] व्यवहरति येन स **पाणिः**, हस्तो वा ॥

१३५. वाति वायुवद् गच्छतीति **विः**, पक्षी वा । डित्त्वादाकार-लोपः । अटन्ति वयोऽस्यामिति[3] **अटविः**, नगरी । पदस्य विः [**पदविः** । स्त्रियां—] **पदवी**[4] ॥

१३६. इण्—डित् । प्रहरन्ति जलमस्मात् स **प्रह्रिः**, कूपो वा । कूपादन्यत्र—[5]**प्रहरिः** ॥

१३७. पूर्वस्योपसर्गस्य दीर्घः । निवीयते संव्रियते सा **नीविः**; **नीवी**; मूलधनं दुकूलबन्धनं वा ॥

१३८. समानं ख्यातीति **सखा**, मित्रं सहायो वा । **सखायौ,सखायः** ॥

---

१. कृदिकारादक्तिनः (अ० ४।१।४५ गणसूत्र) इति स्त्रियां वा ङीष् ।

२. व्यवहारेऽर्थेऽप्यायप्रत्ययो भवति इति पूर्वम् (पृष्ठ ६५, टि० ४) उक्तम् । अस्मिन् सूत्र आयस्य लुग्वचनमपि तत्र प्रमाणम् ।

३. अस्यां व्युत्पत्तौ रूपसिद्धिः 'पृषोदरादित्वाद्' (द्र०—अ० ६।३।१०८) द्रष्टव्या ।

४. 'कृदिकारादक्तिनः' इति गणसूत्रेण (द्र०—अ० ४।१।४५) ङीष् इति शेषः ।

५. वैयमुद्रिते 'हरिः' इत्यपपाठः । कूपे 'प्रह्रिः' शब्दस्य साधनाद् इहापि 'प्र'-पूर्वं प्रत्युदाहरणं युक्तम् ।

आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च ॥ १३६ ॥—अश्रिः । अहिः ॥ १३६ ॥

अच इः ॥ १४० ॥—'पविः । [तरिः ।] [लविः ।] रविः । कविः । अरिः। अलिः । [नखिः । सूचिः] ॥ १४० ॥

खनिकष्यज्यसिवसिवनिसनिध्वनिग्रन्थिचरिभ्यश्च ॥ १४१ ॥—खनिः । कषिः । अजिः । असिः । वसिः । वनिः । सनिः । ध्वनिः । ग्रन्थिः । चरिः ॥ १४१ ॥

---

१३६. आश्रयति तत्रेति अश्रिः, कोणो वा । आहन्तीति अहिः, मेघः सर्पो वा । अत्राङुपसर्गस्यैव ह्रस्वत्वम् [डिदनुवर्तनाट्टिलोपः, 'स चोदात्तः' इत्यनुवर्तनाद् ह्रस्वीभूतस्याङ उदात्तत्वं[२] च] ॥

१४०. अजन्ताद्धातोरिः प्रत्ययः । लुनाति छिनत्तीति लविः, छेदको लोहो वा । पुनातीति पविः, वज्रं हीरकं वा । तरति येन स तरिः, वस्त्रादि-स्थापनभाण्डं [नौका] वा; स्त्रियां तरी[३] । रौतीति रविः, सूर्यो वा । कौति शब्दयत्युपदिशति स कविः, मेधावी विद्वान् क्रान्तदर्शनो वा; स्त्रियां कवी[३] । ऋच्छति प्राप्नोति परपदार्थानिति अरिः, शत्रुर्वा । कपिलकादित्वात् [द्र०—अ० ८।२।१८ वा०] लत्वे अलिः, भ्रमरो वा । नखेनातिक्रामतीति नखयति, तस्मात् नखिः । सूचयतीति सूचिः, [स्त्रियां सूची[३]] इत्यादि ॥

१४१. खनति येन खन्यते यत्रेति वा स खनिः, [कुद्दालो] धनस्थानं[४] वा । वाहुलकाद्दीर्घत्वे खानिः इत्यपि । कषति हिनस्तीति कषिः, हिंसको

---

१. नैयमुद्रिते पदमिदं रविपदात् परमस्थान आसीत् । वृत्त्यनुसारमिहानीतम् ।

२. काशिकावृत्तिकारेण 'अहिशब्दोऽन्तोदात्तो व्युत्पादितः । केचिदाद्युदात्तमिच्छन्ति' इत्याह (अ० ६।२।४८) । पञ्चपादीवृत्तिकारा 'स चोदात्तः' इति नानुवर्तयन्ति, तन्मतेनाहिशब्दस्यान्तोदात्तत्वमुक्तम् । 'दशपादीवृत्तिकारस्तु 'पूर्वपदस्य उदात्तश्च' इत्याह (द्र०—द० उ० वृ० १।६६, पृष्ठ ४१) । वेदे सर्वत्र अहिशब्द आद्युदात्तः एवोपलभ्यते । अतः 'स चोदात्तः' इत्यनुवर्तनीयमेव ।

३. कृदिकारादक्तिनः (अ० ४।१।४५) इति गणसूत्रेण वा ङीष् ।

४. यत्र धनं सुरक्षार्थं निखन्यते । आकरोऽपि खनिः, खानिः (=खान) इत्युच्यते ।

वृतेश्छन्दसि ॥ १४२ ॥—वर्तिः ॥ १४२ ॥

भुजेः किच्च ॥ १४३ ॥—भुजिः ॥ १४३ ॥

कॄगॄशॄपॄकुटिभिदिछिदिभ्यश्च ॥ १४४ ॥—किरिः । गिरिः । शिरिः । पुरिः । कुटिः । भिदिः । छिदिः ॥ १४४ ॥

वा। अनक्ति व्यनक्ति कार्यमिति **अञ्जिः**[1] प्रेषणकर्ता। [स्त्रियाम्] ङीष्–'**अञ्जी**' मङ्गलार्थः । अस्यति क्षिपत्यनेनेति **असिः**, खड्गो वा । वस्त आच्छादयत्यनेनेति **वसिः**, वस्त्रं वा । वनति संभजतीति **वनिः**, अग्निर्वा । **धान्यवनिः** धान्यराशिः । वन्यते याच्यत इति **वनिः**, तं वनिं याचनमिच्छतीति वनीयति, तदन्ताण्ण्वुल् '**वनीयकः**' प्रार्थकः । सनोति ददातीति **सनिः**, अध्येषणं वा । ध्वन्यत उच्चार्यते स **ध्वनिः**, शब्दो वा । यं ग्रथ्नाति समुदेति स **ग्रन्थिः** पर्व । चरतीति **चरिः**, पशुर्वा ॥

१४२. वर्त्तते तत्र येन वा स **वर्त्तिः**, योगक्रिया साधनद्रव्यं मार्गो वा ॥

१४३. भुनक्ति पालयति भक्षयति वा स **भुजिः**, अग्निर्वा ॥

१४४. किदिति वर्तते । किरतीति **किरिः**, वराहो वा । गिरति गृणाति वा स **गिरिः**, [2]गोत्रम् अक्षिरोगः[3] पर्वतो मेघो वा । शृणातीति **शिरिः** हन्ता । पिपर्त्तीति **पुरिः**, नगरं नदी वा । कुटतीति **कुटिः**; **कुटी**,[4] शाला वा । भिनत्ति येन स **भिदिः**, वज्रं वा । छिनत्त्यनेन स **छिदिः**, परशुर्वा ।

बहुलवचनात्—तरति प्लवतेऽसौ **तित्तिरिः**,पक्षिभेदो वा । 'तॄ'धातोरिः प्रत्ययः, स च कित्, सन्वत्कार्यमभ्यासस्य तुगागमश्च ॥

---

१. गैयमुद्रिते 'अजिः' इत्यपपाठः ।

२. 'गोत्र' शब्देन किमत्राभिप्रेतमिति न ज्ञायते । निरुक्तवचनात् (द्र०—२।२१) मेघनामसु (निघ० १।१०) पठितम् 'गोत्र'पदं मेघपर्वतयोर्वाचकः । तौ चार्थावुत्तरत्र साक्षान्निर्दिष्टौ ।

३. अक्षिरोगे किरिः प्रयुज्यते । अतएव काशिकादौ (२।१।३०) 'किरिणा काणः किरिकाणः' इत्युदाहरणमुपन्यस्यते । उज्ज्वलदत्तवृत्तौ तु 'गिरिगोत्राक्षिरोगयोः । गिरिकाणः' इति पाठो दृश्यते । तन्मूलक एवास्यामपि वृत्तावक्षिरोगरूपोऽर्थो निर्दिष्ट इति प्रतीयते ।

४. 'कृदिकारादक्तिनः' (अ० ४।१।४५) इति गणसूत्रेण स्त्रियां वा ङीष् ।

कुण्ठिकम्प्योर्नलोपश्च ॥ १४५ ॥—कुठिः । कपिः ॥ १४५ ॥

सर्वधातुभ्यो मनिन् ॥ १४६ ॥—कर्म । चर्म । भस्म । जन्म । शर्म । हेम । श्लेष्मा । तर्म । स्थाम । दाम । छद्म । सुत्रामा ॥ १४६ ॥

बृंहेर्नोऽच्च ॥ १४७ ॥—ब्रह्म ॥ १४७ ॥

अशिशकिभ्यां छन्दसि ॥ १४८ ॥—अश्मा । शक्मा ॥ १४८ ॥

---

१४५. कुण्ठति गतिं प्रतिहन्तीति **कुठिः**, पर्वतो वृक्षो वा । कम्पतेऽसौ **कपिः**, वानरो वर्णभेदो वा । कपिवर्णमस्यास्तीति **'कपिशः'** कपिलवर्णः । लोमादिपाठाद् (द्र०—अ० ५।२।१००) अत्र मत्वर्थीयः शप्रत्ययः ॥

१४६. क्रियते तत् **कर्म**, क्रिया वा । अर्द्धर्चादित्वाद् [द्र०—अ० २।४।३१] उभयलिङ्गः कर्मशब्दः—**कर्माणं कुरुते शुभम्**[1] । चरति गच्छति येन तत् **चर्म** प्रसिद्धम् । भसितं दीपितमिति यत्तद् **भस्म** । जायते यत्र तत् **जन्म** उत्पत्तिः । शृणातीति **शर्म**, सुखं गृहं वा । हिनोति वर्धते येन तत् **हेम**, सुवर्णं वा । श्लिष्यतीति **श्लेष्मा**, कफोद्भावो वा । श्लेष्माऽस्यास्तीति पामादित्वाद् [द्र०—अ० ५।२।१००] मत्वर्थे नः प्रत्ययः **'श्लेष्मणः'** । सिध्मादित्वात् [(द्र०—अ० ५।२।९७) लः] **'श्लेष्मलः'** । तरतीति **तर्म**, यूपाग्रं वा, **तर्मणी, तर्माणि** । तिष्ठति येन तत् **स्थाम**, बलं वा, **स्थामनी** । ददातीति **दाम**, स्रग्वा । छादयतीति **छद्म**, माया वा । **इस्मन्०** [अ० ६।४।९७] इति ह्रस्वत्वम् । सुष्ठु त्रायत इति **सुत्रामा** । ओषति दहतीति **उष्म**,[2] **अन्येषामपि०** [अ० ६।३।१३६] इति दीर्घे **ऊष्मा**, ग्रीष्मर्त्तुर्वाष्पो वा ॥

१४७. बृंहति वर्धते तद् **ब्रह्म**, ईश्वरो वेदस्तत्त्वं तपो वा ॥

१४८. अश्नात्यश्नुते व्याप्नोति वा स **अश्मा**, मेघः पाषाणो वा । भाषायामपि दृश्यते—**अश्मानं दृषदं मन्ये**[3] । शक्नोतीति **शक्मा**, सूर्यो वा ॥

---

१. अनुपलब्धमूलं वचनम् ।

२. गैयमुद्रिते 'ऊष्म' इत्यपपाठः, दीर्घोकारवतोऽग्रे निर्देशात् । अन्ये वृत्तिकारा 'उष्म' 'उष्मा' इति ह्रस्वोवर्णवदेव उदाहरणं पठन्ति । अयं वृत्तिकारः 'उष्म ऊष्मा' इत्युभयह्रस्वदीर्घवर्णवती रूपे मनुते । 'उष्म' शब्दे बाहुलकादेव गुणाभावोऽपि द्रष्टव्यः ।

३. वचनमिदं काशिकादौ (२।३।१७) उद्धृतं दृश्यते ।

हृभृधृसृस्तृशृभ्य 'इमनिच् ॥ १४९ ॥—हरिमा । भरिमा । धरिमा । सरिमा । स्तरिमा । शरिमा ॥ १४९ ॥

जनिमृङ्भ्यामिमनिन्[2] ॥ १५० ॥—जनिमा । मरिमा ॥ १५० ॥

वेञः सर्वत्र ॥ १५१ ॥—वेमा ॥ १५१ ॥

नामन्सीमन्व्योमन्रोमन्लोमन्पाप्मन्ध्यामन् ॥ १५२ ॥

---

१४९. छन्दसीति वर्त्तते । हरति स **हरिमा**, कालो वा । भर्तुं योग्यो **भरिमा**, कुटुम्बं वा । ध्रियत इति **धरिमा**, रूपं वा । सरतीति **सरिमा**, वायुर्वा । स्तीर्यत आच्छाद्यत इति **स्तरिमा**, तल्पं वा । शृणातीति **शरिमा**, प्रसवो वा ॥

१५०. छन्दसीत्यनुवर्त्तते । जायत इति **जनिमा**, जन्म । म्रियत इति **मरिमा** मृत्युः ॥

१५१. वयति वस्त्राणि येन स **वेमा**, तन्तुवायदण्डः वस्त्रनिर्माण-सामग्री वा । सर्वत्र वचनाच्छन्दसीति निवृत्तम् ॥

१५२. सप्तामी मनिनन्ता निपात्यन्ते । म्नायतेऽभ्यस्यते येन तत् **नाम** संज्ञा । [निपातनाद् धातोर् 'ना' आदेशः, मकारलोपो वा ।] स्वार्थे वार्त्तिकेन[3] धेयट्, नामैव '**नामधेयम्**' । सिनोति बध्नातीति **सीमा**, अव-

---

१. 'ईमनिन्' इति नारायणश्वेतवनवासिदशपादीवृत्तिकाराः पठन्ति । भट्टोजिदीक्षितोऽपि प्रौढमनोरमायाम् (पृष्ठ ५५७) 'ईमनिन्' प्रत्ययस्य साधुत्वमाह । सायणोऽपि ऋग्भाष्ये (१।१२।२; १।२२।१३) ईमनिन् पाठमेव स्वीचकार । वृत्तिकारोऽयं स्वीये ऋग्भाष्य उभयत्र (ऋ० १।१२।२; १।२२।१३) मनिन् प्रत्ययस्य 'बहुलं छन्दसि' (अ० ७।३।९७) इत्यनेन ईडागमं विदधन् प्रकृतोणादिसूत्रे 'इमनिन्' पाठमेव प्रमाणयति । वेदे (यथा—ऋ० १।५०।११, १२) 'हरिमाणम्' पदस्य श्रवणाद् ह्रस्वेकारवान् प्रत्ययोऽपि युक्तः । वस्तुतो यथाऽत्रोत्तरसूत्रे 'इमनिन्' प्रत्ययस्य निर्देशस्तथा पूर्वसूत्रे 'ईमनिच्' प्रत्ययस्यैव साधुत्वं विज्ञायते । अन्यथा 'इमनिन्' प्रत्ययान्तरमविधाय नित्वमेव विदध्यात् । स्वरस्तु प्रयोगानुसारं यथादर्शनं साधनीयः ।

२. वैयमुद्रिते षष्ठसंस्करणे '०भ्यामिमनन्' इत्यपपाठः ।

३. 'भागरूपनामभ्यो धेयट्' (अ० ५।४।२५) इति वार्तिकेनेति भावः । केचन 'धेय'प्रत्ययमाहुः (द्र०—काशिका), तत्र तथा सति 'भागधेयी' शब्दे स्त्रियां ङीप् न स्यात् ।

मिथुने मनिः ॥ १५३ ॥—सुशर्मा । सुधर्मा ॥ १५३ ॥

सातिभ्यां मनिन्मनिणौ ॥ १५४ ॥—साम । आत्मा ॥ १५४ ॥

धिर्वा । [धातोर्दीर्घत्वम् ।] व्ययति संवृणोतीति **व्योम**, अन्तरिक्षं वा । [धातोरेकारस्योत्त्वम् ।] रौति शब्दयतीति **रोम** । लूयते छिद्यते तत् **लोम**, गात्रकेशा वा । पिबतीति **पाप्मा**, किल्विषं वा । धातोः पुक् । ध्यायते स **ध्यामा**, परिमाणं तेजो वा ।

बाहुलकात्—यक्षयति पूजयतीति **यक्ष्मा**[1], राजरोगो वा । सुवति प्रेरयतीति **सोमा**, चन्द्रो वा । हूयतेऽसौ **होमा**, आहुतिर्वा । दधाति तद्यत्र वेति **धाम**, स्थानं तेजो वा ॥

१५३. यत्रोपसर्गो धातुक्रियया सम्बद्धस्तन् मिथुनम्[2], तस्मिन् सत्युक्तेभ्यो वक्ष्यमाणेभ्यश्च धातुभ्यो मनिः प्रत्ययः स्यात्, न तु मनिन् । स्वरभेदार्थो नियमः । सुष्ठु शृणातीति **सुशर्म्मा**, राजविशेषो वा । सुधरतीति **सुधर्मा** इत्यादि ॥

१५४. स्यति कर्माणि समापयतीति **साम**, वेदभेदो वा । अतति निरन्तरं कर्मफलानि प्राप्नोति वा स **आत्मा**[3] । आत्मने हितम्

---

१. 'महद् यक्ष्मं भुवनस्य मध्ये' इत्यथर्वणि (१०।७।३८) । यक्ष्मेति ब्रह्मोच्यते।

२. मिथुनशब्दार्थे विप्रवदन्ते वृत्तिकाराः । उपसर्गक्रियासम्बन्धो मिथुनमित्युज्ज्वलदत्तभट्टोजिदीक्षितादयः । दशपादीवृत्तिकारस्त्वत्र (६।८०) उपपदयोगं मनुते, वसुशर्मा हरिशर्मा उदाहरणनिर्देशात् । नारायणश्वेतवनवासिनौ तु मिथुनशब्दस्य स्त्रीलिङ्गपुंल्लिङ्गरूपमर्थमाहतुः । अयमेवार्थो युक्त इत्यस्माकमपि मतम्, लोक एतस्मिन्नेवार्थे मिथुनशब्दस्य प्रयोगात् । तेनोभयलिङ्गावेतौ शब्दौ ।

३. 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' इति परिभाषया (सीरदेवीयपरिभाषावृत्ति सं० ७१) वृद्ध्यभावे 'अतमन्' शब्दोऽपि । तथा च प्रयुज्यते—'गूढोऽत्मा न प्रकाशते' (कठो० १।३।१२) । वैदिकग्रन्थेष्वसकृत् प्रयुज्यमानमतमञ्छब्दमविज्ञाय 'गूढोत्मा' इत्यत्र सन्धिदोषं मन्वानः 'जी० ए० जैकब'महोदयः स्वीय उपनिषद्वाक्यकोशे 'गूढात्मन्' शब्दं निर्दिश्य कठोपनिषदः पाठं परिवर्त्य 'गूढात्मा न प्रकाशते' इत्येवमुद्धृतवान् (पृष्ठ ३३६) । वेदे आत्मार्थे 'त्मन्' शब्दोऽपि प्रयुज्यते । यद्यपि पाणिनिना 'मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः' (अ० ६।४।१४१) इत्यनेन तृतीयैकवचने आत्मन आकारलोपो विहितः, वार्तिककारेण चाङोऽन्यत्रापि आकारलोप उक्तः, तथापि वेदेषु बह्वीषु

हनिमशिभ्यां सिकन् ॥ १५५ ॥—हंसिका । मक्षिका ॥ १५५ ॥

कोररन् ॥ १५६ ॥—कवरः ॥ १५६ ॥

गिरः उडच् ॥ १५७ ॥—गरुडः ॥ १५७ ॥

इन्देः 'कमिन्नलोपश्च ॥ १५८ ॥—इदम् ॥ १५८ ॥

कायतेर्डिमिः ॥ १५९ ॥—किम् ॥ १५९ ॥

'आत्मनीनम्'[२] ॥

१५५. हन्तीति हंसिका, हंसस्त्री वा । मशति शब्दयति रोषं करोति वा सा मक्षिका, प्रसिद्धा जातिर्वा ॥

१५६. कौत्युपदिशतीति कवरः[३], पाठको वा । केशविन्यासः 'कबरी'। अन्यत्र 'कबरा' कन्या पाठिकेत्यर्थः ॥

१५७. गिरति निगलतीति गरुडः, पक्षिभेदो वा ॥

१५८. इन्दति परमैश्वर्यहेतुर्भवतीति इदम्, प्रत्यक्षविषयबोधकः सर्वनामसंज्ञको वा ॥

१५९. कायति शब्दयतीति किम्, प्रश्नाद्यर्थे वा ॥

विभक्तिषु 'त्मन्' शब्दस्य प्रयोगदर्शनात् स्वतन्त्र आत्मन्नर्थकः 'त्मन्' शब्दोऽपि द्रष्टव्यः । स च मनिण्प्रत्यये बाहुलकाद् धात्वादिलोपेन साधनीयः ।

१. 'कमिर्नलोपश्च' इति पाठान्तरम् । युक्तं चैतदिदमोऽन्तोदात्तत्वात् ।

२. 'आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात् खः' (अ० ५।१।९) इति खः ।

३. सूत्रमिदमुज्ज्वलदत्तवृत्तावपि पठ्यते । अन्यत्र नोपलभ्यते । 'कवर-कवरी-कवरा' शब्दा ओष्ठ्यबकारवन्त इति 'जानपदकुण्ड०' (अ० ४।१।४२) सूत्रे 'कबर' इत्योष्ठ्यबकारवच्छन्दप्रयोगाद् विज्ञायते । अन्तस्थवकारवद् रूपमनुसन्धेयम् । सूत्रस्यास्य प्रामाण्यमपि संदिग्धमन्यत्रानुपलम्भात् । ओष्ठ्यबकारवन्तः शब्दाः कबृ वर्णे इत्यस्माद् अरन् प्रत्यये सिद्ध्यन्ति ।

सर्वधातुभ्यः[1] **ष्ट्रन् ॥ १६० ॥**—वस्त्रम् । अस्त्रम् । छत्रम् । [राष्ट्रम्] ॥ १६० ॥

भ्रस्जिगमिनमिहनिविश्यशां वृद्धिश्च ॥ १६१ ॥—भ्राष्ट्रः । गान्त्रम् । नान्त्रम् । हान्त्रम् । वेष्ट्रम् । आष्ट्रम् ॥ १६१ ॥

दिवेर्द्युच्च ॥ १६२ ॥—द्यौत्रम् ॥ १६२ ॥

---

१६०. वस्त आच्छाद्यत इति **वस्त्रम्** । अस्यति क्षिपतीति **अस्त्रम्**[2] । छादयति घर्मादिकमपवारयतीति **छत्रम्** इति प्रसिद्धम् । इस्मन्त्रन्० [अ० ६। ४ । ९७] इतिसूत्रेण ह्रस्वादेशः । पतति यो गच्छति येन वा तत् **पत्रम्**, वाहनं वा । राजतेऽसौ **राष्ट्रः**; **राष्ट्रं**[3], राज्यं देशो वा जातिविशेषो वा ।

अन्येऽपि—गच्छत्यनया सा **गन्त्री**, महच्छकटं वा । पिवत्यनेन तत् **पात्रम्** । पाति रक्षतीति **पात्रः**, सज्जनो वा । [[4]**पात्री** ब्राह्मणी] । दशति यया सा **दंष्ट्रा**, दन्तो वा इत्यादि ॥

१६१. भृज्जति यत्रेति **भ्राष्ट्रः**, अम्वरीषो वा । गच्छति येन तत् **गान्त्रम्**, शकटं वा । नमति येन तत् **नान्त्रम्**, स्तोत्रं वा । हन्यते तत् **हान्त्रम्**, मरणं वा । विशन्ति यत्रेति [5]**वैष्ट्रम्**, लोको वा । अश्नुते व्याप्नोतीति **आष्ट्रम्**, आकाशो वा । [तितुत्रतथ० । अ० ७ । २ । ९ इतीण्निषेधः ॥]

१६२. वृद्धिरित्यनुवर्त्तते । दीव्यति द्योतते प्रकाशते तद् **द्यौत्रम्**, [ज्योतिर्वा] ॥

---

१. सर्वधातुग्रहणमनर्थकम्, सामान्येन विहितः प्रत्ययः सर्वधातुभ्यो भवति, यथा 'ण्वुलतृचौ' (अ० ३।१।१३३) । अतएव दशपाद्यां पञ्चपाद्यां नारायणश्वेतवनवासिवृत्त्योः 'ष्ट्रन्' इत्येव सूत्रं दृश्यते ।

२. यत्प्रतिक्षिप्य शत्रुं हन्ति तदस्त्रं बाणादि । यद्धस्ते धारयन् शत्रुं हन्ति तच्छस्त्रम् असयादि ।

३. अर्धर्चादित्वात् (द्र०–अ० २।४।३१) इति पुन्नपुंसकलिङ्गः । षित्त्वात् स्त्रियां ङीष् (द्र०–अ० ४।१।४१) राष्ट्री । इदमत्रावधेयम् राष्ट्रशब्दस्यान्तोदात्तस्वरदर्शनाद् राजतेस्त्रः प्रत्ययः । राष्ट्री शार्ङ्गरवादेः (अ० ४।१।७३) आकृतिगणत्वात् ङीन्याद्युदात्तः । अत्र राष्ट्रशब्दस्य निर्देश उज्ज्वलदत्तवृत्यनुरोधेन ज्ञेयः ।

४. द्र०–उ० ४।१७१ सूत्रवृत्तिः पृष्ठ १५४ ।

५. वैयमुद्रिते 'वेष्ट्रम्' इत्यपपाठः, वृद्धिवचनात् ।

उषिखनिभ्यां कित् ॥ १६३ ॥--उष्ट्रः । खात्रम् ॥ १६३ ॥

सिविमुच्योष्टेरू च ॥ १६४ ॥--सूत्रम् । मूत्रम् ॥ १६४ ॥

अमिचिमिशसिभ्यः क्त्रः[1] ॥ १६५ ॥—अन्त्रम् । चित्रम् । मित्रम् । शस्त्रम् ॥ १६५ ॥

पुवो ह्रस्वश्च ॥ १६६ ॥—पुत्रः ॥ १६६ ॥

---

१६३. ओषति दहतीति उष्ट्रः, पशुजातिभेदो वा । खन्यते तत् खात्रम्, खनित्रं जलाधारविशेषो वा । जनसनखनां० [अ० ६ । ४ । ४२] इत्यात्त्वम् ॥

१६४. सीव्यति येन यदर्थं बध्नाति वा तत् सूत्रम्, तन्तुः शास्त्रैकदेशो वा । मुच्यते यत्तत् मूत्रम्, प्रस्रावो वा ॥

१६५. अमति जानाति प्राप्नोति येन तत् अन्त्रम्, उदरनाडी वा । चीयते तत् [2]चित्रम् [,आलेख्यं वा]; चित्रा नक्षत्रं वा; चैत्रो[3] मासः । मिनोति मान्यं करोतीति मित्रम्, सुहृद्वा । नित्यन्नपुंसकम्—'अयं मित्रम् । इयम् मित्रम् । क्वचित् पुंल्लिङ्गो वा—'शं नो मित्रः'[5] इत्यादिषु । शोभनानि मित्राण्यस्याः सन्तीति 'सुमित्रा', तस्या अपत्यं 'सौमित्रिः' । बाह्वादित्वाद् (द्र०—अ० ४ । १ । ९६) इञ् । शसति हिनस्ति येन तत् शस्त्रम्, आयुधं वा ॥

१६६. पुनाति पवित्रं करोतीति पुत्रः, आत्मजो वा ॥

---

१. नैयमुद्रिते 'क्रः' इत्यपपाठः, रूपासिद्धेः ।

२. अन्त्रादयोऽन्तोदात्ता एवोपलभ्यन्ते । तस्मात् 'अमिचिमिदिदंसिभ्यः कित्' इति सूत्रन्यासेन त्रन्प्रत्ययं विदधन् श्वेतवनवासी (४ । १७२), तदनुयायिनश्च चिन्त्याः । चित्रशब्दः सर्वत्रान्तोदात्तः सन्नपि 'चित्र इत्' (ऋ० ८।२१।१८) इत्यत्राद्युदात्त उपलभ्यते । तत्र स्वरव्यत्ययः प्रत्ययान्तरं वा कल्पनीयम् ।

३. चित्रा नक्षत्रमस्यां पौर्णमास्यां सा चैत्री पौर्णमासी (द्र०—अ० ४।२।३) । चैत्री पौर्णमासी अस्मिन् मासे स चैत्रो मासः (द्र०—अ० ४।२।२०) ।

४. वैयमुद्रितेऽयं पाठोऽग्रे 'इत्यादिषु' इत्यतः परेऽस्थान आसीत् ।

५. ऋ० १।९०।९॥

स्त्यायतेड्ट् ॥ १६७ ॥—स्त्री ॥ १६७ ॥

गुधृवीपचिवचियमिसदिक्षदिभ्यस्त्रः[1] ॥ १६८ ॥—गोत्रम्; गोत्रा । धर्त्रम् । वेत्रम् । पक्त्रम् । वक्त्रम् । यन्त्रम् । सत्रम् । क्षत्रम् ॥ १६८ ॥

हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन् ॥ १६९ ॥—होत्रम् । यात्रा । मात्रा । श्रोत्रम् । भस्त्रा ॥ १६९ ॥

गमेरा च ॥ १७० ॥—गात्रम् ॥ १७० ॥

दादिभ्यश्छन्दसि ॥ १७१ ॥—दात्रम् । पात्रम् ॥ १७१ ॥

---

१६७. स्त्यायति शब्दयति गुणान् गृह्णाति वा सा **स्त्री**, प्रसिद्धा भार्य्या वा ॥

१६८. गवते शब्द्यत इति **गोत्रम्**, नाम वंशो वा; **गोत्रा** पृथिवी । धरतीति **धर्त्रम्**, गृहं वा । वेति गच्छतीति **वेत्रम्**, लताविशेषो वा । पचति येन यत्र वा तत् **पक्त्रम्**, गार्हपत्यं वा । वक्ति येन तद् **वक्त्रम्**, मुखं वा । यच्छति उपरमति येन तद् **यन्त्रम्**, कलाविशेषो वा । सीदन्ति यत्रेति **सत्रम्**, यज्ञो वा; सतः सत्पुरुषान् त्रायते तत् **सत्रम्** इति व्युत्पत्त्यन्तरम् । 'क्षद' सौत्रो धातुः[2], क्षदति रक्षतीति **क्षत्रम्**, वर्णभेदो वा; **क्षतात्त्रायत**[3] इत्यपि ॥

१६९. हूयत इति **होत्रम्** होमः । ययात इति **यात्रा**, गमनं वा । मातीति **मात्रा**, मानं भूषणं वा । श्रूयतेऽनेन तत् **श्रोत्रम्**, करणं वा । [4]बभस्ति दीप्यते यया सा **भस्त्रा**, अग्निज्वजनी वा ॥

१७०. गच्छति चेष्टतेऽनेनेति **गात्रम्**[5], अवयवः शरीरं वा ॥

१७१. दाति लुनाति तत् **दात्रम्**, धान्यादिछेदनसाधनं वा । पिबत्य-

---

१. वैयमुद्रिते '०क्षदिभ्यः स्त्रः' इत्यपपाठः ।

२. द्र०—'तृन्तृचौ शंसिक्षदादिभ्यः संज्ञायां चानिटौ' (उ० २ । ९५) इति सूत्रे । 'क्षद संवृत्तौ' तद्वृत्तौ पाठः । (द्र०—पृष्ठ ७३) ।

३. 'क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः' । (रघुवंश २ । ५३) इति ।

४. वैयमुद्रिते 'विभस्ति' इत्यपपाठः, अभ्यासेत्त्वस्य विधायकाभावात् ।

५. इणो गादेशे अप्रत्ययेऽपीदं रूपम् । द्र०—'बहुलं संज्ञाछन्दसोरिति वक्तव्यम अन्नवधकगात्रविचक्षणाजिराद्यर्थम्' (अ० २।४।५४ वा०) ।

भूवादिगृभ्यो णित्रन् ॥ १७२ ॥—भावित्रम् । वादित्रम् । गारित्रम्॥१७२॥

चरेर्वृत्ते ॥ १७३ ॥—चारित्रम् ॥ १७३ ॥

अशित्रादिभ्य इत्रोत्रौ ॥१७४॥—अशित्रम् । वहित्रम् । धरित्री ॥ त्रोत्रम् । वरुत्रम् ॥ १७४ ॥

अमेर्द्विषति चित् ॥ १७५ ॥—अमित्रः ॥ १७५ ॥

आः समिण्निकषिभ्याम् ॥ १७६ ॥—समया । निकषा ॥ १७६ ॥

नेनेति पात्रम्, योग्यो भाजनं वा । पूर्वत्रापि 'पात्रम्' इति साधितम्[१], तत्र प्रत्ययस्य षित्वात् पात्री ब्राह्मणीत्यपि साधितम्[२] । क्षयति नश्यति निवास-हेतुर्भवतीति क्षेत्रम्, केदारः कलत्रं वा । एवमन्येऽपि शब्दा द्रष्टव्याः ॥

१७२. भवतीति भावित्रम्, लोकत्रयी वा । वाद्यते तद् वादित्रम्, तूर्यादिर्वा । गीर्य्यते भक्ष्यते तद् गारित्रम्, ओदनो वा ॥

१७३. चरतीति चारित्रम्, वृत्तान्तं समाचारो वा । 'इत्र प्रत्यये'[३] 'चरित्रम्' सुशीलम् ॥

१७४. अश्यादिभ्य इत्रः—अश्नुते व्याप्नोतीति अशित्रम्, चरुर्वा । कटतीति कटित्रम्, कवचभेदो वा । वहति येन तद् वहित्रम्, वाहनं वा । बध्नातीति बधित्रम्, कामो वा । धरतीति धरित्री, पृथिवी वा । त्रादिभ्य उत्रः—त्रायते येन तत् त्रोत्रम्, प्रहारो वा । लुनाति छिनत्ति येन तत् लोत्रम्, चोरचिह्नं वा । वृणोतीति वरुत्रम्, प्रावरणं वा ॥

१७५. शत्रौ वाच्येऽमेरित्रः [चित्] । अमति गच्छतीति अमित्रः शत्रुः ॥

१७६. समेतीति समया । निकषति हिनस्तीति निकषा, समीप-वाचकौ वा । स्वरादिपाठाद् (द्र०—अ० १।१।३६) अनयोरव्ययत्वम् ।

---

१. द्र०—उ० ४।१६० सूत्रस्य वृत्तिः ।

२. द्र०—उ० ४।१६० सूत्रस्यवृत्तिः ।

३. वैयमुद्रिते 'इत्रच्' इत्यपपाठः, इत्रच्प्रत्ययस्य साक्षादनुपदेशात्, चरित्र-पदस्य च प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तत्वदर्शनाच्च ।

४. उत्तरसूत्रेण (४।१७४) इति शेषः ।

चितेः कणः कश्च ॥ १७७ ॥—चिक्कणम् ॥ १७७ ॥

सूचेः स्मन् ॥ १७८ ॥—सूक्ष्मम् ॥ १७८ ॥

पातेर्डुम्सुन् ॥ १७९ ॥—पुमान् ॥ १७९ ॥

रुचिभुजिभ्यां किष्यन् ॥ १८० ॥—रुचिष्यम् । भुजिष्यः ॥ १८० ॥

वसेस्तिः ॥ १८१ ॥—वस्तिः ॥ १८१ ॥

बाहुलकाद्—दीव्यतीति दिवा, दिनं वा। [धातोर्गुणाभावः।] दुष्यतीति दोषा, रात्रिर्वा। अनयोरपि तत्रैव पाठादव्ययत्वम् । स्वदते स्वादुक्रियते या सा स्वधा, न्यायेनैश्वर्यक्रिया तृप्तिर्वा। धातोर्दस्य धः ॥

१७७. चेतति जानाति येन तत् चिक्कणम्, स्निग्धं वा । [बाहुलकात् ककारस्येत्संज्ञा न भवति ॥]

१७८. सूचयति पैशुन्यं करोतीति सूक्ष्मम्, अत्यल्पं वा ॥

१७९. पाति रक्षतीति पुमान्, पुमांसौ, पुमांसः । 'असुङादिकार्य्यम्[1]; शोभनः पुमान् यस्याः सा 'सुपुंसी' । [2]डुम्सुन उगितत्वान् ङीप् ॥

१८०. रोचते तत् रुचिष्यम्, इष्टं वा। भुनक्तीति भुजिष्यः, दासो वा ॥

१८१. वस्त आच्छादयति सा वस्तिः, वसनस्य दशा कोणो[3] नाभेरधोभागो वा ।

बाहुलकात्—शास्ति शिक्षत इति शास्तिः, राजदण्डो वा। यजतीति यष्टिः; यष्टी वा, काष्ठदण्डो वा। अस्यते क्षिप्यते या सा अस्तिः । अगं वृक्षमस्यत्युत्पाटयति स अगस्तिः, मुनिर्वा; तस्यापत्यम् 'आगस्त्यः' । शकन्ध्वादित्वाद् (अ० ६।१।९१ वा०) अत्र पररूपम्। पुलं महत्वमसते गच्छति प्राप्नोतीति पुलस्तिः[4], ऋषिर्वा; तस्यापत्यं 'पौलस्त्यः' । गभमन्धकारमस्यतीति गभस्तिः[4], किरणो वा। दूयते परितापयतीति दूतिः; दूती वा, इतस्ततः समाचारज्ञापिका स्त्री वा ॥

---

१. असुङ्—'पुंसोऽसुङ्' (अ० ७।१।८९) इति सूत्रेण । आदिशब्दान्नुम् च स च 'उगिदचां सर्वनामस्थाने चाधातोः' (अ० ७।१।७०) इत्यनेन ।

२. नैयमुद्रिते 'असुङ्' इत्यपपाठः, 'सुपुंसी' इत्यत्रासुङोऽभावात् ।

३. नैयमुद्रिते 'कोणी' इत्यपपाठः ।

४. अत्रापि शकन्ध्वादित्वात् पररूपम् ।

सावसेः ।। १८२ ।।—स्वस्ति ।। १८२ ।।

वौ तसेः ।। १८३ ।।—वितस्तिः ।। १८३ ।।

पदिप्रथिभ्यां नित् ।। १८४ ।।—पत्तिः । प्रथितिः ।। १८४ ।।

दृणातेर्ह्रस्वः ।। १८५ ।।—दृतिः ।। १८५ ।।

कॄतॄकॄपिभ्यः कीटन् ।। १८६ ।।—किरीटम् । तिरीटम् । कृपीटम् ।। १८६ ।।

रुचिवचिकुचिकुटिभ्यः कितच् ।। १८७ ।।—रुचितम् । उचितम् । कुचितम् । कुटितम् ।। १८७ ।।

कुटिकुषिभ्यां क्मलन् ।। १८८ ।।— कुड्मलम् । कुष्मलम् ।। १८८ ।।

---

१८२. सुष्ठु अस्ति वर्त्तत इति **स्वस्ति**, कल्याणं वा । बहुलवचनाद् भूभावनिषेधः, **स्वरादित्वाद्** (द्र०—अ० १।१।३६) अव्ययत्वं च ।।

१८३. विशेषेण तस्यत्युपक्षिपति वा सा **वितस्तिः**, द्वादशाङ्गुलं परिमाणं वा ।।

१८४. पद्यते गच्छत्यसौ **पत्तिः**, पदातिः पुरुषो वा । प्रथ्यते या सा **प्रथितिः**, प्रख्यातिर्वा । तितुत्र० [अ० ७ । २ । ९] इति सूत्रेऽग्रहादीनामिति वार्तिकेनेट्[1] ।।

१८५. दीर्यतेऽसौ **दृतिः**, चर्ममयं पात्रं वा ।।

१८६. किरति विक्षिपतीति **किरीटम्**, मुकुटं शिरोवेष्टनं वा । तरतीति **तीरीटम्**, शिरोवेष्टनं लोध्रो वा । कल्पतेऽसौ **कृपीटम्**, कुक्षिरुदकं वा । बाहुलकादत्र लत्वाभावः ।।

१८७. रोचते तत् **रुचिरम्**, मिष्टं वा । वक्तुं योग्यं **उचितम्**, योग्यं वा । कोचति शब्दतारं[2] करोतीति **कुचितम्**, [3]परिमितं वा । कुटतीति **कुटितम्**, कुटिलं वा ।।

१८८. कुटतीति **कुड्मलम्** मुकुलम्='फूलती हुई कली' इति प्रसिद्धम् । कुष्णाति निष्कर्षतीति **कुष्मलम्**, पर्णं वा ।।

---

१. अन्ये इडभाव मत्वा 'प्रत्तिः' रूपमाहुः ।

२. कुच शब्दे तारे (धातुपाठ १।११२) । उच्चैः शब्दने प्रयुज्यते ।

३. अस्मिन्नर्थे 'कुच संकोचने' (धातुपाठ ६।७७) इत्यस्मात् कितच् द्रष्टव्यः ।

कुषेर्लश्च ॥ १८९ ॥—कुल्मलम् ॥ १८९ ॥

[1]**सर्वधातुभ्योऽसुन्** ॥ १९० ॥—चेतः । सरः । सदः ॥ १९० ॥

---

१८९. कुष्णातीति **कुल्मलम्**, पापं वा ॥

१९०. वर्चते दीप्यतेऽसौ **वर्चः**, तेजः पुरीषं वा । रक्षतीति **रक्षः**, पालको दुष्टो वा । **प्रज्ञादित्वाद्** (द्र०—अ० ५ । ४ । ३८) अणि स एव '**राक्षसः**' । रुणद्धि येन स **रोधः**, तटो वा । चेतति जानाति येन तत् **चेतः**, चित्तं वा । सरन्ति गच्छन्त्यापो यत्र तत् **सरः**, तडागो वा; स्त्रीत्वविवक्षायां **गौरादित्वात्** (द्र०—अ० ४ । १ । ४१) '**सरसी**' महासरो वा; '**सरस्वान्**' समुद्रः; सरो विज्ञानमुदकं वा विद्यतेऽस्यां सा '**सरस्वती**', वाक् नदी वा । रोदतीति **रोदः**; **गौरादित्वाद्** '**रोदसी**', द्यावापृथिव्यौ वा । वेति गच्छतीति **वयः**, कालकृताऽवस्था वा । अथवा वेति खादतीति **वयः**; वय एव '**वायसः**' काकः । **प्रज्ञादित्वाद्** (द्र०—अ० ५।४।३८) अण् । सीदन्त्यत्रेति **सदः**, सभा वा । एति प्राप्नोति **अयः**, लोहं वा; अयः कामयतेऽसौ '**अयस्कान्तः**' चुम्बकमणिः । अनिति जीवति येनेति **अनः**, ओदनं पक्वान्नं वा; अनो महत्सम्पद्यते यत्र तद् '**महानसम्**' पाकस्थानम् । समासान्तष्टच्[2] । ताम्यति काङ्क्षति येन तत् **तमः**, गुणः क्लेशो रात्रिरन्धकारो वा । तमशब्दोऽच्-प्रत्ययान्तोऽदन्तोऽपि दृश्यते[3] । महति पूजयति पूज्यो भवति वेति **महः**, महद् वा, **महसी**, **महांसि** । अच्प्रत्ययेऽकारान्तोऽपि । सहते यत्रेति **सहः**, बलं मार्गशीर्षो[4] वा; सहसा बलेन सह प्रवर्त्तते स '**साहसिकः**' दस्युर्दुष्टकर्मा वा; सहो बलं विद्यते यत्रेति '**सहस्यः**'[5] पौषो[4] मासः । तपति दुःखीभवति तप्यते समर्थो वा भवति येन तत् **तपः**, घर्मसेवनं माघमासो[6] वा । [7]तपः घर्मसेवनं यत्रेति '**तपस्यः**'[5] [6]फाल्गुनो मासः । ग्रीष्मेऽकारान्तस्तपशब्दः ।

---

१. अत्रापि 'असुन्' इत्येव सूत्रम् (द्र०—पृष्ठ १५१ टि० १) ।

२. 'अनोश्मायस्सरसां जातिसंज्ञयोः' (अ० ५।४।९४) सूत्रेणेति शेषः ।

३. तथा च प्रयुज्यते—'वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः' । चरकसूत्र स्थान ११।१९ ॥ ४. 'सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू' । यजुः १४।२७॥

५. 'मत्वर्थे मासतन्वोः' (अ० ४।४।१२८) इति यत् ।

६. 'तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू' । यजुः १५।५७॥

७. गैयमुद्रिते 'तपसि साधुः' इत्यपपाठः ।

रपेरत एच्च ॥ १९१ ॥—रेपः ॥ १९१ ॥

अशेर्देवने[1] युट् च ॥ १९२ ॥—यशः ॥ १९२ ॥

उब्जेर्बले बलोपश्च ॥ १९३ ॥—ओजः ॥ १९३ ॥

श्वेः सम्प्रसारणं च ॥ १९४ ॥—शवः ॥ १९४ ॥

मिमीते येन स माः, मासो वा इत्यादि ॥

१९१. रप्यत उच्यत इति रेपः, अवद्यं वचो वा ।

बहुलवचनादन्यत्रापि—पीयते तत् पयः[2], उदकं दुग्धं वा । 'धातोरीत्वम्, पुनर्गुणे सत्ययादेशः; पयोऽस्या अस्तीति 'पयस्विनी' गौः; 'पयस्वी' तडागः, विनिः[4] ॥

१९२. अश्यते दीव्यते क्रीडादि[5] क्रियते येन तत् यशः, कीर्तिर्वा ॥

१९३. उब्जति कोमलो भवतीति ओजः, पराक्रमो वा; ओजसा वर्त्तते इति 'औजसिकः', [6]ठक् ॥

१९४. श्वयति गच्छतीति शवः[7], मृतकशरीरं वा ।

बाहुलकात्—वहति यत् इति ऊधः, गवादेर्दुग्धस्थानं वा । धातोः सम्प्रसारणे कृते दीर्घत्वं धकारश्चान्तादेशः; घट इवोधो यस्याः सा 'घटोध्नी; कुण्डोध्नी'[8], गौर्महिषी वा ॥

---

१. विशेषः—इतः प्रभृतिर्देवनादावुपाधी सत्यामपि बाहुलकाद् अन्यार्थेष्वपि प्रयोगा उपपद्यन्ते । अतएव वृत्तावत्रापि यौगिकमर्थं पुरस्तान्निर्दिश्य औपाधिको योगरूढो रूढो वाऽर्थः पश्चादुद्ध्रियते ।

२. 'पयते पयोभिः' (अथर्व ९।१।८; ९।१०।६) इति वचनात् पयधातोः पयः । ३. गैयमुद्रिते पाठोऽयं सर्वान्तेऽस्थान आसीत् ।

४. 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' (अ० ५।२।१२१) इति सूत्रेण ।

५. दिवुधातोर्ये क्रीडाद्यर्था उक्तास्ते इह गृह्यन्ते । 'देवने स्तुतौ' इत्युज्ज्वलदत्तः।

६. 'ओजःसहोम्भसा वर्तते' (अ० ४।४।२७) इति सूत्रेणेति शेषः ।

७. भाष्ये (१।१।२ आ० १); निरुक्ते (२।२) च शवतेः शव इत्युक्तम् ।

८. ऊधसोऽनङ्' (अ० ५।४।१३१) इत्यनङ् समासान्तः । ततः ऋन्नेभ्यो ङीप् (अ० ४।१।५) इति ङीप् । 'अल्लोपोऽनः' (अ० ६।४।१३४) इत्यकारलोपः ।

अयतेः स्वाङ्गे शिरः किच्च ॥ १९५ ॥—शिरः ॥ १९५ ॥

अर्त्तेरुच्च ॥ १९६ ॥—उरः ॥ १९६ ॥

व्याधौ शुट् च ॥ १९७ ॥—अर्शः ॥ १९७ ॥

उदके नुट् च ॥ १९८ ॥—अर्णः ॥ १९८ ॥

इण आगसि ॥ १९९ ॥—एनः ॥ १९९ ॥

रिचेर्धने घिच्च ॥ २०० ॥—रेक्णः ॥ २०० ॥

---

१९५. श्रीयत आश्रीयते तत् शिरः, मस्तकम् [वा], शिरसी, शिरांसि ॥

१९६. स्वाङ्ग इत्यनुवर्त्तते । ऋच्छति प्राप्नोति येन तत् उरः, हृदयस्थानं वा । पिच्छादित्वाद् (द्र०–अ०५।२।१००) इलच् । 'बहूरोऽस्यास्तीति 'उरसिलः' ॥

१९७. ऋच्छति प्राप्नोति दुखं येन तत् अर्शः, गुदरोगो वा । अर्शोऽस्यास्तीति 'अर्शसः' पुमान् । अर्शआदिभ्योऽच् [अ० ५ । २ । १२७] इत्यच् ॥

१९८. अर्तेरित्येव । ऋच्छति गच्छतीति अर्णः जलम् । अर्णोऽस्मिन्नस्तीति 'अर्णवः' समुद्रः । वप्रत्यये सलोपः[2] ॥

१९९. ईयते प्राप्यते दुःखमनेन तद् एनः, पापं वा ॥

२००. रिणक्ति व्ययं करोति यत् तत् रेक्णः, सुवर्णं वा । घित्त्वात् कुत्वम्[3] ॥

---

१. महत्त्वर्थे बहुशब्दः, न तु संख्याबहुत्वे । तेन महोरस्क उरसिल उच्यते ।

२. 'अर्णसो लोपश्च' (अ० ५।२।१०९) इति वार्तिकेन वप्रत्ययः सकारलोपश्च ।

३. 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' (अ० ७।३।५२) इत्यनेन ।

चायतेरन्ने ह्रस्वश्च ॥ २०१ ॥—चनः ॥ २०१ ॥

वृङ्शीङ्भ्यां रूपस्वाङ्गयोः पुट् च ॥ २०२ ॥—वर्पः । शेपः ॥ २०२ ॥

[1]स्रुरीभ्यां तुट् च ॥ २०३ ॥—स्रोतः । रेतः ॥ २०३ ॥

पातेर्बले जुट् च ॥ २०४ ॥—पाजः ॥ २०४ ॥

उदके थुट् च ॥ २०५ ॥—पाथः ॥ २०५ ॥

अन्ने च ॥ २०६ ॥—पाथः ॥ २०६ ॥

---

२०१. [2]चाय्यते पूज्यतेऽनेन तत् **चनः**[3], भक्तम् [वा]। प्रत्ययस्य नुडागमे सति यलोपो[4] ह्रस्वश्च ॥

२०२. व्रियते स्वीक्रियते तत् **वर्पः**, रूपम् [वा] । शेते येन तत् **शेपः**, लिङ्गेन्द्रियं वा । अकारान्तोऽपि मेढ्रवाची[5] 'शेप' शब्दो दृश्यते । शुनः इव शेपोऽस्य स 'शुनःशेपः' मुनिः । षष्ठ्या अलुक्[6] ।

बाहुलकात्—वर्णव्यत्यये **वर्फः**; **शेफः** इत्यपि सिद्धम् ॥

२०३. स्रवति चलतीति **स्रोतः**, स्रवतो जलक्षरणं वा । रीयते स्रवतीति **रेतः**, वीर्यं वा ॥

२०५. पाति रक्षतीति **पाजः**, बलं वा ॥

२०५. पातेरेव । पातीति **पाथः** जलम् ॥

२०६. थुट् । पाति रक्षतीति **पाथः** भक्तम् ॥

---

१. गैयमुद्रितेषु षष्ठव्यतिरिक्तसंस्करणेषु 'स्रुरिभ्यां' इत्यपपाठः ।

२. गैयमुद्रिते 'चायते' इत्यपपाठः, 'पूज्यते' इति कर्मणि प्रयोगात् ।

३. अस्यैव णत्वे चणः, चना इति भाषायां प्रसिद्धमन्नम् । हेमचन्द्राचार्यस्तु 'चायेर्नो ह्रस्वश्च वा' (उ० ९५७, पृष्ठ १५३) इति ह्रस्वं विकल्पयन् 'चणः चाणः' द्वौ शब्दौ व्युत्पादयांचकार । तद्वृत्तौ च 'बाहुलकाण्णत्वम्' इत्युक्त्वा णत्वं नेच्छन्त्येके — 'चनः' इति व्यालिलेख ।

४. 'लोपो व्योर्वलि' (अ० ६।१।६४) इत्यनेनेति शेषः ।

५. अस्यैवाथर्वणि (४।४।१) 'शेपहर्षणीम्' प्रयोगो दृश्यते । अथर्वप्रातिशाख्ये (३।१।१०) तु विसर्जनीयरूपस्य सकारस्य लोपो विहितः ।

६. 'शेपपुच्छलाङ्गूलेषु शुनः संज्ञायां षष्ठ्या अलुग् वक्तव्यः' (अ० ६।३।२०) इति वार्तिकेनेति शेषः ।

अदेर्नुम्धौ[1] च ॥ २०७ ॥—अन्धः ॥ २०७ ॥

स्कन्देश्च स्वाङ्गे ॥ २०८ ॥—स्कन्धः ॥ २०८ ॥

आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट् च वा ॥ २०९ ॥—अप्नः; अपः । आपः ॥ २०९ ॥

रूपे जुट् च ॥ २१० ॥—अब्जः ॥ २१० ॥

उदके नुम्भौ च ॥ २११ ॥—अम्भः ॥ २११ ॥

---

२०७. 'अन्ने' इत्यनुवर्त्तते । अद्यते भक्ष्यते तद् **अन्धः**[1], अन्नमोदनो वा ॥

२०८. स्कन्दते गच्छति चेष्टते शुष्यति वा येन तत् **स्कन्धः**, बाहुमूलं वृक्षावयवो वा । [2]अकारान्तोऽप्ययम् ॥

२०९. आप्यते सुखं येन तत् **अप्नः**[3]; **अपः**[4], अपत्यं [5]सुकर्म वा । ह्रस्वस्यापि विकल्पे—'**आपः**' इत्यपि भवति । '**आपोभिर्मार्जनं कृत्वा**[6]' इत्यादिसत्प्रयोगदर्शनात् ॥

२१०. आप इत्येव । आप्यते यत् तद् **अब्जः** रूपम्; अद्भ्यो जात इति निर्वचने **अब्जः** कमलं वा ॥

२११. आप इत्येव । आप्यते तत् **अम्भः** उदकम् । अम्भसा वर्त्तते

---

१. 'अदेर्धातोर्नुमागमो धकारश्चान्तादेशः' इति तात्पर्यम् । भट्टभास्करस्तु तैत्तिरीयसंहिताभाष्ये (१।५।६, भाग २, पृष्ठ १७५ मैसूर सं०)—'अदेर्नुम्भश्च' इति सूत्रपाठमुद्धृत्य 'अम्भः' पदं व्याचख्यौ । प्रकृतोणादिपाठे 'उदके नुम्भौ च' इत्युत्तरसूत्रेण (४।२११) 'अम्भः'शब्दो निरुक्तः ।

२. वैयमुद्रिते 'दकारान्तो०' इत्यपपाठः । 'स्कन्धशब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति' इत्युज्ज्वलदत्तवृत्तिरत्रानुसंधेया ।

३. निघण्टौ (२।२) 'अप्नः' इत्यपत्यनामसु पठ्यते ।

४. निघण्टौ (२।१) 'अप्नः अपः' इत्युभौ कर्मनामसु पठितौ ।

५. कर्मग्रहणं सूत्र उपलक्षणार्थमतन्त्रं वा । तेनापत्येऽपि 'अप्नः' सिद्ध्यति । भोजराजस्तु कर्मग्रहणं न करोति (द्र०—सरस्वतीकण्ठाभरण (२।१।३४०) ।

६. अनुपलब्धमूलमिदम् । वैयमुद्रिते 'कृत्वा'पदं नास्ति ।

नहेर्दिवि भश्च ॥ २१२ ॥—नभः ॥ २१२ ॥

इण आगोऽपराधे च ॥ २१३ ॥—आगः ॥ २१३ ॥

अमेर्हुक् च ॥ २१४ ॥—अंहः ॥ २१४ ॥

रमेश्च ॥ २१५ ॥—रंहः ॥ २१५ ॥

[1]देशे ह च ॥ २१६ ॥—रहः ॥ २१६ ॥

अञ्च्यञ्जियुजिभृजिभ्यः कुश्च ॥ २१७ ॥—अङ्कः । अङ्गः । योगः । भर्गः ॥ २१७ ॥

इति 'आम्भसिकः[2]' मत्स्यः ॥

२१२. नह्यति घर्मं बध्नातीति **नभः**, मेघधूल्यादियुक्त आकाशः श्रावणमासो[3] वा; नभोऽस्मिन् शुद्धमस्तीति '**नभस्यः**[4]' भाद्रो[3] मासः ॥

२१३. ईयते प्राप्यते ज्ञायते वा तत् **आगः**, अपराधो दण्डो वा ॥

२१४. अमन्ति प्राप्नुवन्ति दुःखं येन तत् **अंहः**, पापं वा ॥

२१५. चात् हुक् । रमते येन तत् **रंहः**, वेगो वा ॥

२१६. चाद् रमेरसुन् [हकारश्चान्तादेशः]। रमन्तेऽस्मिन्निति **रहः**, एकान्तो विश्वासदेशो वा; रह एकान्ते भवं '**रहस्यम्**[5]' वेदान्तं वा । देशादन्यत्र '**रहः**' अव्ययं शब्दान्तरं वास्ति । **रहो** मैथुनसमयस्तत्र भवं '**रहस्यम्**' मैथुनम् । दिगादित्वाद् (द्र०—अ० ४।३।५४) यत् ॥

२१७. अञ्चति गच्छति येन तत् **अङ्कः**, सङ्ख्याद्योतकं चिह्नं वा । अनक्ति व्यक्तीकरोतीति **अङ्गः**, पक्षी वा । अवयवे '**अङ्ग**'शब्दोऽदन्तः । युज्यते स **योगः**, समाधिः कालो वा । भर्जति पक्वं भवतीति **भर्गः**, प्रजापतिः तेजो वा ।

---

१. गैयमुद्रिते 'देशेऽह च' इत्यपपाठः ।

२. 'ओजःसहोम्भसा वर्तते' (अ० ४।४।२७) इति ठक् ।

३. 'नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू' (यजुः १४।१५) ।

४. 'मत्वर्थे मासतन्वोः' (अ० ४।४।१२८) इति यत् ।

५. 'दिगादिभ्यो यत्' (अ० ४।३।५४) इति यत् ।

भूरञ्जिभ्यां कित् ॥ २१८ ॥—भुवः । रजः ॥ २१८ ॥

वसेर्णित् ॥ २१९ ॥—वासः ॥ २१९ ॥

चन्देरादेश्च छः ॥ २२० ॥—छन्दः ॥ २२० ॥

पचिवचिभ्यां सुट् च ॥ २२१ ॥—पक्षः । वक्षः ॥ २२१ ॥

बाहुलकात्—उच्यते यत्र तत् ओकः, स्थानं वा । न्यङ्क्वादित्वात्[1] कुत्वम् ॥

२१८. भवन्ति यस्मिन्निति भुवः, अन्तरिक्षं वा । रजति तत्[2] रजः, लोकः[3] सूक्ष्मधूलिः स्त्रीपुष्पं गुणो वा । [4]अकारान्तश्च ['रज'[5] शब्दः] ॥

२१९. वस्त आच्छादयति शरीरादिकमनेन तत् वासः, वस्त्रं वा । असुनो णिद्वद्भावाद् वृद्धिः ॥

२२०. चन्दति ह्लष्यति येन दीप्यते वा तत् छन्दः, गायत्र्यादि कपट-मिच्छाऽभिप्रायो वशो वा । 'छन्दानुवृत्तिः' इत्यादिप्रयोगदर्शनादकारान्तो-ऽप्ययं शब्द इति मन्तव्यम् ॥

२२१. पचतीति पक्षः, पूर्वोत्तरपक्षौ वा । वक्ति येन तद् वक्षः, हृदयं वा ॥

---

१. न्यङ्क्वादीनाम् (द्र०—अ० ७।३।५३) आकृतिगणत्वाद् इति भावः । वस्तुतोऽत्रैव सूत्रे 'कुश्च' इति वचनात् कुत्वं सुवचम् । कुत्वं गुणः' इत्युज्ज्वलदत्तः । 'ओक उचः के' (अ० ७।३।६४) इति निपातनाद् 'ओक'शब्दोऽदन्तोऽपि । दिवि ओको येषां ते 'दिवौकसः' देवाः=रश्मयः । एवं 'जलौकसः' 'जोंक' इति भाषायां प्रसिद्धः क्षुद्रप्राणी ।

२. 'रजः'शब्दो भीमादिगणे (द्र०—अ० ३।४।७४) पठ्यते । तेनापादाने प्रत्ययः—रजत्यस्मादाकाश इति रजो धूलिः । बाहुलकात् कारकान्तरेऽपि साधुः ।

३. निरुक्ते (४।१९) रजःशब्दस्य ज्योतिः उदकं लोका असृगहनी इत्येतेऽर्था उक्ताः ।

४. वैयमुद्रितेषु १-४ संस्करणेषु 'आकारान्तश्च' इत्यपपाठः ।

५. द्र०—'अर्थाः पादरजोपमाः' इति कस्यचित् प्रयोगः ।

वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि ॥ २२२ ॥—वक्षाः । हासाः । धासाः ॥ २२२ ॥

इणश्चासिः ॥ २२३ ॥—अयाः ॥ २२३ ॥

मिथुनेऽसिः 'पूर्ववच्च सर्वम्[1] ॥ २२४ ॥—सुपयाः । सुयशाः ॥ २२४ ॥

नञि हन एह च ॥ २२५ ॥—अनेहाः ॥ २२५ ॥

विधाञो वेध च ॥ २२६ ॥—वेधाः ॥ २२६ ॥

---

२२२. सुट्[2] । वहति भारमिति **वक्षाः**, अनड्वान् वा । हीयते हीनो भवतीति **हासाः**, चन्द्रमा वा । दधातीति **धासाः**, पर्वतो वा ॥

२२३. एति प्राप्नोतीति **अयाः**, अग्निर्वा । **स्वरादित्वात्** (द्र०–अ० १।१।३६) अव्ययम् । अत एव[3] दीर्घादिरासिः प्रत्ययः ॥

२२४. [4]यत्रोपसर्गो धातुक्रियया संयुक्तस्तन्मिथुनम् । तत्र सति येभ्यो धातुभ्योऽसुन् विधीयते तेभ्यः सर्वेभ्योऽसिरेव स्यात् । [पूर्ववच्च सर्वमिति वचनात् प्रकृतिप्रत्ययेयोग आगमादेशाश्च पूर्ववदेव द्रष्टव्याः ।] स्वरभेदार्थं सूत्रमिदम् । **सुपयाः**, **सुतपाः**, [5]**सुयशाः**, **न्योजाः**, **सुजवाः**, **सुस्रोताः** इत्यादयो द्रष्टव्याः ॥

२२५. न हन्यते विच्छिन्नो न भवतीति **अनेहाः**, कालो वा; **अनेहसौ**, **अनेहसः** ॥

२२६. विशेषेण दधातीति **वेधाः**, विद्वान् विधाता जगदीश्वरो वा; **वेधसौ**; **वेधसः**; **वेधसम्** ॥

---

१. वैयमुद्रिते 'पूर्ववच्च सर्वम्' इति पाठो नोपलभ्यते । सर्वत्रास्य दर्शनादिहाप्यावश्यकः पाठः ।

२. वेदभाष्यकारा अस्मिन् सूत्रे सुड्ग्रहणं नानुवर्तयन्ति । तेन वाहः, हायः ('भा' पाठान्तरे–भायः), धायः पदानि साधयन्ति । तथाहि—'विश्वधायाः—वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसीत्यसुन् प्रत्ययः, णिदित्यनुवृत्तेर्युक्—धाया' इति भट्टभास्करः (तै० सं० १।१।३ भाग १, पृष्ठ १७ मैसूर सं०] । 'यज्ञवाहसः—वहिहाधा – णिदनुवृत्तेरुपधावृद्धिः' इति सायणः [ऋग्भाष्य १।१६।११] । भट्टोजिदीक्षितः सिद्धान्तकौमुद्यामेतत्सूत्रव्याख्यान इममेव पक्षं सोदाहरणं प्रपञ्चयाञ्चकार ।

३. 'अयाः' अव्ययरूपसिद्ध्यर्थमिति भावः ।

४. अत्र ४।१५३ सूत्रवृत्तेष्टिप्पणी पृष्ठ १४६ टि० २ द्रष्टव्या ।

५. वैयमुद्रिते 'सुपेशाः' इत्यपपाठः । द्र०–सूत्रपाठ उदाहरणम् ।

नुवो धुट् च ॥ २२७ ॥—नोधाः ॥ २२७ ॥

गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वञ्च ॥ २२८ ॥—सुतपाः । जातवेदाः ॥ २२८ ॥

चन्द्रे मो डित् ॥ २२९ ॥—चन्द्रमाः ॥ २२९ ॥

वयसि धाञः ॥ २३० ॥—वयोधाः ॥ २३० ॥

पयसि च ॥ २३१ ॥—पयोधाः ॥ २३१ ॥

पुरसि च ॥ २३२ ॥—पुरोधाः ॥ २३२ ॥

---

२२७. नौति स्तौति नूयते स्तूयते वा स **नोधाः**, ऋषिर्वा ॥

२२८. गतिकारकोपपदाद्धातोरसिः प्रत्ययो भवति, तस्मिन् सति गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । उत्तरपदप्रकृतिस्वरस्यापवादः[1] । गतौ–**सुतपाः**, **सुतेजाः**, **सुवक्षाः** । कारके–**उग्रतेजाः**, **हिरण्यरेताः**, **जातवेदाः**, **सर्ववेदाः**, **विश्ववेदाः**[2] । वृद्धेभ्यः शृणोतीति **वृद्धश्रवाः** । विष्टर आसने शृणोतीति **विष्टरश्रवाः** इत्यादि ॥

२२९. चन्द्रमानन्दं मिमीतेऽसौ **चन्द्रमाः**[3], सोमो वा; **चन्द्रमसौ**, **चन्द्रमसः** ॥

२३०. वयो दधातीति **वयोधाः**, तरुणो वा ॥

२३१. धाञ इत्येव । पयो दधातीति **पयोधाः**, समुद्रो वा मेघविशेषः स्तनो वा ॥

२३२. धाञ इत्येव । पुरोऽग्रे यजमानं दधातीति **पुरोधाः**, पुरोहितो वा ॥

---

१. 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (अ० ६।२।१३८) इत्यनेन प्राप्तस्योत्तरपदप्रकृतिस्वरस्यापवादः ।

२. अयमुत्तरत्र (४।२३६) अपि साध्यते ।

३. पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वमनुवर्तते । तथा सति 'चन्द्रमाः' इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते यन्महाभाष्यकार इमं शब्दं दासीभारादिषु (अ० ६।२।३८) पठति, तेन ज्ञायते पूर्वपदप्रकृतिस्वर इति नानुवर्तते । उत्तरसूत्रेषु निर्दिष्टान्मं वयोधाः पयोधाः पुरूरवा आदिषु उत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वदर्शनात् 'पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं' नानुवर्तते इति ज्ञायते । यद्वा–पूर्वसूत्रेणैव सर्वशब्दानां सिद्धौ पुनर्निर्देशः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वस्य बाधनाय ज्ञेयः ।

पुरूरवाः ॥ २३३ ॥

चक्षेर्बहुलं शिच्च ॥ २३४ ॥—नृचक्षाः ॥ २३४ ॥

उषः किच्च ॥ २३५ ॥—उषः ॥ २३५ ॥

दमेरुनसिः ॥ २३६ ॥—दमुनाः ॥ २३६ ॥

[1]अङ्गिराः ॥ २३७ ॥

---

२३३. पुरु बहु रौत्युपदिशति ब्रवीति वा स **पुरूरवाः**, राजर्षिर्वा ॥

२३४. विशेषेण चष्टेऽसौ **विचक्षाः**, उपाध्यायो वा । नॄन् चष्टे पश्यति ख्याति वा स **नृचक्षाः**, ईश्वरो दुष्टो वा । शित्त्वाभावपक्षे—आचष्टेऽसौ **'आख्याः; प्रख्याः'**, प्रजापतिर्वा ॥

२३५. असिः। ओषति[2] दहतीति **उषः**,कर्णछिद्रं पर्वतभेदः[वा]; स्त्रियां सूर्योदयात् प्राक् प्रभातप्रकाशः **उषाः** वा । उषःकाले बुध्यते इति **'उषर्बुधः'**, अग्निर्बालः संयमी वा । कप्रत्ययान्ताट्टापि कृते **उषा** रात्रिरित्यपि भवति ॥

२३६. दाम्यत्युपशमयतीति **दमुनाः**[3], अग्निर्वा ॥

२३७. अङ्गति प्राप्नोति जानाति वा स **अङ्गिराः**, ईश्वरोऽग्निः[4] ऋषिभेदो वा; तस्यापत्यम् **'आङ्गिरसः'** । असिप्रत्ययस्य [5]इरुडागमः ॥

---

१. गैयमुद्रिते 'अङ्गेरसिः' इति सूत्रपाठः । उणादिकोषस्य हस्तलेखेऽप्ययमेव पाठः । अयं चोज्ज्वलदत्तवृत्तेः पाठः । सूत्रपाठस्तत्रापि 'अङ्गिराः' इत्येव ।

२. उषःशब्दो वश कान्तौ इत्यस्य कान्तिवचनः वसोऽर्थाभावात्, इति स्कन्दस्वामी (ऋग्भाष्य १।६।३) । एतेन स्कन्दस्वामिमते 'वसेः कित्' सूत्रपाठः प्रतिभाति । दशपाद्याम् (६।३) अयमेव पाठ उपलभ्यते । 'वशेः कित्' पाठः साधीयान् इति स्कन्दस्वामिनोऽभिप्रायः ।

३. वेदे 'दमूनाः' इत्युपलभ्यते । दशपाद्याम् (६।६५) 'दमेरूनसिः' इत्येव पाठो दृश्यते । कोशकारा 'दमुनाः दमूनाः' इत्युभौ पठतः (द्र०—अमर १।१।५६, भानुजी दीक्षित टीका) ।

४. जाठरोऽग्निरिति स्कन्दस्वामी (ऋग्भाष्य १।३१।१) ।

५. गैयमुद्रिते 'रूडागमः' इत्यपपाठः । तथा सति प्रयोगो नोपपद्यते ।

[1]अप्सराः ॥ २३८ ॥

विदिभुजिभ्यां [2]विश्वे ॥ २३९ ॥—विश्ववेदाः । विश्वभोजाः ॥ २३९ ॥

वशेः कनसिः ॥ २४० ॥—उशनाः ॥ २४० ॥

इत्युणादिषु चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

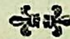
---

२३८. [3]अपसरति विरुद्धं गच्छतीति अप्सराः [विद्युत्[4]] । उपसर्गान्त्यलोपः । अथवाऽप्सु जलेषु प्राणेषु वा सरन्तीति अप्सरसः, किरणा वा; अथवा न प्सान्ति भक्षयन्ति रक्षां कुर्वन्तीति अप्सरसः, प्रत्ययस्यः रुट् [धातोर्ह्रस्वत्वं च] । नित्यवहुवचनान्तः स्त्रीलिङ्गश्च ॥

२३९. विश्वं सर्वं वेत्ति जानातीति विश्ववेदाः, जगदीश्वरो वा; विश्वे विद्यते विश्वं वा विन्दति स विश्ववेदाः, अग्निर्वा । विश्वं भुनक्ति प्रलयसमये कारणरूपेण स्वात्मनि स्थापयति वा विश्वं पालयतीति विश्वभोजाः, ईश्वरो राजा वा ॥

२४०. वष्टि कामयते स उशनाः[5], शुक्रः वारो वा । सम्प्रसारणादिकार्यम् ॥

इत्युणादिव्याख्यायां वैदिकलौकिककोषे चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥



---

१. गैयमुद्रिते 'सर्त्तेरप्पूर्वादसिः' इति सूत्रपाठः । अयमपि पूर्ववदेव उज्ज्वलदत्तवृत्तेः पाठः ।

२. गैयमुद्रिते 'विश्वेऽसिः' इत्यपपाठः । श्वेतवनवासी तु 'दिविभुजिभ्यां विश्वे' इत्युक्त्वा 'विश्वेदेवाः, विश्वेभोजाः' पदौ निरुक्तवान् । 'तत्पुरुषे कृति वहुलम्' इति विभक्तेरलुक्त्वम् ।

३. वैयमुद्रिते 'अप्सरति' इत्यपपाठः, । उत्तरत्रोपसर्गस्यान्त्यलोपस्य निर्देशात् । सायणः 'उणादौ अप इति सौत्रो धातुः, अस्मात् सरसुन् प्रत्ययः' इत्याह धातुवृत्ति सृ गतौ १।६५६ इत्यत्र । तच्चिन्त्यम्, प्रकरणविरोधात् ।

४. विद्युत एष धर्मो यत्सा द्रव्यान्तरेण प्रतिहता परावर्तते । अप्सरसां वहुत्वं यल्लिङ्गानुशासनकृद्भिरुक्तं, तत्प्रायिकं ज्ञेयम् ।

५. गैयमुद्रिते 'शुक्रवारो' इत्यपपाठः । शुक्रः=शुक्राचार्यः, वारः=शुक्रवारः ।

[अथ पञ्चमपादारम्भः]



'अदिभुवो डुतच् ॥ १ ॥—अद्भुतम् ॥ १ ॥

गुधेरूमः ॥ २ ॥—गोधूमः ॥ २ ॥

मसेरूरन् ॥ ३ ॥—मसूरः ॥ ३ ॥

स्थः किच्च ॥ ४ ॥—स्थूरः ॥ ४ ॥

पातेरतिः ॥ ५ ॥—पातिः ॥ ५ ॥

---

१. अदित्यव्ययं कदाचिदर्थे। अद् भवतीति अद्भुतम् आश्चर्यम्। अद्भुतमधीते, अद्भुताध्यापकः[2] ॥

२. गुध्यति वेष्टयतीति गोधूमः, अन्नविशेषो वा। गोधूमस्य विकारो 'गोधूममयः'[3] ॥

३. मस्यति परिणमतेऽसौ मसूरः, व्रीहिभेदो [वा; स्त्रियां टाप् मसूरा] वेश्या वा ॥

४. तिष्ठतीति स्थूरः, मनुष्यो वा; तस्यापत्यं 'स्थौर्य्यः'[4] ॥

५. पाति रक्षतीति पातिः स्वामी; 'सम्पातिः' पक्षिराजो वा ॥

---

१. ऋग्भाष्यटीकायां जयतीर्थः 'अदिभूभ्यां डुतच्' इति सूत्रपाठमाह (ऋग्भाष्य-टीका, पत्रा २ ख)। एतस्य व्याख्यायां नृसिंहदेव आह- 'कथं धातुसमुदायात्, प्रत्ययस्योदाहरणमिति वाच्यम्? प्रसिद्धार्थकपदस्यैव सूत्रेपूपपदत्वदर्शनात्, 'अद्' शब्दार्थस्य विशेषेप्रयोगादर्शनात्, उपपदत्वाभावात्……अदि भुवः इत्यपपाठः एव'। (छलारी टीका, पत्रा ५ ख) इति।

२. उपपदसमासः। मयूरव्यंसकादित्वात् (अ० २।१।७१) समासः इत्युज्ज्वलदत्तः। यद्वा अद्भुतश्चासावध्यापकश्च समानाधिकरणः समासः।

३. मयड्वैतयार्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः (अ० ४।३।१४१) इत्यनेन मयट् प्रत्ययः।

४. गर्गादिगणे (अ० ४।१।१०५) 'स्थूण' शब्दस्य 'स्थूर' पाठभेदेन यञ् प्रत्ययः।

वातेर्नित् ॥ ६ ॥—वातिः ॥ ६ ॥

अर्त्तेश्च ॥ ७ ॥—अरतिः ॥ ७ ॥

तृहेः क्नो हलोपश्च ॥ ८ ॥—तृणम् ॥ ८ ॥

वृञ्लुठितनिताडिभ्य उलच् तण्डश्च ॥ ९ ॥—तण्डुलाः ॥ ९ ॥

दंसेष्टटनौ न आ च ॥ १० ॥—दासः ॥ १० ॥

दंशेश्च ॥ ११ ॥—दाशः ॥ ११ ॥

उदि चेर्डैसिः । १२ ॥—उच्चैः ॥ १२ ॥

नौ दीर्घश्च ॥ १३ ॥—नीचैः ॥ १३ ॥

सो रमेः क्तो दमे पूर्वपदस्य च दीर्घः ॥ १४ ॥—सूरतः ॥ १४ ॥

---

६. वाति गच्छतीति **वातिः**, सूर्यश्चन्द्रो वा ॥

७. अर्यते गम्यते सा **अरतिः**, उद्वेगो वा ॥

८. तृह्यते हन्यते तत् **तृणम्** प्रसिद्धमेव ॥

९. व्रियन्ते लुठ्यन्ते तन्यन्ते ताड्यन्ते वा ते **तण्डुलाः**, प्रसिद्धा वा । वृञादीनां स्थाने तण्डादेशः ॥

१०. दंसयति दशति पश्यति वा स **दासः**, सेवकः शूद्रो वा । टित्त्वान् [द्र०—अ० ४।१।१५] ङीप् '**दासी**' । नकारस्याकारः । नित्करणं पक्ष आद्युदात्तार्थम् ॥

११. टटनौ नकारस्य चात्त्वम् । दशति मत्स्यादिकमिति **दाशः** धीवरः । स्त्रियां '**दाशी**' धीवरी ॥

१२. उच्चीयते वर्ध्यतेऽसौ **उच्चैः**, महान् वा । स्वरादित्वाद् (अ० १।१।३६) अव्ययम् ॥

१३. चेरित्येव । निचीयत इति **नीचैः**, अधोऽधमो वा । अस्यापि स्वरादित्वात् (अ० १।१।३६) एवाव्ययत्वम् ॥

१४. सुष्ठु रमत इति **सूरतः**, उपशान्तः कृपालुर्वा । दमार्थादन्यत्र '**सुरतः**' क्रीडायुक्तः ॥

पूञो यण् णुग्ध्रस्वश्च ॥ १५ ॥—पुण्यम् ॥ १५ ॥

स्रंसेः शिः कुट् किच्च ॥ १६ ॥—शिक्यम् ॥ १६ ॥

अर्त्तेः क्युरुच्च ॥ १७ ॥—उरणः ॥ १७ ॥

हिंसेरीरन्नीरचौ ॥ १८ ॥—हिंसीरः ॥ १८ ॥

उदि दृणातेरलचौ पूर्वपदान्त्यलोपश्च ॥ १९ ॥—उदरम् ॥ १९ ॥

---

१५. पवते पवित्रो भवति येन तत् पुण्यम्[1], सुकृतो धर्मो वा ॥

१६. स्रंसते गच्छतीति शिक्यम्, काचः 'छींका' इति प्रसिद्धः । तत्र धृतं वस्तु 'शैक्यम्'[2] ॥

१७. ऋच्छति गच्छतीति उरणः[3], मेषो वा ॥

१८. हिनस्तीति हिंसीरः, व्याघ्रो दुष्टो वा । [ईरन्[4]; ईरच्] प्रत्ययद्वयं स्वर-भेदार्थम् ॥

१९. उद् दृणाति येनान्नमिति उदरम्, कुक्षिस्थानम् । प्रत्यभेदोऽत्रापि स्वरभेदार्थः ॥

---

१. 'पूञो यण्णुट् ह्रस्वश्च' इति पञ्चपाद्यां क्वाचित्कः, दशपाद्यां च पाठ उपलभ्यते । तत्र णुट् टित्त्वात् प्रत्ययस्यादौ भवति । ह्रस्वविधान सामर्थ्याच्च गुणो न भवति । यदि ह्रस्वत्वे कृतेऽपि गुण स्यात्तर्हि दीर्घोकारस्यापि गुणे सत्त्वे तदेव रूपं स्यात्, ह्रस्वविधानं चानर्थकं भवेत् । यथा त्वत्र पाठस्तथा णुको कित्त्वात् धातोरन्ते भवति । ह्रस्वत्वे कृते नात्र गुणनिषेधः सम्भवति । यतो हि ह्रस्वत्वे कृते एव लघूपधः सम्पद्यते । तदुक्तम्—'यस्य तु विधेर्निमित्तं नासौ वचनसामर्थ्याद् बाध्यते' (द्र०—परिभाषा संग्रह पृष्ठ २३, ६३ इत्यादि) इति । तस्माण्णुक्पक्षे बाहुलकाद् गुणाभाव एषितव्यः । एवं च कृत्वा 'णुट्' पाठ एव साधीयान् । पुण कर्मणि शुभे (धातु० ६।४५) इत्यस्मात् 'तकिशसिचतियतिजनीनामुपसंख्यानम्' (अ० ३।१।९७) इत्यस्योपलक्षणार्थत्वाद् यति प्रत्ययेऽपि रूपं सिध्यति ।

२. 'तत्र भवः' (अ० ४।३।५३) इत्यण् ।

३. पञ्चपाद्यां क्वचिद् 'क्यु जुच्च' पाठः, दशपाद्यां (५।६३) 'क्यु नुच्च' । क्यु-प्रत्यये उरणशब्दो मध्योदात्तः स्यात्, क्युचि अन्तोदात्तः, क्युनि त्वाद्युदात्तः । वेदे (द्र०—ऋ० २।१४।४) उरणस्याद्युदात्तत्वदर्शनाद् दशपादी पाठ एव युक्तः ।

४. सूत्रे 'ईरन्नीरचौ' इत्यत्र सांहतिको नुडागमः । क्वचिद् 'ईरनीरचौ' इत्येक-नकारवानपि पाठः ।

डित्खनेर्मुट् चोदात्तः ॥ २० ॥—मुखम् ॥ २० ॥

अमेः सन् ॥ २१ ॥—अंसः ॥ २१ ॥

मुहेः खो मूर्च ॥ २२ ॥—मूर्खः ॥ २२ ॥

नहेर्हलोपश्च ॥ २३ ॥—नखः ॥ २३ ॥

शीङो ह्रस्वश्च ॥ २४ ॥—शिखा ॥ २४ ॥

माङ ऊखो मय च ॥ २५ ॥—मयूखः ॥ २५ ॥

---

२०. खनेरलचौ । तयोर्डित्त्वं धातोर्मुडागमश्च । 'तस्योदात्तत्वम् । खनत्यन्नादिकमनेनेति मुखम् आस्यम्; मुखे भवो 'मुख्यः' रोगः । शरीरावयवाद्यत् [५।१।६] । मुखमिवोत्तमं मुख्यम् शाखादित्वात् [द्र०-अ० ५। ३ । १०३] इवार्थे यत्' ॥

२१. अमति गच्छति प्राप्नोति येन स अंसः, स्कन्धो विभागो वा; अंसोऽस्यास्तीति 'अंसलः'[3] ॥

२२. मुह्यति विक्षिप्त इव भवतीति मूर्खः; मूर्खस्य भावो 'मौर्ख्यं'[4]; मूर्खिमा वा । बाहुलकात् खस्येनादेशाभावः[5] ॥

२३. नह्यति बध्नाति रुधिरादिकमिति नखः, प्राण्यङ्गं[6] वा ॥

२४. खः । शेतेऽसौ शिखा, चूडा केशभेदो ज्वाला वा । ह्रस्वविधानसामर्थ्याद् गुणाऽभावः ॥

२५. मिमीते मान्यहेतुर्भवतीति मयूखः, किरणः कान्तिः करो ज्वाला वा ॥

---

१. तस्य मुट इत्यर्थः । उदात्तत्वविधानसामर्थ्यदिव उकारलोपो न भवत्यननुनासिकत्वाद्वा ।

२. वैयमुद्रिते 'यः' इत्यपपाठः । एवमेवापपाठ उत्तरत्र ५।३२ सूत्रवृत्तावपि ।

३. 'वत्सांसाभ्यां कामबले' (अ० ५।२।९८) इत्यनेन लच् ।

४. 'वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च' (अ० ५।१।१२२) इत्यनेन ष्यञ् ।

५. 'आयनेयीनीयियः०' (अ० ७।१।२) इत्यादिना प्राप्तस्येति भावः ।

६. अवयववाच्ययमङ्गशब्दः, न तु वैयाकरणानां अद्रवं मूर्तिमत्स्वाङ्गम्......' (महा० ४।१।५४) इति पारिभाषिकम् ।

कलिगलिभ्यां फगस्योच्च ॥ २६ ॥—कुल्फः । गुल्फः ॥ २६ ॥

स्पृशेः श्वण्शुनौ पृ च ॥ २७ ॥—पार्श्वः । पर्शुः ॥ २७ ॥

श्मनि श्रयतेर्डुन् ॥ २८ ॥—श्मश्रु ॥ २८ ॥

अश्नादयश्च ॥ २९ ॥ अश्रु ॥ २९ ॥

जनेष्टन् नलोपश्च ॥ ३० ॥—जटा ॥ ३० ॥

अच् तस्य जङ्घ च ॥ ३१ ॥—जङ्घा ॥ ३१ ॥

हन्तेः शरीरावयवे द्वे च ॥ ३२ ॥—जघनम् ॥ ३२ ॥

---

२६. कलति संख्यातीति **कुल्फः**, शरीरावयवो रोगो वा । गलति भक्षयतीति **गुल्फः**, पादग्रन्थिर्वा ।

२७. स्पृशति येन स **पार्श्वः**, कक्षयोरधोभागो वा । **पर्शुः**, आयुधं वा ॥

२८. श्मनि[1] मुखे श्रयतीति **श्मश्रुः**, पुरुषमुखरोमाणि वा; **श्मश्रुणी**, **श्मश्रूणि** ॥

२९. अश्नुते व्याप्नोतीति **अश्रु**, नेत्रजलं वा । डुन्प्रत्ययो रुडागमश्च। एवमन्येऽपि यथायोग्यं द्रष्टव्याः ॥

३०. जायतेऽसौ **जटा**, दीर्घाः केशा वा; जटा अस्य सन्तीति **'जटालः'**, सिध्मादित्वाद् [द्र०–अ० ५।२।९७] लच्; **'जटिलः'** पिच्छादित्वाद् [द्र०–अ० ५।२।१००] इलच् ॥

३१. तस्य जनेः । जायतेऽसौ **जङ्घा**, जानोरधोभागो वा ॥

३२. हन्ति येन यद् वा हन्यते तत् **जघनम्**, जानोरुपरिभागो वा । इवार्थे शाखादित्वाद् [द्र०–अ० ५।३।१०३] यत्[2]—जघनमिव **'जघन्यं'** नीचम् ॥

---

१. श्मन् शब्दः शरीरवाची । द्र० – निरुक्त ३।५॥

२. वैयमुद्रिते 'यः' इत्यपपाठः । एवमेवापपाठः पूर्वत्र ५।२० वृत्तावपि ।

क्लिशेरन् लो लोपश्च ॥ ३३ ॥—केशः ॥ ३३ ॥

फलेरितजादेश्च पः ॥ ३४ ॥—पलितम् ॥ ३४ ॥

कृत्रादिभ्यः संज्ञायां वुन् ॥ ३५ ॥— करकः । कटकः । नरकम् । [सरकम । अलकम् ।] कोरकः ॥ ३५ ॥

चीकयतेराद्यन्तविपर्ययश्च ॥ ३६ ॥—कीचकः ॥ ३६ ॥

पचिमच्योरिच्चोपधायाः ॥ ३७ ॥ - पेचकः । मेचकः ॥ ३७ ॥

जनेररष्ठ च ॥ ३८ ॥—जठरम् ॥ ३८ ॥

---

३३. क्लिश्यति येन स **केशः**, [1]शिरलोमानि वा; केशा अस्य सन्तीति 'केशवः; केशिकः; केशी'[2] ॥

३४. फलति निष्पन्नं पक्वमिव भवतीति **पलितम्**, [3]केशश्वैत्यं वा । फस्य पः ॥

३५. करोतीति **करकः**; करका, वृष्टिपाषाणो वा । **करको**, दाडिमः कमण्डलुर्वा । कटति वर्षत्यावृणोति वा स **कटकः**, बाहुभूषणं शिखरो वा । नृणाति नयतीति **नरकम्**, पापभागो वा । सरति गच्छतीति **सरकम्**, गमनं वा । अलति भूषितो भवतीति **अलकम्**, शीतादिकं वा; अलति वारयति येभ्यस्ते **अलकाः**, कुटिलाः[4] केशा वा । [कुरति शब्दयतीति] **कोरकः** कलिका, 'कली' इति प्रसिद्धा ॥

३६. चीकयते सहतेऽसौ **कीचकः**, वंशभेदो[5] वा ॥

३७. पचतीति **पेचकः**, उलूकपक्षी वा । मचते शब्दयतीति **मेचकः**, कृष्णवर्णो मयूरपक्षचिह्नं वा ॥

३८. जायतेऽस्मादिति **जठरम्**, उदरं कठिनं वा ॥

---

१. शिरशब्दोऽकारान्तोऽपि ।

२. 'केशाद्वोऽन्यतरस्याम्' (अ० ५।२।१०९)इति वः । अन्यतरस्याम् ग्रहणाद् इनिठनौ समुच्चीयेते । मतुपि 'केशवान्' इत्यपि। तेन चातूरूप्यं भवति ।(द्र०—काशिका)

३. गैयमुद्रिते 'केशश्चैत्यं' इत्यपपाठः ।

४. 'अलकाश्चूर्णकुन्तलाः । इत्यमरवचनस्य (२।६।९६) व्याख्यासुधाटीकायां 'द्वे कुटिलकेशानाम्' इति निर्देश उपलभ्यते ।

५. ये वंशा वायुसंयोगेन शब्दायन्ते ते कीचका इत्युच्यन्ते (द्र०—अमर २।४। १६१) ।

वचिमनिभ्यां चिच्च ॥ ३९ ॥--वठरः । मठरः ॥ ३९ ॥

ऊर्जि दृणातेरलचौ ॥ ४० ॥--ऊर्दरः ॥ ४० ॥

कृदरादयश्च ॥ ४१ ॥--कृदरः । मृदरः । सृदरः ॥ ४१ ॥

हन्तेर्युन्नाद्यन्तयोर्घत्वतत्वे ॥ ४२ ॥--घातनः ॥ ४२ ॥

क्रमिगमिक्षमिभ्यस्तुन् वृद्धिश्च ॥ ४३ ॥--क्रान्तुः । गान्तुः । क्षान्तुः ॥ ४३ ॥

हर्यतेः कन्यन् हिर च ॥ ४४ ॥--हिरण्यम् ॥ ४४ ॥

कृञः पासः ॥ ४५ ॥--कर्पासः ॥ ४५ ॥

---

३९. अन्त्यस्य ठः । वक्तीति **वठरः**, मूर्खो वा । मन्यतेऽसौ **मठरः**, मुनिभेदो मत्तो वा; तस्यापत्यं **'माठरः'**[1]; **माठर्यः**[2]' ॥

४०. ऊर्क् पराक्रमं रसं वा दृणातीति **ऊर्दरः**, शूरो दुष्टो वा । स्वरभेदार्थं प्रत्ययद्वयम् ॥

४१. कृत्स्नं दृणातीति **कृदरः**[3], कुशूलो वा । मृदं दृणातीति **मृदरः**[3], व्याधिर्बिलं वा । सृष्टिं दृणातीति **सृदरः**[3] सर्पः ॥

४२. हन्तीति **घातनः**, मारको वा ॥

४३. क्रामति पादान् विक्षपतीति **क्रान्तुः**, पक्षी वा । गच्छतीति **गान्तुः**, पथिको वा । **'आगान्तुः'** अभ्यागतः । क्षमतेऽसौ **क्षान्तुः**, सहनशीलो वा ॥

४४. हर्यते काम्यते तत् **हिरण्यम्**, सुवर्णं वा ॥

४५. क्रियत उत्पाद्यतेऽसौ **कर्पासः**, सस्यभेदो[4] वा; कर्पासस्य विकारः **'कार्पासम्'** वस्त्रम् । बिल्वादित्वाद् [द्र०—अ० ४।३।१३४] अण् ॥

---

१. 'अनृष्यानन्तर्ये विदादिभ्योऽञ्' (अ० ४।१।१०४) इत्यञ् ।

२. 'गर्गादिभ्यो यञ्' (अ० ४।१।१०५) इति यञ् ।

३. 'कृत्स्न-मृद्-सृष्टि' शब्दानां यथासंख्यं 'कृ-मृ-सृ' आदेशाः । यद् वा कृद् मृद् सृद् शब्देभ्योऽरच् प्रत्ययो द्रष्टव्यः । 'कृ-मृ-सृ' भागादुत्तरस्य लोपः पृषोदरादित्वात् (द्र०—अ० ६।३।१०८) विज्ञेयः ।

४. कर्पासः सस्यभेदः । यस्य तु गुल्फस्य तलत्वं (=रूई) स स्त्रीलिङ्गो वनौषधिवर्गे [ऽमरेण] पठितः—कर्पासी बदरेति (अमर २।४।११६) इत्युज्ज्वलदत्तः ।

जनेस्तु रश्च ॥ ४६ ॥—जर्त्तुः ॥ ४६ ॥

ऊर्णोतेर्डः ॥ ४७ ॥—ऊर्णा ॥ ४७ ॥

दधातेर्यन्नुट् च ॥ ४८ ॥—धान्यम् ॥ ४८ ॥

जीर्यतेः क्रिन् रश्च वः ॥ ४९ ॥—जिव्रिः ॥ ४९ ॥

---

४६. जायते यत इति जर्त्तुः, उपस्थेन्द्रियं हस्ती वा ॥

४७. ऊर्णोत्याच्छादयति यया सा ऊर्णा, अविमेषयो रोमाणि वा । ऊर्णां याति प्राप्नोति 'ऊर्णायुः', मेषो मेषोर्णाकम्बलो वा । [मृदुत्वाद्] ऊर्णा इव नाभिरस्य स 'ऊर्णनाभः' । समासान्तोऽच्[1]; 'ऊर्णनाभिः'[2] इति वा । समासान्तस्य विधेरनित्यत्वात्[3] । लूताहिर्वा ['मकड़ी' इति प्रसिद्धा]॥

४८. दधाति पुष्णाति लोकानीति धान्यम्, व्रीहिर्वा; धाने पोषणे साधु='धान्यम्' इत्यपि[4] ॥

४९. यो जीर्यति येन वा स जिव्रिः, कालः पक्षी वा । हलि च [अ० ८।२।७७] इति बाहुलकाद्दीर्घाभावः ॥

---

१. 'अच्प्रकरणेनाभेरुपसंख्यानम् इत्यच्' इत्युज्ज्वलदत्तवृत्तिः । तन्न, तादृग्-वचनस्य भाष्यकाशिकादावनुपलम्भात् । अत एव 'ऊर्णनाभ'पदव्याख्याने 'अच्' (अ० ५।४।७५) इति योगविभागादच्' इत्याह भानुजीदीक्षितः (अमरटीका २।५।१३) ।

२. 'ऊर्णनाभ-ऊर्णनाभिः' शब्दयोः 'ङ्यापो संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्' (अ० ६।३।६२) इति पूर्वपदस्य ह्रस्वत्वम् ।

३. 'समासान्तो विधिरनित्यः' (सीरदेव परिभाषावृत्तिः ६३) । 'विभाषा समासान्तो भवति' इति भाष्यकरः (महा० ६।२।१९६) । उज्ज्वलदत्तस्तु 'ऊर्णनाभि'-शब्दस्य चिन्त्यत्वमाह । तदयुक्तम्—'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च' (मुण्डकोप० १।१।७) इति प्रयोगस्याविगीतस्य दृष्टत्वात् ।

४. 'धान्यमसि धिनुहि देवान्'(यजुः १।२०)इति वचनात् धिनोतेरपि धान्यम् । महाभाष्यकारोऽपि 'धिनोतेर्धान्यम्, एते चापि धिनुतः' इत्याह (अ० ५।२।१) । 'धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्' (अ० ५।२।१) इत्यत्र निपातनादन्तस्वरितत्वम् । अव्युत्पत्तिपक्षे 'तिल्यशिक्यकाश्मर्यधान्यकन्याराजन्यमनुष्याणामन्तः' (फिट् सूत्र ४।८) इत्यनेनान्तस्वरितत्वं द्रष्टव्यम् ।

मव्यतेर्यलोपो मश्चाप्तुट् चालः ॥ ५० ॥—ममाप्तालः ॥ ५० ॥

ऋजः कीकच् ॥ ५१ ॥—ऋजीकः ॥ ५१ ॥

तनोतेर्डउः सन्वच्च ॥ ५२ ॥—तितउः ॥ ५२ ॥

अर्भकपृथुकपाका वयसि ॥ ५३ ॥

अवद्यावमाधमार्वरेफाः कुत्सिते ॥ ५४ ॥

लीरीङोर्ह्रस्वः पुट् च तरौ श्लेषणकुत्सनयोः ॥ ५५ ॥—लिप्तम् । रिप्रम् ॥ ५५ ॥

---

५०. मव्यति बध्नातीति **ममाप्तालः**[1], वन्धनहेतुर्विषयो वा ॥

५१. अर्जति गच्छतीति **ऋजीकः**, सूर्यो धूमो वा ॥

५२. तनोति विस्तृणोति येन तत् **तितउः** 'चालनी' पेषणशोधकपात्रम् ॥

५३. ऋध्यति वर्धतेऽसौ **अर्भकः** । 'ऋधु' धातोर्वुन् धस्य भः । प्रथते वर्धते स. **पृथुकः** । कुकन् प्रत्ययः सम्प्रसारणं च । पिवतीति **पाकः**[2] । कन् प्रत्ययः । अर्भकपृथुकपाका वालकपर्यायाः ॥

५४. वदितुमयोग्यम् **अवद्यम्** । नञ्पूर्वाद् 'वद' धातोर्यत् । अवतीति **अवमम्** । अमः प्रत्ययः । तत्रैव वस्य धः=**अधमम्** । ऋच्छति गच्छतीति **अर्वः**[3], वन् । रिफति निन्दतीति **रेफः** । कुत्सितपर्याया इमे ॥

५५. लीयते श्लिष्यत इति **लिप्तम्** श्लिष्टम् । रीयते तत् **रिप्रम्** कुत्सितम् । तरौ प्रत्ययौ पुडागमः ॥

---

१. वैयमुद्रिते सूत्रपाठे 'मश्चापतुट्' उदाहरणे च 'ममापतालः' इत्यपपाठः । स चोज्ज्वलदत्तस्य मुद्रिताया वृत्तेरनुकरणपरः । उज्ज्वलदत्तवृत्तौ 'ममापतालो विपये स्यात्' इति पाठे पादस्य नवाक्षरत्वात् पाठाशुद्धिः स्पष्टैव ।

२. 'यो मा पाकेन मनसा चरन्तम्' (अ० ८।४।८; ऋ० ७।१०४।८) इत्यत्र पवित्रवाची पाकशब्दः श्रूयते । अस्मिन्नेवार्थे पारसीभाषायां 'पाक' शब्द इदानीमपि श्रूयते । तस्मादत्र 'वयसि' ग्रहणमतन्त्रं ज्ञेयम् ।

३. वैयमुद्रिते 'अर्वा अश्वो वा' इत्यपपाठः, । 'कुत्सितपर्याया इमे' इत्यनुपदमुक्तत्वात्, अश्ववाचकस्य अर्वन्पदस्य नान्तत्वाच्च ।

क्लिशेरीच्चोपधायाः कन् लोपश्च लो नाम् च ॥ ५६ ॥—कीनाशः॥ ५६ ॥

अश्नोतेराशुकर्मणि वरट् च ॥ ५७ ॥—ईश्वरः ॥ ५७ ॥

चतेरुरन् ॥ ५८ ॥—चत्वारः ॥ ५८ ॥

प्राततेररन् ॥ ५९ ॥—प्रातः ॥ ५९ ॥

अमेस्तुट् च ॥ ६० ॥—अन्तः ॥ ६० ॥

दहेर्गो ह्लोपो दश्च नः ॥ ६१ ॥—नगः ॥ ६१ ॥

सिचे संज्ञायां हनुमौ कश्च ॥ ६२ ॥—सिंहः ॥ ६२ ॥

---

५६. क्लिश्नातीति कीनाशः, कृषीवलो न्यायाधीशो वा । धातोरुपधाया ईत्वं लकारलोपः कन् प्रत्ययो नामागमश्चान्त्यादचः परः ॥

५७. अश्नुते आशु शीघ्रं करोति जगद्रचयति स ईश्वरः, स्वामी वा । टित्वात् 'ईश्वरी'; 'वरच्' प्रत्यये[1] 'ईश्वरा' ॥

५८. चतते याचतेऽसौ चतुः, संख्यावाची वा । चत्वारः; चतस्रः[2]; [चत्वारि] ॥

५९. प्रकृष्टमतति गच्छतीति प्रातः[3], प्रभातकालो वा । स्वरादित्वाद् [द्र०-अ० १।१।३६] अव्ययम् ॥

६०. अमति गच्छति यत्रेति अन्तः, मध्यं वा । पूर्ववदव्ययम् ॥

६१. दहति दह्यते वा स नगः, पर्वतो वृक्षो वा । [गप्रत्ययो हकारस्य लोपो दकारस्य च नकारादेशः ।] बाहुलकान्नकारस्य नाकारः—नागः, सर्पभेदो वा ॥

६२. सिञ्चतीति सिंहः, प्रसिद्धो वा । [4]धातोर्हकारान्त्यादेशो

---

१. 'स्थेशभासपिसकसो वरच्' (अ० ३।२।१७५) इत्यनेन वरचि, स्त्रियाम् 'अजाद्यतष्टाप्' (अ० ४।१।४) इति टाप् ।

२. स्त्रियां 'चतसृ' आदेशः (द्र०-अ० ७।२।९९) ।

३. 'अरन्'प्रत्यये रेफोत्तरवर्त्यकारोऽपीत्संज्ञकः ।

४. ग्रैयमुद्रिते 'हकारप्रत्ययो नुमागमः, चस्य कः, ककारस्य च लोपः' इत्यपपाठः । कप्रत्ययस्योत्तरसूत्रेऽनुवृत्तिदर्शनात् । हकारप्रत्यये तस्यैवानुवृत्तिः स्यात्, तथा सति 'व्याघ्र' शब्दो न सिद्ध्येत । प्रत्ययस्य कित्वात् तत्राकारलोप इष्टः ।

व्याङि घ्रातेश्च जातौ ॥ ६३ ॥—व्याघ्रः ॥ ६३ ॥

हन्तेरच् घुर च ॥ ६४ ॥—घोरम् ॥ ६४ ॥

क्षमेरुपधालोपश्च ॥ ६५ ॥—क्ष्मा ॥ ६५ ॥

तरतेर्ड्रिः ॥ ६६ ॥—त्रयः ६६ ॥

ग्रहेरनिः ॥ ६७ ॥—ग्रहणिः ॥ ६७ ॥

प्रथेरमच् ॥ ६८ ॥—प्रथमः ॥ ६८ ॥

चरेश्च ॥ ६९ ॥—चरमः ॥ ६९ ॥

नुमागमः कश्च प्रत्ययः; हिनस्तीति 'सिंहः' इति, पृषोदरादित्वाद् [द्र०—अ० ६।३।१०८] अप्याद्यन्तविपर्ययः[1] ॥

६३. विशेषेण समन्ताज्जिघ्रतीति व्याघ्रः, द्वीपी[2] वा ॥

६४. हन्तीति घोरम्[3], भयानकं वा ॥

६५. क्षमते सहते सर्वमिति क्ष्मा, पृथिवी वा ॥

६६. तरतीति त्रिः, संख्यावाची वा; त्रयः; त्रीन्; त्रिभ्यः ॥

६७. गृह्णातीति ग्रहणिः । कृदिकारादक्तिनः (अ० ४।१।४५ गणसूत्र) इति ङीष् 'ग्रहणी', संग्रहणी व्याधिभेदो वा ॥

६८. प्रथते प्रख्यातो भवतीति प्रथमः, आद्य उत्तमो नूतनो वा ॥

६९. चरति गच्छति भक्षयतीति वा स चरमः, अन्त्यः पश्चिमो वा ॥

---

१. द्र०—निरुक्त ३।१८; महाभाष्य ३।१।१२३; काशकृत्स्नधातुपाठे (१।३१६) 'षिहि (=सिंह) हिंसागत्योः' धातुः पठ्यते । तस्मादचि विनाऽऽद्यन्तविपर्ययेणापि सिद्धम् ।

२. गैयमुद्रिते 'हस्ती' इत्यपपाठः । व्याघ्रः=द्वीपी=चित्रकः='चीता' इति भाषायां प्रसिद्धः ।

३. दशपाद्यां 'हन्तेरन् घ च' (८।१०४) इति सूत्रं पठित्वा 'घर'शब्दो गृहवाची व्युत्पाद्यते । क्षीरतरङ्गिण्यां (१०।९८) दुर्गमते 'घर' स्वतन्त्रो धातुरभ्यनुज्ञायते । तस्मादचि 'घर' शब्दः सिध्यति । विशेषोऽस्मदीये 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' नाम्नि ग्रन्थे (भाग १, पृष्ठ ४७ संस्क० ३) द्रष्टव्यः ।

मङ्गेरलच् ॥ ७० ॥—मङ्गलम् ॥ ७० ॥

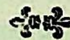
इत्युणादिषु पञ्चमः पादः समाप्तः ॥

मन्थानं विशदं विधाय बहुलं व्युत्पन्नपक्षेन वा
ऽव्युत्पन्नेन दलेन येन विधिवद्वाग्वारिधिर्मन्थितः ।
व्यक्ताव्यक्ततराणि यत्र वचसां रत्नान्यदीप्यन्त वै
भूयात् सोऽयमुणादिरुत्तमगणोऽध्येतुर्यशोवृद्धये ॥

---

७०. मङ्गति प्राप्नोति सुखं येन तत् मङ्गलम् प्रशस्तम्; मङ्गलो वारभेदो वा । मङ्गलस्य भावो 'माङ्गल्यम्'[1] ॥

इति श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीकृतोणादिव्याख्यायां
वैदिकलौकिककोषे पञ्चमः पादः समाप्तः ॥
समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥



---

१. 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' (अ० ५।१।१२३) इति ष्यञ् । मङ्गले साधु=मङ्गल्यम् । 'तत्र साधुः' (अ० ४।४।९८) इति यत् ।

उणादिव्याख्या-विवरणम्

पाणिनीय इतरेषु चोपलभ्यमानेषु व्याकरणतन्त्रेषु **सूत्र-धातु-गण-उणादि-लिङ्गानुशासनाख्याः** पञ्च भागा उपलभ्यन्ते । अत एव **पञ्चाङ्गं व्याकरणम्** इति प्रसिद्धिर्लोके वरीवर्ति । एषु सूत्रपाठो मुख्यो भागः, इतरे च तत्सहायकाः । अत एवैते **'खिल'** नाम्नोच्यन्ते । यद्यप्युणादिप्रकरणं व्याकरणस्य गौणमङ्गम्, तथापि स्वीयशब्दसाधुत्वबोधकाव्याहतशक्त्या विशिष्टं स्थानं लभते । अनयैवाव्याहतशक्त्योणादिसूत्राणि वैदिकशब्दानां व्युत्पत्तौ महत् साहाय्यमाचरन्ति । उणादिसूत्राणामेषा शक्तिर्महाभाष्यकृता पतञ्जलिना **उणादयो बहुलम्** (अ० ३ । ३ । १) सूत्रस्य व्याख्याने विस्तरेण निर्दर्शिता (द्र०—१८१ पृष्ठे पठिताः कारिकाः) ।

यद्यप्युणादिसूत्राणां बह्व्यो व्याख्याः सम्प्रत्युपलभ्यन्ते, तथाऽपि महाभाष्योक्तं नैगमशब्दसाधुत्वबोधनं नाम प्रयोजनं यथाऽस्यां व्याख्यायामादृतं व्याख्याकारेण, न तथाऽन्यासु व्याख्यासूपलभ्यते । एवं चास्या व्याख्याया वैशिष्टयमुपलभ्यास्या विवरणलेखनेऽहं १९९८ वैक्रमाब्दे प्रावर्ते । किन्तु दैवदुर्विपाकेनाहमस्य पूर्णतां न प्राप्नवम् ।

इह तस्यैव विवरणकार्यस्य निदर्शनार्थं प्रथमसूत्रव्याख्याया-विवरणमुत्तरपृष्ठेषु मुद्रयते । इतः कश्चिद् वैयाकरणः प्रेरणां लब्ध्वा कार्यमिदं पूरयेच्चेद् व्याकरणशास्त्रस्य विशेषतो वैदिकवाङ्मयस्य महोपकारः सम्पद्येत ।

विदुषां वशंवदः—
युधिष्ठिरो मीमांसकः

प्रथमं परिशिष्टम्

अथोणादिव्याख्यायाः प्रथमसूत्रस्य विवरणम्

अस्मिन्नुणादिशास्त्रे प्रकृतिप्रत्ययाः प्रायेण समुच्चिताः, न सर्वे। कार्याण्यपि न सर्वाणि निर्दिष्टानि, अशक्यत्वात्। अत इदं शास्त्रं दिङ्मात्र-प्रदर्शनपरम्। अनेन प्रकारेण अनुक्ता अपि लौकिकवैदिकोभयविधाः शब्दा व्युत्पादनीया इति शास्त्रकारस्य निर्णयः। तथा चाहुर्भाष्यकाराः—

बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम्।
कार्यसशेषविधेश्च तदुक्तं नैगमरूढिभवं हि सुसाधु॥
नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।
यन्न पदार्थविशेषसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्॥
संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे।
कार्याद्विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु॥[1]

इम औणादिकाः प्रत्ययाः शब्दानुशासनादन्यत्र पठिता अपि 'उणादयो बहुलम्'[2] इत्येकेनैव सूत्रेण संगृहीताः, यथा 'भूवादयो धातवः[3]' इत्यनेन धातवः। अत एव चेमे शब्दानुशासनस्थां प्रत्ययार्धधातुकादिसंज्ञां णिदादि-कार्यं च लभन्ते।

इह तावद् रूढयोगरूढयौगिकभेदभिन्नेषु शब्देषु औणादिकाः शब्दाः कथंभूता इति विचार्यते—

प्रायेण सर्वे वृत्तिकाराः 'उणादयो बहुलम्'[4] इत्यत्र 'पुवः संज्ञायाम्'[5] इत्यतः संज्ञाग्रहणमनुवर्त्य उणादिप्रत्ययान्ताः संज्ञाशब्दा इति संगिरन्ते। तदयुक्तम्—अस्मिन्नुणादिशास्त्र एव सप्तकृत्वः [6]संज्ञापदनिर्देशात्। यदि हि

---

१. महाभाष्य ३।३।१॥ २. अ० ३।३।१॥ ३. अ० १।३।१॥
४. अ० ३।३।१॥ ५. अ० ३।२।१८५॥
६. पं० उ० २।२३, ३३, ८३, ९५, ११३; ५।३५, ६२॥

सर्वे औणादिकाः संज्ञा शब्दाः स्युस्तर्हि तत्र तत्र संज्ञाग्रहणं [1]शकुन्याद्युपाधिग्रहणं चानर्थकं स्यात्। अत एवोपरिष्टाद्वक्षत्याचार्यः—'अत्र संज्ञाग्रहणेन ज्ञायते उणादयः सामान्यार्थे यौगिका भवन्ति इति, संज्ञायास्तस्मिन्नर्थे रूढत्वात्। यदि च प्रकृतिप्रत्ययविभागेन औणादिकेभ्यो यौगिकार्थो न निस्सरेत्, तर्हि सर्वे उणादिस्थाः शब्दाः संज्ञावाचकाः स्युः, पुनः संज्ञाग्रहणमनर्थकं स्यात्'[2] इति।

उज्ज्वलदत्तस्तूणादौ संज्ञाधिकारमनुवर्त्याऽप्यौणादिकानां प्रायेण यौगिकत्वमातिष्ठते। तथाहि—संज्ञाधिकारे पुनः संज्ञाग्रहणं प्रायेणोणादीनां यौगिकत्वसूचनार्थम्'[3] इति। व्युत्पत्तिसारकारस्तु—'रूढियौगिकाभ्यामुणादौ शब्दाः सिद्ध्यन्ति। यौगिके तु धात्वर्थं प्रति कारकान्वयो भवत्येव'[4] इत्याह।

यत्तु 'उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि'[5] इत्यसकृद् भाष्यवचनं, न तदप्येतेषां रूढित्वज्ञापनायालम्, 'पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति'[6] इति न्यायेन पक्षान्तरमाश्रित्य निदर्शितदोषपरिमार्जनस्यैव तत्र तत्रेष्टत्वात्, 'यानि तर्ह्यग्रहणानि प्रातिपदिकानि? एतेषामपि स्वरवर्णानुपूर्वीज्ञानार्थ उपदेशः कर्तव्यः'[7] इति पस्पशाह्निकस्थस्ववचनविरोधाच्च।

एतेनौणादिकानां प्रायेण यौगिक एव मुख्योऽर्थः, तदुपजीवी च विशेषार्थ इति सिद्धम्। एवं च यत्र संज्ञाग्रहणमुपाधिग्रहणं वा क्रियते तत्रापि बहुलग्रहणाद् यौगिकार्थमाश्रित्य यथासम्भवमन्यत्रापि वृत्तिर्द्रष्टव्या। अत एव पक्षिण्यन्वाख्यातः[8] पतङ्गशब्दोऽश्वे[9] सूर्ये[10] च दृश्यते, अन्नोदकयोर्व्युत्पादितः[11] पाथशब्दोऽन्तरिक्षे[12]ऽपि प्रयुज्यते, कर्माख्यायां[13] च निरुक्तोऽप्नशब्दो निघण्टावपत्यनामसु[14] पठ्यते।

---

१. पं० उ० १।१२७॥ २. एषैव उ० वृ० २।८३, पृष्ठ ७०॥
३. उज्ज्वल० उ० वृ० २।८२, पृ० ८८ ४. व्युत्पत्तिसार ह०ले०पृ० १॥
५. महाभाष्य १।१।६०॥ ६. महाभाष्य 'ऋलृक्' सूत्रम्।
७. महाभाष्य 'अथ शब्दानुशासनम्' सूत्रान्ते॥
८. पं० उ० १।११९॥ ९. निघण्टु १।१४॥
१०. श्वेत० उ० वृ० १।१११, पृ० ४५॥ ११. पं० उ० ४।२०६, २०९॥
१२. काशिका ४।४।१११॥ १३. पं०उ० ४।२०९॥ १४. निघण्टु २।२॥

अपि च—औणादिकानां शब्दानां सूत्रकारैः प्रदर्शितः प्रकृतिप्रत्यय-विभागोऽपि निदर्शनार्थः, नावधारणार्थः। अत एव स्वयं सूत्रकारैरपि दर्वि[1]-नलित[2]तण्डुलादी[3]नि कानिचित् पदान्युणादावेवासकृद् व्युत्पाद्यन्ते। 'अर्थ-नित्यः परीक्षेत'[4] इति न्यायेन यथा यथाऽपि सोऽर्थ उक्तो भवति, तथा तथा व्युत्पादनं न दोषावहम्, एष शास्त्रे सिद्धान्तः। शब्दसाधुत्वान्वाख्याने प्रवृत्ता व्याकरणशास्त्रप्रवक्तारः शब्दसाधुत्वमात्रप्रदर्शनधिया काम्प्येकां व्युत्पत्तिं प्रदर्श्य कृतार्था भवन्तीति नैव बहुधा व्युत्पादयन्ति। नैरुक्तास्त्वर्था-न्वाख्याने प्रवृत्ता, यथा यथाऽपि स शब्दस्तं तमर्थमाह, तथा तथा बहुधा व्यु-त्पादयन्ति, इति नैव नैरुक्तवैयाकरणानां मिथो विरोधः। एतेन 'अर्थनिश्च-याभावप्रयुक्ता विविधा नैरुक्तव्युत्पत्तयः' इति पाश्चात्यानां मतमपि प्रत्युक्तं वेदितव्यम्। तथा चाहुः नैरुक्तिकाचार्याः[5]—'तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकं च'[6] इति। आचार्यभर्तृहरिरप्याह—

अन्वाख्यानानि भिद्यन्ते शब्दव्युत्पत्तिकर्मसु।
बहूनां सम्भवेऽर्थानां निमित्तं किञ्चिदिष्यते॥

निपातनेन लक्षणेन वा क्रियमाणशब्दव्युत्पत्तिकर्मसु बहुधा भिन्ना-न्यन्वाख्यानानि दृश्यन्ते। अनेकशक्तियुक्ते पदे या काचिन्निमित्तभावेना-श्रीयमाणा शक्तिः साधुत्वान्वाख्यानेऽङ्गत्वं प्रतिपद्यते। तद्यथा—'वृञ्लुटि-तनिताडिभ्य उलच् तण्डश्च',[7] शक्यो ह्यन्येभ्योऽपि धातुभ्यः शब्दव्युत्पत्ति-कर्मणि उलच् प्रत्ययो विधातुं तण्डादेशं च कर्त्तुमिति।[8]

कैश्चिन्निर्वचनं भिन्नं गिरतेर्गर्जतेर्गमेः।
गवतेर्गदतेर्वापि गौरित्यत्रानुदर्शितम्॥

यथैव हि गमिक्रिया जात्यन्तरैकार्थसमवायिनीभ्यो गमिक्रियाभ्यो-ऽत्यन्तभिन्ना तुल्यरूपत्वविधौ त्वन्तरेणैव गमिमभिधीयमाना गौरिति शब्द-व्युत्पत्तिकर्मणि निमित्तत्वेनाश्रीयते, तथैव गिरति गर्जति गदति इत्येवं-

---

१. पं० उ० ३।८४; ४।५३॥ २. पं० उ० ३।९२; ५।३४॥

३. पं० उ० ४।१०७; ५।१९॥ ४. निरुक्त २।११॥

५. निरुक्तशब्द उक्थादिषु (अ० ४।२।६०) पठ्यते, ततष्ठक् (द्र०—निरुक्त समुच्चय, मद्रास सं० पृ० ५)। क्वचिदपवादविषयेऽप्युत्सर्गः प्रवर्तत इति न्यायेन नैरुक्त इत्यपि साधुः। ६. निरुक्त १।१५॥

७. पं० उ० ५।१९॥ ८. वाक्यपदीय २।१७१, पृ० ९०, लाहौर संस्क०॥

मादयः साधारणाः सामान्यशब्दनिबन्धनाः क्रियाविशेषास्तैस्तैराचार्यैर्गो-शब्दव्युत्पादनक्रियायां परिगृहीताः। यथा ह्यादित्य इत्येकस्मिन्नेवाम्नाय-वाक्ये तद्धितार्थेनापत्येन संबद्धो दृश्यते, वाक्यान्तरसंबन्धिनि तु तस्मिन्ना-दित्यशब्दे निर्वचनान्तराणि क्रियन्त इति।[१]

अत एव वेदब्राह्मणनिरुक्तादिषूपलभ्यमाना अन्या अपि व्युत्पत्तयोऽत्र यथासम्भवं प्रदर्शयिष्यन्ते।

अधुना प्रकृतमनुसरामः—करोतीति—धातुकारककालानामुपलक्षण-मिदम्। धातोस्तावत् 'कृञ् हिंसायाम्' इति क्रैयादिकस्य, 'कृञ् करणे' भौवादिकस्यापि ग्रहणं भवत्येव विशेषाभावात् 'निरनुबन्धग्रहणे सामान्य-ग्रहणात्' इति हेमचन्द्रः। भ्वादौ कृञ् न दृश्यत इति चेत् न, आचार्यपादैः पूर्वैश्च वैयाकरणैरस्य भौवादिकत्वस्य स्वीकृतत्वात्। तथा चाहुः 'अवरुद्ध-मदीमहि[४]' इति मन्त्रभाष्ये आचार्यपादाः—"डुकृञ् करणे इत्यस्य भ्वादि-गणान्तर्गतपाठात् शब्विकरणोऽत्र गृह्यते,तनादिभिः सह[५] पाठादुविकरणोऽपि। 'कःकरत्करतिकृधिकृतेष्वनदितेः[६]' 'नित्यं करोतेः[७]' एताभ्यां द्वाभ्यां ज्ञाप-काभ्यामुभयगणप्रयोगः कृञ् गृह्यते[८]" इति। अन्येऽप्याहुः—'करोति कृणोति करति वा कारुः[९]' इति दशपादीवृत्तिकारः; 'करोति करति कृणोति वा कारुः[१०]' इत्युणादिवृत्तौ हेमचन्द्रः; 'कृञ् करणे' भ्वादाविति क्षीरस्वामी[११] पुरुषकारे श्रीकृष्णलीलाशुकमुनिश्च[१२]। एवमन्यत्रापि।

यत्तु 'उपो षु शृणुहि'[१३] इति ऋग्व्याख्याने सायण आह—"कःकरत्-करति० इत्यत्र यदाहतुः न्यासकारहरदत्तौ व्यत्ययेन शबिति, तस्मादस्य

---

१. 'अदितेः पुत्र इति वा, अल्पप्रयोगं त्वस्यैतदार्चाभ्याम्नाये सूक्तभाक्' इति निरुक्तम् अत्रानुसन्धेयम् (निरुक्त २।१३)। ऋचाभेन प्रोक्तमधीयते आर्चाभिनः (काशिका ४। ३। १०४) तेषामाम्नायः=आर्चाभ्याम्नायः, निरुक्तटीकाकाराणामत्र व्याख्यानं प्रामादिकम्॥ २. वाक्यपदीय २।१७५, पृ० ६२, लाहौर संस्क०॥

३. हैमोणादिवृत्ति पृ० १॥ ४. यजुः ३।५८॥

५. तनादिकृञ्भ्य उः (अ० ३।१।७९) इति सूत्र इति शेषः। एतेन तनादौ कृञः पाठोऽनार्ष इति ध्वनितः। ६. अ० ८।३।५०॥

७. अ० ६।४।१०८॥ ८. यजुः दया० भाष्य ३।५८॥

९. दश० उ० वृ० १।८६, पृ० ५३॥ १०. हैमोणादिवृत्ति पृ० १॥

११. क्षीरतरङ्गिणी १।६३९। १२. दैवम् पृ० ३४। १३. ऋग्० १।८२।१॥

कृञो धातोर्भूवादौ पाठो नास्तीति गम्यते। किं च यद्ययं पठ्येत करत् इत्येवमादिरूपसिद्धयर्थं 'कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि'[1] इति करोतेरङ्विधानमनर्थकं स्यात, अस्मात् लङि शपि रूपस्य सिद्धिः, लङ्लुङोरर्थभेदात् लुङि एतद्रूपसिद्धये कर्त्तव्यमङ्गविधानमिति चेन्न 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः'[2] इति लुङादीनामेकत्र विधानेन अर्थभेदाभावात् इत्यनेन प्रकारेणास्माभिर्धातुवृत्तौ[3] अयं धातुर्निराकृतः''[4] इति। तत् सर्वथैवाविचारितरमणीयम्, पूर्वैर्धातुवृत्तिकारैः सहविरोधात् स्ववचनविरोधाच्च। तथाहि ऋग्भाष्ये (१। २३।६) 'कृञ् करणे भौवादिकः' इति स्वयमाह। यश्चापि कृञो भौवादिकत्वनिराकरणे हेतुरुक्तः सोऽप्यहेतुरेव। यतो हि कृञो भौवादिकपाठे भाषायामपि करत्यादीनां प्रयोगाणां साधुत्वमुपपद्यते, छन्दसि च विकरणव्यत्ययो न कर्तव्यो भवति। भाषायां करत्यादीनामनुपलम्भादप्रयोग इति चेन्न, देशान्तरे तस्य प्रयोगसम्भवात्। दृश्यते हि देशभेदात् प्रयोगभेदः। यथा शवतेस्तिङङन्तप्रयोगाः कम्बोजेष्वेव भाष्यन्ते, हम्मतेः सुराष्ट्रेषु, रंहतेः प्राच्यमगधेषु[5]। न चार्येष्वेतेषां प्रयोगाणामदर्शनादसाधुत्वं कल्प्यते, एवं करत्यादीनामपि द्रष्टव्यम्। वैयाकरणैस्तु सर्वेषां साधुत्वमन्वाख्यातव्यमेव। प्राकृतभाषायां प्रयुज्यमानाः कृञ्प्रयोगा अपि कृञो भौवादिकत्वे लिङ्गम्।[6] अपि च शब्विकरणस्य कृञो वैदिकवाङ्मये प्राचीनव्याकरणग्रन्थेषु च बहवः प्रयोगा दृश्यन्ते। यत्तु कृञो भौवादिकत्वेऽङ्विधानमनर्थकमिति, तदपि न, 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः'[7] इत्यत्र धातुसम्बन्धस्यानुवृत्तेरधातुसम्बन्धेऽप्यकरदादिप्रयोगसिद्धयर्थमङ्विधानं सार्थकमेव। अपि च, अङि शपि च स्वरभेदोऽपि भवति। तथाहि—अडभावे (करत् इत्यत्र) अङि प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तेन भाव्यम्, शपि धातुस्वरेणाद्युदात्तेन। वेद आद्युदात्ताः करदादिप्रयोगा बाहुल्येनोपलभ्यन्ते, अङि अन्तोदात्तस्तु नोपलभ्यते। तस्माद्

---

१. अ० ३।१।५९॥ २. अ० ३।४।६॥

३. धातुवृत्तिः १।६२९, पृष्ठ २३४॥ ४. ऋक्सायणभाष्यम् १।८२।१॥

५. 'एतस्मिंश्चातिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते। तद्यथा—शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति, विकार एनमार्या भाषन्ते शव इति। हम्मतिः सुराष्ट्रेषु, रंहतिः प्राच्यमगधेषु, गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु' इति। महाभाष्य पस्पशाह्निक; द्र०—निरुक्त २।२॥

६. यथा—अनुकरेदि (=अनुकरति), भासनाटकचक्र पृष्ठ २१८। करन्तः (करन्तः=कुर्वन्तः) वही, पृष्ठ ३३६। ७. अ० ३।४।६॥

यदि कश्चिन्निराकर्तव्यस्तर्ह्याङेव, न तु भौवादिकः। वस्तुतस्तु सूत्रकारवचनसामर्थ्यादन्तोदात्तप्रयोगा अपि शाखान्तरेषु सम्भाव्यन्ते। यतो ह्युक्तं 'सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्'[१]इति। अपि च 'कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि' इत्यङ्विधायकसूत्रनिर्दिष्टेषु धातुषु रुहेरङ्स्वरो दृश्यते। तद्यथा—रुहाव (ऋ० ७।८८।३); रुहतम् (ऋ० ८।२२।९), अत्रादुपदेशत्वात्तिङो निघातत्वम्। वस्तुतः कृञो तनादौ पाठ एव अनार्षः। अत एव तनादिकृञ्भ्य उः इत्यत्र पृथक् कृञ्ग्रहणं सार्थकम्। भाष्यकारेण पृथक् कृञ्ग्रहणं प्रत्याख्यातम्, अतो ज्ञायते तनादौ कृञः प्रक्षेपः पतञ्जलेः प्राक्तनः।

कारकोपलक्षणम्—'ताभ्यामन्यत्रोणादयः'[२] इति नियमेन सम्प्रदानापादानाभ्यामन्यस्मिन् कारके सामान्येन विधानाद् यथासम्भवमन्यत्रापि वृत्तिर्द्रष्टव्या, न कर्त्तर्येवेति भावः।

कालोपलक्षणम्—'उणादयो बहुलम्'[३] इत्यत्र वर्तमानानुवृत्तावपि 'भूतेऽपि दृश्यन्ते'[४] 'भविष्यति गम्यादयः'[५] इत्याभ्यां नियमाभ्याम् बाहुलकाद् वा यथासम्भवं कालान्तरेष्वपि व्युत्पाद्यन्ते। यथा यौगिकाः पाचकादयः—पचतीति पाचकः, अपाक्षीदिति पाचकः, पक्ष्यतीति पाचकः[६], तथैव करोति अकार्षीत् करिष्यतीति वा कारुः इत्यपि भवति।

कर्त्तेति—अयं हि यौगिकप्रक्रियालभ्योऽर्थः। दृश्यते चैतस्मिन्नर्थे वेदलोकयोः कारुशब्दप्रयोगाः। वेदे तावत्—'कारुरहं ततो भिषक्'[७] इति। व्याख्यातं च यास्काचार्येण—'कारुरहमस्मि कर्त्ता स्तोमानाम्'[८] इति। लोकेऽपि—'राघवस्य तथा कार्यं कारुर्वानरपुङ्गव'[९] इति भट्टिः। 'कारुर्विश्वकर्मणि ना त्रिषु कारकशिल्पिनोः'[१०]इति मेदिनीकारः। कारुः शिल्पिनि कारके'[११] इति धरणिः।

---

१. महाभाष्य २।१।५८॥ २. अ० ३।४।७५॥

३. अ० ३।३।१॥ ४. अ० ३।३।२॥

५. अ० ३।३।३॥

६. 'यश्चैवं नाभ्यनुजानीयात् तस्य पाचकमानय पक्ष्यति लावकमानय लविष्यतीति व्यवहारो नोपपद्यते' इति। न्यायभाष्य २।१।११॥

७. ऋक् ९।११२।३॥ ८. निरुक्त ६।६॥ ९. भट्टि ७।२८॥

१०. मेदिनी रान्त द्विक पृ० १३३ ११. द्र०—उज्ज्वलवृत्ति. १।१॥

शिल्पीति—अयं च योगरूढयर्थः। तथा च प्रयुज्यते—'तत्रावरतः पञ्चकारुकी भवति'[1] इति महाभाष्ये। कारुरेव कारुकः स्वार्थे कन्, ततो द्विगौ ङीप् पञ्चकारुकी। 'कुलालकर्मारवर्धकिनापितरजकाः पञ्चकारुकी'[2] इति भाष्यविवरणे नागेशभट्टः।

वेति—नायं सन्देहार्थो निपातः, किं तर्हि? समुच्चयार्थः। तदुक्तम्—'अथापि समुच्चयार्थे भवति—वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा'[3] इति। तथा च यादवप्रकाशः—

'निषेधे पृथग्भावे वा विकल्पोपमानयोः।
समुच्चये चैव पापे च वाक्यारम्भप्रसिद्धयोः॥' इति।[4]

एतेनास्मिन् ग्रन्थे सर्वत्रायं वा शब्दो व्युत्पत्त्या प्रदर्शितस्य यौगिकार्थस्यानुक्तस्य वा योगरूढयर्थस्य समुच्चायको विज्ञेयः। तेनात्र निघण्टुपठितस्य स्तोतृनाम्नो[5]ऽपि समुच्चयो द्रष्टव्यः। 'इन्द्रश्च' इति हेमचन्द्रः[6]। एवं च कृत्वाऽस्यामुणादिवृत्तौ निर्दिष्टा अर्था निदर्शनमात्रपरा इत्यवधेयम्।

कारुशब्दः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। यौगिकस्त्रिलिङ्गः, तेन स्त्रियाम् 'ऊङुतः'[7] इत्यूङ् कारूः स्त्री।

वाति गच्छति जानाति वेति—वा गतिगन्धनयोः। गतेस्त्रयोऽर्थाः—गमनं ज्ञानं प्रापणं च। गन्धनं हिंसनं सूचनं च,'गन्धनमपकारप्रयुक्तं हिंसनात्मकं सूचनम्'[8]इति वृत्तिकारः। गतेर्ज्ञानार्थोऽप्रसिद्ध इति चेन्न, नह्यप्रसिद्ध इत्येव त्यज्यते, नैव स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराधस्तु स भवति।[9]

इदानीं गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वे प्रमाणानि प्रदर्शयामः। तथाहि—'विचरन्ति विजानन्ति'[10] इति यास्कः; एतद्व्याख्याने'सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः'[11]इति स्कन्दस्वामी; 'गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः'[12] इति तैत्तिरीयारण्यके भट्टभास्करः, 'गत्यर्था ज्ञानार्थाः'[13] इति अस्यवामीयव्याख्याने आत्मानन्दः। एवमन्येऽपि।

---

१. महाभाष्य १।१।४७॥ २. महाभाष्योद्योत १।१।४७॥
३. निरुक्त १।४, ५॥ ४. वैजयन्तीकोश पृ० २८४॥
५. निघण्टु ३।१६॥ ६. हैमोणादिवृत्ति पृ० १॥
७. अ० ४।१।६६॥ ८. काशिका १।३।३३॥ ९. निरुक्त १।१६॥
१०. निरुक्त २।१६॥ ११. निरुक्तटीका २।१६, भा० २, पृ० ६२॥
१२. तै० आ० भा० १, पृ० २७६॥ १३. अस्यवामीय पृ० ५४॥

यद्यप्याचार्यैरत्र प्राप्त्यर्थे गन्धनार्थे च व्युत्पत्तिर्न प्रदर्शिता, तथापि तस्या वाशब्देन समुच्चयो द्रष्टव्यः। इहानुक्ता व्युत्पत्तय आचार्यकृतवेदभाष्यात् संगृह्यन्ते । प्राप्तयर्थे तावत्—'वायवे वाति प्रापयति योगबलेन व्यवहारान् इति वायुर्योगविद्क्षणस्तस्मै'[1] इति । हिंसने—'वायो ! दुष्टानां हिंसक ![2]' इति । सूचने—'वायो ! वाति जानाति सूचयति सदसद् पदार्थानिति वायुस्तत्सम्बुद्धौ'[3] इति । ओवै शोषणे इत्यतोऽपि वायुः पदं साध्यते हेमचन्द्रेण[4]।

वायुरिति—यद्यप्याचार्यपादैः पूर्ववदत्र यौगिकार्थः पृथग् न प्रदर्शितः तथापि व्युत्पत्त्या यौगिकार्थज्ञानं सुकरम् । तेन वायुपदस्य गन्ता ज्ञाता प्राप्ता हन्ता सूचयिता चेत्येतेऽर्था उक्ता भवन्ति । तथा चाह—'अस्या जरासः[5]' इत्यृग्व्याख्याने सायणः—'वायवो न सोमाः गन्तारः सोमा इव[6]' इति । 'इषे त्वोर्जे त्वा[7]' इत्यत्र 'वायवो गन्तारः' इति भट्टभास्कर[8]महीधरौ[9] । एवं सर्वत्र यौगिकार्थेऽनुक्ते व्युत्पत्त्या यौगिकार्थ ऊहनीयः । व्युत्पत्त्या यौगिकार्थज्ञानस्य सुकरत्वादुपरिष्टात् पृथग्यौगिकार्थो न प्रदर्शयिष्यते भगवत्पादैः ।

पवन इति—लोकप्रसिद्धः । अत्र पवनशब्देन तद्विशेषाः प्राणादयोऽपि द्रष्टव्याः । तथा चामनन्ति—'वायुर्वै प्राणः'[10] इति ।

परमेश्वर इति – वातेर्ज्ञानार्थत्वं पुरस्तादुपवर्णितम्, तदनुसारं सर्वज्ञत्वात् भगवान् परमेश्वरोऽपि वायुसंज्ञकः । तथा चेयं भगवती श्रुतिः प्रवृत्ता—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आप स प्रजापतिः ।। [11]इति ॥

---

१. दया० यजुर्भाष्य ७।८।। २. दया० ऋग्भाष्य १।१।५।४।।

३. दया० यजुर्भाष्य ६।१६।। ४. हैमोणादिवृत्तिः पृ० १।।

५. ऋग्० १०।४६।७।। ६. ऋक् सायणभाष्य १०।४६।७।।

७. यजुः १।१।। ८. तै० सं० भाष्य १।१।१।।

९. यजुर्भाष्य १।१।। सायणोऽपि ऋ० १०।४६।७ व्याख्याने 'वायवो गन्तारः' इत्याह । १०. कौ० ब्रा० ८।४; जै० उ० ब्रा० ४।२२।११।।

११. यजुः ३२।१।।

अत्र अग्न्यादीनि सर्वाणि समानाधिकरणपदानि, न च यौगिक-प्रक्रियामन्तरेणैतेषां सामानाधिकरण्यं कथमप्युत्पद्यते । तस्माद् यौगिका एवेमे शब्दा इति स्पष्टम् ।'आकाशस्तल्लिङ्गात्'[1] इति वैयासिकेन आकाशाधिकरणन्यायेनापि वाय्वग्नीन्द्रादीनि पदानि मुख्यया वृत्त्या भगवन्तं परमेश्वरमेवाभिदधति ।

वेति—पूर्ववत् समुच्चयार्थे । तेनात्रानुक्ता अपि वाय्वर्थाः संग्राह्याः । तत्र वैदिकवाङ्मये निर्दिष्टानामर्थानां दिङ्मात्रं प्रदर्श्यते—

'इन्द्रेण वायुना'[2] इत्यृग्वेदे; 'यो वै वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायुः'[3] इति शतपथे; 'वायुरध्वर्युः'[4] इति, 'वायुरेव सविता'[5] इति च गोपथब्राह्मणे; 'वायुर्वाव पुरोहितः'[6] इति, 'अयं वै यज्ञो योऽयं वायुः पवते'[7] इति, वायुर्ह्येव प्रजापतिः, तदुक्तमृषिणा—पवमानः प्रजापतिरिति'[8] इति चैतरेयब्राह्मणे; 'वायुर्वै स्तोता'[9] इति तैत्तिरीयब्राह्मणे; 'वायुर्वत्सः'[10] इति छान्दोग्योपनिषदि; 'वायुर्ज्योतिः, वायुना ज्योतिषा इति ह विज्ञायते'[11] इति, 'वायुरादित्यः'[12] इति च दुर्गाचार्योद्धृतौ ब्राह्मणौ । एवमन्येऽपि बहवोऽर्थास्तत्र तत्र द्रष्टव्याः ।

अथ निर्वचनान्तराणि—अज धातोः बाहुलकात् 'यजिमनिशुन्धि'[13] इत्यादिना विहिते युचि वाऽऽदेशे वायुशब्दनिष्पत्तिर्भवति । तदुक्तं भाष्यकारेण—'(वा यौ) नेयं विभाषा, किं तर्हि ? आदेशो विधीयते, वा इत्ययमादेशो भवत्यजेर्यौ परतः, वायुरिति'[14] इति । एतेर्धातोरुणि धातोर्वुडागमे वायुपदसिद्धिः । तथा ह्याह यास्कः—'एतेरिति स्थौलाष्ठीविः, अनर्थको वकारः'[15] इति । विचिर् धातोरुणि प्रत्ययसन्नियोगेन चकारलोपे 'अचोऽञ्णिति'[16] इति वृद्धावायादेशो वायुरूपनिष्पत्तिः । 'न धातुलोप आर्धधातुके'[17] इति वृद्धिप्रतिषेधो न भवति, चकारलोपस्यार्धधातुकनिमित्ता-

---

१. वेदान्त १।१।२५॥
२. ऋग्० १।१४।१०॥ ३. शत० ब्रा० ४।१।३।१६॥
४. गोपथ ब्रा० १।१।१३॥ ५. गोपथ ब्रा० १।१।३३॥
६. ऐ० ब्रा० ८।२७॥ ७. ऐ० ब्रा० ५।७; शत० ब्रा० १।६।२।२८॥
८. ऐ० ब्रा० ४।२६॥ ९. तै० ब्रा० ३।६।४।४॥
१०. छा० उप० ३।१५।२॥ ११. दुर्ग निरुक्तटीका ४।२६॥
१२. दुर्गनिरुक्त टीका १३. पं० उ० ३।२० १४. महाभाष्य २।४।५६॥
१५. निरुक्त १०।१॥ १६. अ० ७।२।११५॥ १७. अ० १।१।४॥

भावात् । तथाहि—'अयं वै वायुः योऽयं पवते, एष वा इदं सर्वं विविनक्ति यदिदं किं च विविच्यते'[१] इति शतपथब्राह्मणम् । एवमन्या अपि व्युत्पत्तय ऊहितव्याः ।

पातीति—धातुकारकनिर्देशावतन्त्रौ । तेन पा पाने इत्यस्मादप्युण् भवति । तथाहि—'तमुक्षमाणम्'[२] इत्यृग्व्याख्याने 'पायुं यः पिबति तम्'[३] इत्युक्तमाचार्यैः । यत्त्वाह श्वेतवनवासी —'लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्यैव इति परिभाषया पिबतेरेव ग्रहणम्'[४] इति, तदयुक्तम्, बहुलग्रहणस्य सर्वविधिव्यभिचारित्वात्[५], अन्यवृत्तिकारविरोधाच्च । तथाहि—'देहरक्षकनिर्हारकृतत्वात् देहं पाति इति पायुः गुदम्'[६] इति नारायणः । 'पाति रक्षति' इति सुबोधिनी[७]व्युत्पत्तिसारकारौ[८] । एतेन 'पातिपायत्योस्त्वर्थासंगतेर्न ग्रहणम्'[९] इति हेमचन्द्रोक्तमपि प्रत्युक्तं वेदितव्यम् । एवं कारकान्तरेऽपि —'पायुं पात्यनेन तं गुह्येन्द्रियम्'[१०] इति, 'वाचं ते शुन्धामि'[११] इति मन्त्रभाष्य आचार्यपादाः ।

रक्षक इति —अयं प्रकृतिप्रत्ययलभ्यो यौगिकोऽर्थः । अत एव 'पाति रक्षतीति विग्रहे रक्षकोऽपि पायुः' इति सुबोधिनी[१२]व्युत्पत्तिसारकारौ[१३] । 'गुदेन्द्रियमिति' योगरूढ्यर्थोऽयम् ।

वेति—समुच्चयार्थः । तेन 'अदब्धेभिः'[१४] इति यजुर्व्याख्याने 'पायुभिर्विविधैः रक्षणोपायैः'[१५] इत्युक्तोऽर्थोऽपि संग्राह्यः ।

जयति अभिभवतीति—जि ज्रि अभिभवे इत्यस्य । 'अभिभवो न्यूनीकरणम्'[१६] इति माधवः; 'न्यूनीकरणं न्यूनीभवनञ्च'[१७] इति दीक्षितः । 'जयविशेषोऽभिभवः'[१८] इति मैत्रेयरक्षितः । 'जयति रोगान् इति—जि जये इत्यस्य; 'जय उत्कर्षप्राप्तिरित्यकर्मकोऽयम्' इति माधव[१९]दीक्षितौ[२०] । देवो[२१]ऽप्यत्रैवानु-

---

१. शत० ब्रा० १।१।४।२२॥　　२. ऋग्० २।२।१॥
३. दया० ऋग्भाष्य २।२।४॥　　४. श्वेत० उ० वृ० पृ० १॥
५. द्र०—बहुलग्रहणं सर्वविधिव्यभिचारार्थम् । काशिका ३।१।८५॥
६. नारा० उ० वृ० पृ० १॥　　७. सुबोधिनी भा० २, पृ० २०८॥
८. व्युत्पत्तिसार पृ० १॥　　९. हैमोणादिवृत्ति पृ० १॥
१०. दया० यजुर्भाष्य ६।१४॥　　११. यजुः ६।१४॥
१२. सुबोधिनी भा० २, पृ० २०८॥　१३. व्युत्पत्तिसार पृ० १॥
१४. यजुः ३३।८४॥　　१५. दया० यजुर्भाष्य ३३।८४॥
१६. धातुवृत्तिः १।३६५॥, पृ० २३४॥　१७. सि० कौमुदी उ० १।१॥
१८. धातुप्रदीप पृ० ६६॥　　१९. धातुवृत्तिः १।३६६, पृष्ठ १५३॥
२०. सि० कौमुदी उ० १।१॥　　२१. दैवम्, पृष्ठ २२॥

कूल: । आचार्यपादास्तूभावपि जि धातू सकर्मकाविति मन्यन्ते । श्वेतवनवासी 'जि जये जि अभिभवे उभयोरपि ग्रहणम्'[1] इत्युक्त्वा 'जयतीति जायु: औषधम्'[2] इत्याह । तेन तन्मते उभयो: सकर्मकत्वं प्रतीयते । दशपादीवृत्तिकारस्तु 'जि जये भौ०, जयत्यनेन रोगान्'[3] इति स्पष्टं सकर्मकत्वं द्योतयति। धातुप्रदीपकारो मैत्रेयरक्षितोऽप्यत्रैवानुकूल:, यदाह—'जयविशेषोऽभिभव इति विशेषार्थोऽयं पुनर्जयति: पठ्यते'[4] इति । यदा तु उत्कर्षार्थे जयतिर्वर्तते, तदा 'धातोरर्थान्तरे वृत्ते:'[5] इति न्यायेनाकर्मको भवति । दशपादीवृत्तौ 'जयत्यनेन रोगान्'[6] इति करणे व्युत्पादित: ।

वेति—एतेन अनुक्ता अर्था: संग्राह्या: ।

मिनोतीति—कारकनिर्देशस्योपलक्षणत्वादन्यस्मिन्नपि कारके व्युत्पत्तिर्द्रष्टव्या । यथा—'मीयते क्षिप्यते प्रेर्यते उच्चार्यते इति मायु:'[7] इति कर्मणि देवराज: । 'मीयतेऽनेनेति मायु: मानम्'[8] इति करणे दशपादीवृत्तिकार: ।

मायुरिति—'मीनातिमीनोतिदीङां ल्यपि च'[9] इत्यात्वम्, 'आतो युक् चिण्कृतो:'[10] इति युक् । अत्र व्युत्पत्त्या 'प्रक्षेप्ता' इति यौगिकार्थ ऊह्य: ।

ऊष्माणमिति—अध्याहार: । अर्थानुगता अन्येऽप्यध्याहारा: कर्त्तुं शक्या:, इति द्योतयति । यथा—'मिनोति प्रक्षिपति अङ्गे पीडाम्'[11] इति नारायण: ।

पित्तमिति—उपलक्षणमिदम् । 'मायु: पित्तं कफं श्लेश्मा च'[12]इत्यमर:; वाङ्नामेति[13]वैदिकनिघण्टु: । 'मीयतेऽनेनेति' व्युत्पत्त्या 'मायु: मानम्'[14] इति दशपादीवृत्तिकार: ।

---

१. श्वेत० उ० वृ० पृ० १।। २. श्वेत० उ० वृ० पृ० ३।।
३. दश० उ० वृ० पृ० ५३।। ४. धातुप्रदीप पृ० ६६।।
५. वाक्यपदीय ३।७।८८।। ६. दश० उ० वृ० पृ० ५३।।
७. निघण्टुटीका १।११।। ८. दश० उ० वृ० पृ० ५३।।
९. अ० ६।१।५०।। १०. अ० ७।३।३३।।
११. नारा० उ० वृ० पृ० १।। १२. अमरकोश २।६।६२।।
१३. निघण्टु १।११।। १४. दश० उ० वृ० पृ० ५३।।

गोमायुः शृगाल इति—आचार्यपादैः 'सोमाय कुलङ्ग०'[1] इति मन्त्रे केवलोऽपि मायुशब्दः शृगालपरो व्याख्यातः । 'गोमायुरेको अजमायुरेकः'[2] इति मन्त्रवर्णात् गोमाय्वजमायू मण्डूकविशेषौ । 'गोमायुः गोरिव मायुः शब्दो यस्य; अजमायुः अजस्य मायुरिव मायुर्यस्य'[3] इति तद्व्याख्याने सायणः ।

निर्वचनान्तरम्—'मिमाति मायुं ध्वसनावधिश्रिता'[4] इति मन्त्रवर्णात् माङ्माने शब्दे च इति जौहोत्यादिकादपि मायुपदनिर्वचनं द्रष्टव्यम् । मिमाति छान्दसं परस्मैपदम् । मीयते शब्दयत इति मायुः । तथा चाह यास्कः—'मिमाति मायुं शब्दं करोति'[5] इति ।

'भृमृशीङ्तृचरि'[6] इत्युत्तरसूत्रेण उप्रत्यये मयुरित्यपि भवति । हेमचन्द्रस्तु 'मिवहिचरिचटिभ्यो वा'[7] इत्यत्र प्रकृतस्य उप्रत्ययस्य णित्त्वं विकल्प्य मयुमायू उभावपि निर्दशितवान् ।

स्वद्यत इति—बाहुलकात् कर्तरि करणे भावे च द्रष्टव्यः । 'स्वदत इति स्वादुः' इति नारायण[8]-श्वेतवनवासिनौ[9] । 'स्वद्यतेऽनेनेति स्वादुः रुच्यम्,करणम् । स्वदनं वा स्वादुः,भावः'[10]इति दशपादीवृत्तिकारः। भोक्तुमभीप्स्यते' इत्यध्याहारः । तेन स्वदते स्वदयते स्वदनं वा यौगिको द्रष्टव्यः । भोज्यमिति—अन्नविशेषणमिदम् । वा शब्दो यौगिकार्थस्य समुच्चयाय द्रष्टव्यः ।

साध्नोतीति—बाहुलकादधिकरणेऽपि भवति । तथा चाहुराचार्याः—'साध्नुवन्ति धर्मं यस्मिन् सः'[11]इति । साधुरिति—स्त्रियां'वोतो गुणवचनात्'[12] इति ङीष्, साधुः साध्वी च धर्माचरणशीला स्त्री । 'साधयतेर्ण्यन्तादपि' इति हेमचन्द्रः[13] । 'बहुलमन्यत्रापि संज्ञाछन्दसोः'[14] इति णेर्लुक् ।

---

१. यजुः २४।३२।। २. ऋक् ७।१०३।६।।
३. सायणभाष्य ऋ० ७।१०३।६।। ४. ऋक् १।१६४।२९।।
५. निरुक्त २।९।। ६. पं० उ० १।७।। ७. हैमोणादि सूत्र ७२६।।
८. नारा० उ० वृ० पृ० १।। ९. श्वेत० उ० वृ० पृ० ३।।
१०. दश० उ० वृ० पृ० ५४।। ११. दया० ऋग्भाष्य २।२७।६।।
१२. अ० ४।१।४४।। १३. हैमोणादिवृत्ति पृ० १।।
१४. पं० उ० २।२३।।

अश्नुत इति—कर्त्तृ निर्देश उपलक्षणार्थः, तेन भावसाधनेऽपि द्रष्टव्यः। तथाहि एमाशुमाशवे'[१] इति ऋग्व्याख्याने 'आशवे व्याप्तये'[२] इति व्याख्यातमाचार्यैः। 'अशनं वाशु'[३] इति हेमचन्द्रः।

आशु क्षिप्रमिति—आशु इति क्षिप्रनामेति निघण्टुः[४]। अस्यैवाकारलोपे 'शु' इत्यपि क्षिप्रनाम[५] भवति। तदुक्तं **यास्केन—आशु इति च शु इति च क्षिप्रनामनी भवतः**'[६] इति। 'आशु (निपातः) आशुः इति चोभयं क्षिप्रनाम इति ...।[७]

आशुरिति यौगिकार्थे सर्वेऽपि क्षिप्रकारिण उच्यन्ते। **सद्योऽध्वानम्** इत्यध्याहारस्तूपलक्षणार्थः। तथा चाह **यास्कः—'आशवः क्षिप्रकारिणः**'[८] इति। **अश्व इति**—आशुरित्यश्वनामसु पठ्यते[९] वैदिकनिघण्टौ। **वेति**—अन्येषां शीघ्रगामिनां रथविमानादीनां संग्रहणार्थः। अत एव 'प्रयात शीघ्रमाशुभिः'[१०] इति **ऋग्विवरणे 'आशुभिः शीघ्रं गमनागमनकारकैर्विमानादियानैः**'[११] इति सामान्येनाहुराचार्याः। 'आशुरादित्यः'[१२] इति श्वेतवनवासी।

अश्यत इति—अश भोजने इति तौदादिकोऽपि गृह्यते रूपसामान्यात्। **आशुर्धान्यं व्रीहिरिति**—'आशुर्व्रीहिः पाटलः स्यात्'[१३] इत्यमरः। 'आशुः सूर्यो व्रीहिश्च'[१४] इति हेमचन्द्रः।

बहुलवचनादिति—'उणादयो बहुलम्'[१५] इत्यत्र निर्दिष्टं बहुलपदं सर्वस्मिन्नप्युणादिशास्त्रे सम्बध्यते। बहूनर्थान् प्रयोजनानि लाते आदत्ते इति बहुलम्। बहुलमेव बाहुलकम्। तथा चाहुर्बहुलप्रयोजनानि पूर्वाचार्याः—

क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद् विभाषा क्वचिदन्यदेव।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति॥[१६] इति॥

---

१. ऋक् १।४।७॥
२. दया० ऋग्भाष्य १।४।७॥ ३. हैमोणादिवृत्ति पृ० १॥
४. निघण्टु २।१५॥ ५. निघण्टु २।१५॥ ६. निरुक्त ६।१॥
७. नि० टी० पृ० २६२॥ ८. निरुक्त ६।६॥
९. निघण्टु १।१४॥ १०. ऋक् १।३७।१४॥
११. दया० ऋग्भाष्य १।३७।१४॥ १२. श्वेत० उ० वृ० पृ० ३॥
१३. अमरकोष २।६।१५॥ १४. हैमोणादिवृत्ति पृ० १॥
१५. अ० ३।३।१॥ १६. द्र०—दश० उ० वृ०, पृ० १७७॥

अत्रोणादौ तन्वीनामेव प्रकृतीनां समुच्चय इत्युक्तं पुरस्तात्, **'प्रत्ययं दृष्ट्वा प्रकृतिरूहितव्या'**[1] इति भाष्यवचनाच्चान्याभ्योऽपि प्रकृतिभ्य उण् प्रत्ययो भवति। तदेव दर्शयति—स्नातीति।

स्नातीति—उपलक्षणमिदम्, तेन ष्णै वेष्टने इत्यस्मादप्युणि स्नायुपदं सिद्धयति। स्नायति वेष्टते सर्वं शरीरमिति स्नायुः। **'स्नायत्यङ्गं स्नायुः'**[2] इति **क्षीरस्वामी**। **ध्वनेर्विकार इति**—**'काकुः स्त्रीभिन्नकण्ठोत्थश्शोक-कोपादिवैकृतात्'**[3] इति वैजयन्ती। **वासुरिति**—वासुश्चासौ देवश्च वासुदेवः, सच्चिदानन्दलक्षणो भगवान् जगदीश्वरः। तथा चाह भाष्यकारः—**'नैषा क्षत्रियाख्या, संज्ञैषा तत्र भगवतः'**[4] इति प्रजापतेरिति भावः॥

पाठान्तरम्—'कृपावाजिमि' इति **भट्टभास्कर**[5]**श्वेतवनवासिनौ**[6]॥

इति युधिष्ठिरमीमांसक-विरचितमुणादिकोषस्य
प्रथमसूत्र-विवरणम्॥



---

१. महाभाष्य ३।३।१॥ २. क्षीर० अमरटीका पृ० १०२॥
३. वैजयन्ती पृ० ३१, पं० १४॥ ४. महाभाष्य ४।३।९८॥
५. भट्टभास्कर तै० सं० भाष्य भा० १, पृ० ३२॥
६. श्वेत० उ० वृ० पृ० १॥

द्वितीयं परिशिष्टम्

उणादिसूत्राणां वर्णानुक्रमेण सूची

तृतीयं परिशिष्टम्

उणादिसूत्रेषु निर्दिष्टानां प्रत्ययानां सूची

अक्नुच् ३।८१॥
अङ्गच् २।१२०–१२२॥
कित् १।१२१॥
अच् ५।१६, २०, ३१, ३२, ४०, ४१, ५४, ६४, ६५
अचः (पा०) ४।२॥
अजिः १।१३६-१३८॥
कित् १।१३७॥
अटच् ४।१०५॥
अटन् ४।८२
अटिः १।१३४, १३५॥
अठः १।१००, १०१॥
अण्डन् १।१२९॥
अतच् ३।१०२-११२॥
कित् ३।१११॥
अतिः २.८५,८६; ४।६०-६४; ५।५-७॥
चित् ४।६१॥
नित् ४।६४; ५।६॥
अत्रन् ३।१०५-१०७; ४।७०॥
चित् ३।१०७॥
अथः ३।११३-११६॥
ङित् ३।११५॥
चित् ३।११४॥
अदिः १।१३०-१३३॥
ङित् १।१३२॥

अन् ५।३३॥
अनिः २।१०४-१०९; ५।६७॥
कित् १।१०९॥
अनुङ् ३।५२॥
अन्यः ३।१००-१०३॥
नित् ३।१०२॥
अन्युच् ३।८१॥
अपः ३।१४१॥
अबक् ४।९७
अभच् ३।१२२-१२५॥
कित् ३।१२३, १२४॥
अमः ४।८५; ५।५४॥
अमच् ५।६८, ६९॥
अम्बच् ४।८३, ८४, ९७॥
णित् ४।८४॥
अयुः ३।२२॥
अरः ३।१३१,१३२; ५।३८।३९॥
चित् ३।१३२; ५।३९॥
अरन् (=अर) ४।१५६॥
अरन् (=अर्) ५।५६,६०॥
अरन् ४।१५६; ५।५९,६०॥
अरुः ४।८०,८१॥
कित् ४।८१॥
अल् ५।१९,२०,४०,४१॥
अलच् ५।७०॥
अलिच् ४।२॥

१. द्र०—वृत्तिः।

१. ओरः पाठा०

२. ओलः, ओलक्, कोलच् पाठान्तराणि।



चतुर्थं परिशिष्टम्

उणादिव्याख्यायां स्मृता ग्रन्थकाराः

नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ
निरुक्तकार	३	वैयाकरण	३
पतञ्जलि	२	शाकटायन	३
महाभाष्यकार	२,५५		



पञ्चमं परिशिष्टम्

उणादिव्याख्यायां स्मृता ग्रन्थाः

नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ
उणादिगणवृत्ति[1]	५	वार्त्तिक	१११, १४८
निघण्टु	६	सत्-प्रयोग	१६१
महाभाष्य	५५		



षष्ठं परिशिष्टम्

उणादिव्याख्यायाम् उद्धृतान्युद्धरणानि

उद्धरण	पृष्ठ	उद्धरण	पृष्ठ
अग्ने शर्ध महते सौभगाय	५४	अनुदात्तोपदेश०	८७
अजादित्वात्	६२	अन्येषामपि दृश्यते	१२९, १४७
अजादिपाठात्	४४	अप्तृन्तृच०	७३
अनिदिताम्०	२२, ५२	अयामन्ताल्वाय्येत्नु०	८६

१. उज्ज्वलदत्तीयोणादिवृत्तिरित्यर्थः ।



सप्तमं परिशिष्टम्

टिप्पण्यां स्मृताः ग्रन्थकाराः

१. द्र०—भट्टोजिदीक्षित शब्द ।

१. द्र० दीक्षित शब्द ।

२. काशिकाकारादि



अष्टमं परिशिष्टम्

टिप्पण्यां स्मृता ग्रन्थाः

१. उणादिसूत्रकार (पाणिनि) । २. द्र० उज्ज्वलवृत्ति शब्द । ३. द्र० उज्ज्वलदत्तवृत्ति शब्द ।

१. द्र० ऋग्वेदभाष्य शब्द।

२. द्र० ऋग्भाष्य (दयानन्दीय)।

१. द्र०—मनोरमा शब्द । २. द्र०—महाभाष्य शब्द ।
३. द्र० भाष्य शब्द ।



नवमं परिशिष्टम्

टिप्पण्याम् उद्धृतान्युद्धरणानि



दशमं परिशिष्टम्

उणादि-व्याख्या-विवरणे निर्दिष्टानां ग्रन्थ-ग्रन्थकार-उद्धरणानां सूची

२–ग्रन्थकार-नामानि

१. भट्टोजिदीक्षित इत्यर्थः।

३—उद्धरणानि



एकादशं परिशिष्टम्

उणादि-व्याख्यायां निर्दिष्टानां शब्दानां सूची

शब्द	पाद	सूत्र	शब्द	पाद	सूत्र	शब्द	पाद	सूत्र
	अ		अङ्कूरः	१	३८	(अतसी)	३	११७
अंसः	५	२१	अङ्कूषः	४	७७	अतिथिः	४	२
(अंसलः)	५	२१	अङ्गः	४	२१७	(अतिथी)	४	२
अंहः	४	२१४	अङ्गम्	१	१२३	अत्कः	३	४३
अंहतिः	४	६३	अङ्गारः	३	१३४	अत्नः	३	६
अक्तम्	३	८९	अङ्गिराः	४	२३७	अत्रिः	४	६९
अक्षः	३	६५	अङ्गुलिः	४	२	अत्री	४	६९
अक्षरम्	३	७०	(अजिः)	४	१४१	अद्ग	१	१२३
(अक्षाणि)	३	६५	अजिनम्	२	४९	अद्भुतम्	५	१
अक्षि	३	१५६	अजिरम्	१	५३	(अद्भुताध्यापकः)	५	१
अक्ष्णम्	३	१७	अञ्चतिः	४	६२	अद्मनिः	२	१०७
अगस्तिः	४	१८१	अञ्जलिः	४	२	अद्रिः	४	६६
अग्निः	४	५१	अञ्जिः	४	१४१	अधमम्	५	५४
अग्रम्	२	२९	अञ्जिष्ठः	४	२	अध्वर्युः	१	३७
अग्रेगूः	२	६९	(अञ्जी)	४	१४	अध्वा	४	११७
अघ्न्यः	४	११३	अटविः	४	१३५	अनः	४	१९०
अङ्कः	४	२१७	अणवः	१	९	अनलः	१	१०६
अङ्कतिः	४	६२	अणु	१	८	णनिलः	१	५४
अङ्कुरः	१	३८	अण्डः	१	११४	अनीकम्	४	१८
अङ्कुशः	४	१०८	अतसः	३	११७	अनेहाः	४	२२५

१. अत्र निदिष्टा शब्दाः तत्तत्सूत्रवृत्तौ साक्षात् बाहुलकात् परम्परया वोदाहृता विज्ञेयाः। ताद्धितेन प्रत्ययेन निर्दिष्टाः शब्दाः (   ) कोष्ठके प्रदर्शिताः।

शब्द	पाद	सूत्र	शब्द	पाद	सूत्र	शब्द	पाद	सूत्र
अन्तः	३	८६	अयः	४	१६०	(अर्शसः)	४	१६७
अन्तः	५	६०	(अयस्कान्तः)	४	१६०	अर्शसानः	२	८६
अन्त्रम्	४	१६५	अयाः	४	२२३	अर्हन्तः	३	१२६
अन्दूः	१	९३	अरणिः	२	१०४	अलकम्	५	३५
अन्धः	४	२०७	अरण्यम्	३	१०२	अलकाः	५	३५
अन्धुः	१	२७	अरण्यानी	३	१०२	अलतिः	४	६१
अन्नम्	३	१०	अरतिः	४	६१	अलाबूः	१	८७
अन्यः	४	११०	अरतिः	५	७	अलिः	४	१४०
अपः	४	२०९	(अरत्निः)	४	२	(अलिन्दः)	४	८६
अपष्ठु	१	२५	अररः	३	१३२	अलीकम्	४	२६
(अपिशलिः)	४	१२९	अररुः	४	८०	अवगथः	२	९
अप्तुः	१	७५	अरिः	४	१४०	अवद्यम्	५	५४
अप्नः	४	२०९	अरुः	२	११९	अवनिः	२	१०४
अप्वा	१	१५४	अरुणः	३	६०	अवन्तिः	३	५०
अप्सरसः	४	२३८	अरूषः	४	७४	अवभृथः	२	३
अप्सराः	४	२३८	अर्कः	३	४०	अवमम्	५	५४
अब्जः	४	२१०	अर्चिः	२	११०	अवसः	३	११७
अब्दः	४	९९	अर्जुनः	३	५८	अविनः	२	४७
अभिम्लातः	३	८६	अर्जुनम्	३	५९	अविषः	१	४५
अभ्रकम्	२	३३	(अर्जुनी)	३	५८	(अविषी)	१	४५
अमतः	३	११०	अर्णः	४	१९८	अवीः	३	१५८
अमतिः	४	६०	(अर्णवः)	४	१९८	अव्यथिषः	१	४९
अमत्रम्	३	१०५	अर्थः	२	४	(अव्यथिषी)	१	४९
अमनिः	२	१०४	अर्पिसः	४	२	अशनिः	२	१०४
अमित्रः	४	१७५	अर्भः	३	१५२	अशित्रम्	४	१७४
अम्बरम्	३	१३१	अर्भकः	५	५३	अशिरः	१	५२
अम्बरीषः	४	३०	अर्मः	१	१४०	अश्मा	४	१४८
(अम्बु)	१	२७	अर्यमा	१	१५९	अश्रिः	४	१३९
अम्बलः	४	१०९	अर्वः	५	५४	अश्रु	५	२९
अम्भः	४	२११	अर्वा	४	११४	अश्रुः	४	१०३
अम्लः	४	१०९	अर्शः	४	१९७	अश्वः	१	१५१

शब्द	पाद	सूत्र	शब्द	पाद	सूत्र	शब्द	पाद	सूत्र
उज्झकः	२	३८	उषः	४	२३५	ऋजीषम्	४	२९
उत्सः	३	६८	उषा	४	२३५	ऋजुः	१	२७
उदकधरः	२	२३	उष्ट्रः	४	१६३	ऋज्रः	२	२९
उदकम्	२	४०	उष्णम्	३	२	ऋञ्जसानः	२	८८
उदरथि	४	८९	उष्म	४	१४६	ऋतम्	३	८९
उदरम्	५	१९	उष्मा	४	१४६	ऋतुः	१	७२
उदश्वित्	२	५८	उस्रः	२	१३	ऋषभः	३	१२३
उद्गीथः	२	१०	(उस्रा)	२	१३	ऋषिः	४	१२१
उद्रः	२	१३	ऊ			ऋष्यः	४	११३
उन्नेता	२	९५	ऊधः	४	१९४	ए		
उपदेष्टा	२	९६	ऊनः	३	२	एकः	३	४३
उपह्वरः	३	१	ऊमम्	१	१४४	एतः	३	८६
(उमा)	१	१४४	ऊरुः	१	३०	एतत्	१	१३३
उरः	४	१९६	(ऊर्णनाभः)	५	४७	एतशः	३	१४९
उरणः	५	१७	(ऊर्णनाभिः)	५	४७	एतशाः	३	१४९
(उरसिलः)	४	१९६	ऊर्णा	५	४७	(एता)	३	८६
उरु	१	३१	(ऊर्णायुः)	५	४७	एधतुः	१	७७
उलपम्	३	१४५	ऊर्दरः	५	४०	एनः	४	१९९
उलूकः	४	४२	ऊर्मिः	४	४५	(एनी)	३	८६
उल्का	३	४२	ऊष्मा	४	१४६	एलूकः	४	४२
उल्वः	४	९६	ऋ			एवः	१	१५२
उल्मुकम्	३	८४	ऋक्	२	५८	ऐरावती	२	२९
अशनाः	४	२४०	ऋक्थम्	२	७	ओ		
उशिक्	२	७२	ऋक्षः	३	६७	ओकः	३	४१
उशी	४	१	ऋक्षम्	३	६५	ओकः	४	२१७
(उशीनरः)	४	१	ऋक्षरः	३	७५	ओजः	४	१९३
उशीरम्	४	३२	ऋच्छरः	३	१३१	ओतुः	१	६९
उषः	४	२३५	(ऋच्छरा)	३	१३१	ओदनः	२	७७
उषपः	३	१४२	ऋजीकः	४	२३	ओम्	१	१४२
(उषर्बुधः)	४	२३५	ऋजीकः	५	५१	ओष्ठः	२	४

शब्द	पाद	सूत्र	शब्द	पाद	सूत्र	शब्द	पाद	सूत्र
कर्करेटु:	१	३७	कश्य:	४	११३	किकिदीवि:	४	५७
कर्ण:	३	१०	कषाकु:	३	७७	किकीदिवि:	४	५७
कर्दम:	४	८५	कषि:	४	१४१	किङ्कणीका	४	१६
कर्पट:	४	८२	कषीका	४	१७	किम्	४	१५६
कर्पर:	३	१३१	कस्तूर:	४	९१	किरण:	२	८२
कर्पास:	५	४५	(कस्तूरी)	४	९१	किरि:	४	१४४
कर्पूर:	४	९१	काक:	३	४३	किरीटम्	४	१८६
कर्बुर:	१	४१	काकु:	१	१	किरीर:	४	३१
कर्म	४	१४६	काणूक:	४	४०	किर्मीर:	४	३१
कर्व:	१	१५५	काण्डम्	१	११५	किल्बिषम्	१	५०
कर्वर:	२	१२३	(काण्वी)	१	१५१	किशोर:	१	६५
(कर्वरी)	२	१२३	कादम्ब:	४	८४	कीकसम्	३	११७
कर्षू:	१	८०	कारि:	४	१३०	कीकीदीवि:	४	५७
कलत्रम्	३	१०६	कारु:	१	१	कीचक:	५	३६
कलभ:	३	१२२	(कारुणिक:)	३	५३	कीनाश:	५	५६
कलम:	४	८५	कार्पास:)	५	४५	कीर्त्ति:	४	१२०
कलापक:	२	३३	कार्पक:	२	३९	कुकुर:	१	४१
कलि:	४	११९	कार्षि:	४	१२८	कुक्कुर:	१	४१
कलिलम्	१	५४	काशि:	४	११९	कुक्ष:	३	६८
कलुषम्	४	७६	(काशी)	४	११९	कुक्षि:	३	१५५
कल्कम्	३	४०	काशू:	१	८५	कुचितम्	४	१८७
कवचम्	४	२	(काश्य:)	४	११९	कुटप:	३	१४२
कवल:	१	१०६	काष्ठपुत्रिका	२	३३	कुटरु:	४	८१
कवस:	४	२	काष्ठम्	२	२	कुटि:	४	१४४
कवि:	४	१४०	(काष्ठा)	२	२	कुटितम्	४	१८७
(कवी)	४	१४०	कासार:	३	१३९	कुटिल:	१	५४
कशेरु:	१	८८	किंवदन्ती	३	५०	(कुटी)	४	१४४
(कशेरू:)	१	८८	किंशारु:	१	४	(कुटीर:)	४	३१
कश्मलम्	१	१०९	किकिदिव:	४	५७	कुट्मल:	१	१०९
कश्मीर:	४	३३	किकिदिवि:	४	५७	कुठि:	४	१४५

शब्द	पाद	सूत्र	शब्द	पाद	सूत्र	शब्द	पाद	सूत्र
चमूः	१	८०	च्युपः	३	२४	जङ्घा	५	३१
चम्पा	३	२८	च्यौत्नम्	४	१०५	जटा	५	३०
चरकः	२	३३	छ			(जटायुः)	२	१२०
चरमः	५	६९	छगलः	१	११३	(जटालः)	५	३०
चरिः	४	१४१	छत्रम्	४	१६०	जटिः	४	११९
चरित्रम्	४	१७३	छत्वरः	३	१	जटिलः	५	३०
चरुः	१	७	छदिः	२	११०	(जटिला)	५	३०
चर्पटः	४	८२	छद्म	४	१४६	जठरम्	५	३८
चर्म	४	१४६	छन्दः(अदन्तः)	४	२२०	जतु	१	१८
चषकम्	२	३३	छन्दः(सान्तः)	४	२२०	जत्रु	४	१०३
चषालः	४	१०८	छमण्डः	१	१२९	जनिः	४	१३१
(चाक्षुषम्)	२	१२१	छर्दिः	२	११०	जनित्वः	४	१०५
चाटु	१	३	छलम्	१	१०४	जनिमा	४	१५०
चात्वालः	१	११६	छविः	४	५७	जनुः	२	११७
(चामरः)	३	१३२	छागः	१	१२४	जन्तुः	१	७३
चारित्रम्	४	१७३	छातः	३	८६	जन्म(नान्तः)	४	१४६
चारु	१	३	छाया	४	११०	जन्मः(अदन्तः)	१	१४५
चिकुराः	१	४१	छित्वरः	३	१	जन्यम्	४	११२
चिक्कणम्	४	१७७	(छित्वरी)	३	१	जन्युः	३	२०
(चित्रभानुः)	३	३२	छिदकम्	२	३८	जम्वः	४	९६
चित्रम्	४	१६५	छिदिः	४	१४४	जम्वीरः	४	३१
(चित्रा)	४	१६५	छिदिरः	१	५१	जम्बुः	१	९३
चीरम्	२	२६	छिद्रम्	२	१३	जम्बूः	१	९३
चीवरः	३	१	छेदिः	४	१२०	जम्बूकः	४	४२
चीवरम्	३	१	ज			जम्भलः	१	१०६
चुक्रः	२	१४	जगत्	२	८५	जयन्तः	३	१२८
चुब्रम्	२	२९	(जगनी)	२	८५	(जयन्ती)	३	१२८
चूर्णिः	४	५३	जघनम्	५	३२	जरठः	१	१००
चेतः	४	१९०	(जघन्यम्)	५	३२	जरन्तः	३	१२६
(चैत्रः)	४	१६५	जघ्नुः	१	२२	जरसानः	२	८७

शब्द	पाद	सूत्र	शब्द	पाद	सूत्र	शब्द	पाद	सूत्र
तर्षः	३	६२	तीवरः	३	१	त्रोत्रम्	४	१७४
तलिनम्	२	५४	तीव्रम्	२	२६	त्वक्	२	६४
तलुनः	३	५४	तुण्डिः	४	११६	त्वष्टा	२	९७
(तलुनी)	३	५४	तुण्डिलः	१	५४	त्सरुः	१	७
तल्पम्	३	२८	तुत्थः	२	७	द		
तविषः	१	४८	(तुत्था)	२	७	दंष्ट्रा	४	१६०
(तविषी)	१	४८	तुन्दः	४	९९	दक्षाय्यः	३	९६
तसरः	३	७५	(तुन्दी)	४	९९	दक्षिणः	२	५१
तांतः	३	९०	तुषारम्	३	१३९	(दक्षिणा)	२	५१
तामसम्	३	११७	तुहिनम्	२	५३	दण्डः	१	११४
ताम्बूलम्	४	९१	तूणीरः	४	३१	दण्डधरः	२	२३
ताम्रम्	२	१६	तूर्णिः	४	५२	दद्रुः	१	९०
तालुः	१	५	तूलिः	४	१२१	दद्रूः	१	९०
ताविषः	१	४८	(तूली)	४	१२१	दधिषाय्यः	३	९७
(ताविषी)	१	४८	तूस्तम्	३	८६	दन्तः	३	८६
तिग्मः	१	१४६	(तूस्तयति)	३	८६	(दन्तुरः)	३	८६
(तिग्मम्)	१	१४६	तृणम्	५	८	दभ्रः	२	१३
(तिग्मा)	१	१४६	तृपत्	२	८६	दमथः	३	११३
तिजिलः	१	५६	तृपला	१	१०४	दमुनाः	४	२३६
तितउः	५	५२	तृप्रः	२	१३	(दमूनाः[टि०])	४	२३६
तित्तिरिः	४	१४४	तृफला	१	१०४	दरत्	१	१३०
तिथः	२	१२	तृष्णा	३	१२	दरथः	३	११३
तिन्तिडीकः	४	२१	तोमरः	३	१३१	दरसानः	२	८७
तिमिः	४	१२३	त्यद्	१	१३२	दर्दरीकम्	४	२१
तिमिरम्	१	५१	त्रपु	१	१०	दर्दुरः	१	४०
तिरीटम्	४	१८६	त्रयः	५	६६	दर्द्रूः	१	९०
तीक्ष्णः	३	१८	त्रिः	५	६६	दर्भः	३	१५१
(तीक्ष्णम्)	३	१८	त्रिपिष्टपम्	३	१४५	दर्वः	१	१५५
(तीक्ष्णा)	३	१८	त्रिफला	१	१०४	दर्विः	३	८४
तीर्थम्	२	७	त्रिविष्टपः	३	१४५	दर्विः	४	५४

शब्द	पाद	सूत्र	शब्द	पाद	सूत्र	शब्द	पाद	सूत्र
धातकम्	३	१४८	ध्यात्वम्	४	१०६	नलिनम्	२	५०
(धातकी)	३	१४८	ध्यामा	४	१५२	नवन्	१	१५७
धाता	२	९६	ध्राडिः	४	११९	नहुषः	४	७६
धातुः	१	६९	ध्रुवम्	२	६२	ना	२	१०२
धानाः	३	६	ध्वनिः	४	१४१	नाकुः	१	१८
धान्यम्	५	४८	न			नागः	५	६१
(धान्यवनिः)	४	१४१	नंशुकः	२	३१	नान्त्रम्	४	१६१
धाम	४	१५२	नक्षत्रम्	३	१०५	नापितः	३	८७
धासाः	४	२२२	नखः	५	२३	नाभिः	४	१२७
धिषणः	२	८३	नखरः	३	१३१	(नाभी)	४	१२७
धिषणा	२	८३	नखिः	४	१४०	नाम	४	१५२
धिष्ण्यः	४	१०८	नगः	५	६१	नारङ्गः	१	१२२
धीरः	२	२५	नटः	४	१०५	(नारी)	२	१०२
धीवरः	३	१	नदनुः	३	५२	निकषा	४	१७६
(धीवरी)	४	११६	ननन्दा	२	१००	निघण्टुः	१	३७
धीवा	४	११६	ननान्दा	२	१००	निघातिः	४	१२६
ध्रुवकः	२	३३	नन्दन्तः	३	१२७	निघृष्वः	१	१५३
ध्रुवनः	२	८१	(नन्दन्ती)	३	१२७	निद्रा	२	१८
धुस्तूरः	४	९१	नन्दयन्तः	३	१२८	निधनम्	२	८२
धूकः	३	४७	नन्दिः	४	११९	निध्रुवनम्	२	८१
(धूका)	३	४७	नप्ता	२	९७	निम्बः	४	९६
धूमः	१	१४५	(नप्त्री)	२	९७	निर्ऋथः	२	८
(धूमकेतुः)	१	७४	नभः	४	२१२	निशीथः	२	९
धूर्तः	३	८६	नभसः	३	११७	(निश्रेणी)	४	५२
धृत्वा	४	११५	(नभस्यः)	४	२१२	निषङ्गथिः	४	८८
धृषुः	१	२३	नभाकम्	४	१६	निषद्वरः	२	१२४
धेनः	३	११	नमतः	३	११०	(निषद्वरी)	२	१२४
(धेना)	३	११	नमसः	३	११७	निष्कः	३	४५
धेनुः	३	३४	नयनम्	२	७९	निहाका	३	४४
(धेनुका)	३	३४	नरकम्	५	३५	नीकः	३	४७

शब्द	पाद	सूत्र	शब्द	पाद	सूत्र	शब्द	पाद	सूत्र
पर्शुः	१	३३	पादूः	१	८५	पुण्डरीकम्	४	२१
पर्शुः	५	२७	(पापः)	३	२३	पुण्ड्रः	२	१३
पर्षत्	१	१३०	पाप्म्	३	२३	पुण्यम्	५	१५
पललम्	१	१०६	पाप्मा	४	१५२	पुत्रः	४	१६६
पलाण्डुः	१	३७	पायुः	१	१	पुमान्	४	१७९
पलालम्	१	११८	पारक्	१	१३६	पुरणः	२	८२
पलितः	३	९३	पारुः	४	१०२	पुरिः	४	१४४
पलितम्	५	३४	पार्श्वः	५	२७	पुरीषम्	४	२८
पल्वलः	४	१०८	पार्ष्णिः	४	५३	पुरुः	१	२३
पवाका	४	१४	पालिः	४	१३१	पुरुषः	४	७५
पविः	४	१४०	पाशधरः	२	२३	पुरूरवाः	४	२३३
पशुः	१	२७	पाषाणः	२	९१	पुरोधाः	४	२३२
(पांशुः)	१	२७	पिङ्गलः	१	१०९	पुलस्तिः	४	१८१
पांसुः	१	२७	पिञ्जरः	३	१३१	पुलिनम्	२	५४
पाकः	३	४३	पिञ्जूलम	४	९१	पुलिन्दः	४	८६
पाकः	५	५३	पिण्डिलः	१	५४	पुष्करम्	४	४
पाकुकः	२	३१	पिण्याकः	४	१६	पुष्कलम्	४	५
पाजः	४	२०४	पिता	२	९७	पुष्पप्रचायिका	२	३३
पाणिः	४	१३४	पिनाकः	४	१६	पूगः	१	१२४
पाण्डुः	१	३७	पियालः	३	७६	पूजिलः	१	५६
पातालः	१	११७	पिशितम	३	९५	पूरुषः	४	७५
पातिः	५	५	पिशुनः	३	५५	पूषा	१	१५९
पात्रः	४	१६०	पीतुः	१	७१	पृथक्	१	१३७
(पात्रम्)	४	१६०	पीथः	२	७	पृथवी	१	१५०
पात्रम्	४	१७१	पीयुः	१	३६	पृथिवी	१	१५०
(पात्री)	४	१६०	पीयूषम्	४	७७	पृथुः	१	२८
(पात्री)	४	१७१	पीलुः	१	३७	पृथुकः	५	५३
पाथः(उदकम्)	४	२०५	पीवरः	३	१	पृथ्वी	१	१५०
पाथः(अन्नम्)	४	२०६	(पीवरी)	४	११६	पृदाकुः	३	८०
पाथिः	२	११६	पीवा	४	११६	पृश्निः	४	५३

शब्द	पाद	सूत्र	शब्द	पाद	सूत्र	शब्द	पाद	सूत्र
पृषत्	२	८५	प्रातः	५	५९	बर्करः	३	१३१
पृषतः	३	१११	प्रापणिकः	२	४२	बर्वरः	३	१३१
पृष्ठम्	२	१२	प्रावृट्	२	५८	बर्हिः	२	१११
पेचकः	५	३७	(प्रेर्त्वरी)	४	११८	बर्हिणः	२	५०
पेत्वम्	४	१०६	प्रेर्त्वा	४	११८	बलिः	४	१२५
पेयुषम्	४	७७	प्रोथः	२	१२	बल्हिः	४	११९
पेरुः	४	१०२	प्लक्षः	३	६३	(बल्हिका)	४	११९
पेशलः	१	१०६	प्लीहा	१	१५९	बहुः	१	२९
पेषिः	४	१२०	प्लुक्षिः	३	१५५	बाहूः	१	२७
पोतः	३	८६	**फ**			बिन्दुः	१	१०
पोता (पोतृ)	२	९७	फण्डः	१	११४	बिम्बम्	४	९६
पोषयित्नुः	३	२९	फण्डम्	१	११४	(बिम्बी)	४	९६
(पौलस्त्यः)	४	१८१	फर्फरीकम्	४	२१	(बिम्बोष्ठी)	४	९६
प्रख्याः	४	२३४	फलिनः	२	५०	बुधानः	२	९१
प्रतिदिवा	१	१५६	फल्गुः	१	१८	बुघ्नः	३	५
प्रथमः	५	६८	(फल्गु)	१	१८	बृहत्	२	८५
प्रथितिः	४	१८४	फल्गुनः	३	५६	बृहती	२	८५
(प्रशत्वरी)	४	११८	फेनः	३	३	बृहद्भानुः	३	३२
प्रशत्वा	४	११८	(फेनायते)	३	३	ब्रघ्नः	३	५
प्रशास्ता	२	९५	**ब**			ब्रह्म	४	१४७
प्रस्थायी	४	९	बटिः (पाठा०)	४	११९	**भ**		
(प्रहरिः)	४	१३६	बदरम् (पाठा०)	३	१३१	भगालम्	३	७६
प्रहाणिः	४	५२	(बदरी) (पाठा०)	३	१३१	भञ्जकः	२	३३
प्रहिः	४	१३६	बधिरः	१	५१	भडिलः	१	५४
प्रह्वः	१	१५३	बन्धुः	१	१०	भण्डिलः	१	५४
प्राकषिकः	२	४२	बन्धुरः	१	४१	भदन्तः	३	१३०
प्राट्	२	५८	बन्धूकः	४	४२	भदाकः	४	१९
प्राणथः	३	११३	बन्धूरः	१	४१	भद्रम्	२	२९
प्राणन्तः	३	१२७	बन्ध्या	४	११३	भयानकः	३	८२
(प्राणन्ती)	३	१२७	बभ्रुः	१	२२	भरटः	४	१०५

शब्द	पाद	सूत्र	शब्द	पाद	सूत्र	शब्द	पाद	सूत्र
यशः	४	१९२	रजः(सान्तः)	४	२१८	(राक्षसः)	४	१९०
यष्टिः	४	१८१	रजकः	२	३३	राक्षा	३	६२
(यष्टी)	४	१८१	रजतम्	३	१११	राजन्यः	३	१००
यह्वः	१	१५४				राजा	१	१५६
याजिः	४	१२६	रजनम्	२	८०	राजातनः	२	७९
याता	२	९९	रजनिः	२	१०४	राजिः	४	१२६
यातुः	१	७३	(रजनी)	२	८०	(राजी)	४	१२६
यात्रा	४	१६९	(रजनी)	२	१०४	(राजीवम्)	४	१२६
यामः	१	१४०	रज्जुः	१	१५	रात्रिः	४	६८
यामिः	४	४४	(रञ्जनम्)	२	८०	(रात्री)	४	६८
यावसः	३	११९	रण्डा	१	११४	रामठम्	१	१०१
युग्मम्	१	१४६	रतूः	१	९२	राशिः	४	१३४
युधानः	२	९१	रत्नम्	३	१४	राष्ट्रः	४	१६०
युध्मः	१	१४५	रत्निः	४	२	राष्ट्रम्	४	१६०
युयुधानः	२	९४	रथः	२	२	रासभः	३	१२५
युवा	१	१५६	रभसः	३	११७	रास्ना	३	१५
युष्मद्	१	१३९	रमकः	२	३४	राहुः	१	३
यूका	३	४७	रमण्यम्	३	१०१	रिक्थम्	२	७
यूथः	२	१२	रमतिः	४	६४	रिपुः	१	२६
यूपः	३	२७	रवणः	२	७५	रिप्रम्	५	५५
योगः	४	१७	रवथः	३	११३	रिभ्वः	१	१५३
योनिः	४	५२	रविः	४	१४०	रुक्मः	१	१४६
योषा	३	६२	रशना	२	७६	रुक्मम्	१	१४६
योषित्	१	९७	रश्मिः	४	४७	(रुक्मिणी)	१	१४६
र			रसना	२	७६	रुक्षः	३	६६
रंहः	४	२१५	रस्नम्	३	१२	रुचकम्	२	३८
रक्षः	४	१९०	रहः	४	२१६	रुचिः	४	१२१
रघुः	१	२९	(रहस्यम्)	४	२१६	रुचितम्	४	१८७
रङ्कुः	३	४०	राः	२	६७	रुचिरम्	१	५१
रजः(अकारान्तः)	४	२१८	राका	३	४०	रुचिष्यम्	४	१८०

शब्द	पाद	सूत्र	शब्द	पाद	सूत्र	शब्द	पाद	सूत्र
(शारिका)	४	१२६	शिशुः	१	२०	शूर्पम्	३	२६
शार्ङ्गः	१	१२७	शिश्विदानः	२	६३	शूलघरः	२	२३
शार्दूलः	४	६१	शीकरः	३	१३१	शृङ्गम्	१	१२६
शालभञ्जिका	२	३३	शीघ्रुः	४	३६	शृङ्गारः	३	१३६
शाला	१	११८	शीरः	२	१३	शृधूः	१	६१
शालिः	४	१३१	शीर्विः	४	५५	(शेपः) (अका०)	४	२०२
(शालिग्रामः)	१	१४३	शीलम्	४	३६	शेपः (सान्तः)	४	२०२
शालुः	१	५	शीवा	४	११५	शेपालम्	४	३६
शालूकम्	४	४३	शुकः	३	४२	शेफः	४	२०२
शालूरः	४	६१	(शुकशारिकम्)	४	१२६	शेवः	१	१५२
शास्ता	२	६५	शुक्रम्	२	२६	शेवा	१	१५४
शास्तिः	४	१८१	शुक्लः	२	२६	शेवालम्	४	३६
शिक्यम्	५	१६	शुक्षिः	३	१५५	(शैक्यम्)	५	१६
शिखा	५	२४	शुचिः	४	१२१	(शैग्रवः)	४	१०३
शिग्रुः	४	१०३	शुनकः	२	३३	शैवलम्	४	३६
शिङ्घाणकः	३	८३	(शुनःशेपः)	४	२०२	शोचिः	२	११०
शिङ्घाणम्	३	८३	(शुनी)	१	१५६	शोथः	२	४
शितिः	४	१२३	शुन्ध्युः	३	२०	शौटीरः	४	३१
शिथिलः	१	५३	शुभ्रम्	२	१३	(शौटीर्य्यम्)	४	३१
(शिथिला)	१	५३	शुभ्रिः	४	६६	श्मश्रु	५	२८
शिनिः	४	५२	शुल्बम्	४	६६	श्यामः	१	१४५
शिरः	४	१६५	शुषिरम्	१	५१	(श्यामा)	१	१४५
शिरिः	४	१४४	शुषिलः	१	५६	श्यामाकः	४	१६
शिरीषः	४	२८	शुष्कः	३	४१	श्येतः	३	६३
शिल्पम्	३	२८	शुष्णः	३	१२	(श्येता)	३	६३
शिवः	१	१५३	शुष्मम्	१	१४४	श्येनः	२	४७
शिवम्	१	१५३	शूद्रः	२	१६	(श्येनी)	३	६३
शिवा	१	१५३	(शूद्रा)	२	१६	(श्रवणः)	२	७६
शिविरम्	१	५३	(शूद्री)	२	१६	श्रवणा	२	७६
शिशिरम्	१	५३	शूरः	२	२६	श्रवाय्यः	३	६६

द्वादशं परिशिष्टम्

परिवर्तनं परिवर्धनं संशोधनं च

उणादिकोष-व्याख्याया मुद्रणान्तरं यत्र-यत्र परिवर्तनं परिवर्धनं संशोधनं चावश्यकं विज्ञातम्, तदिह पृष्ठपंक्तिनिर्देशपुरःसरमुच्यते—

पृष्ठ ७, पं० १५–प्रथमटिप्पण्या अन्ते परिवर्धनीयम्–वृत्तिकारोऽयमग्रे (२।८३ व्याख्याने) स्वयं वक्ष्यति––'अत्र संज्ञाग्रहणेन ज्ञायते–उणादयः सामान्यार्थे यौगिका भवन्तीति।'

पृष्ठ १५, पं० ३०[1]—'(अथर्वभाष्य ६।१०।१।१)।' इत्यतोऽग्रे परिवर्धनीयम्––प्रथ विस्तारे चुरादौ नादन्तप्रकरणे पठ्यते। किं तर्हि ? 'प्रथ प्रख्याने' इत्येवं चुरादौ प्रथमप्रघट्टके निर्दिश्यते (१।२१)। णिचि 'प्रथयति' इत्यत्र प्रथेर्घटादौ पाठात् (धा० १।५१६) मित्त्वे 'मितां ह्रस्वः' (अ० ६।४।९२) इत्युपधाया ह्रस्वत्वं भवति। तस्मात् सायणस्य वृद्ध्यभावाय अदन्तत्वप्रतिज्ञानं चिन्त्यम्। '[यद्] अप्रथयत् तत्पृथिव्यै पृथिवीत्वम्' (तै० ब्रा० १।१।३।६,७) इति; 'तामप्रथयत् सा पृथिव्यभवत्' (शत० ६।१।१।१५) इत्यादिषु प्रथेर्विस्तारार्थः स्पष्ट एव।

पृष्ठ १६, पं० ८—'लङ्घति' इत्यस्य स्थाने 'लङ्घते' इत्येवं शोधनीम्।

पृष्ठ १९, पं० २०—'बन्धुरः' पदे टिप्पणी देया—अथर्ववेदे 'बन्धुर' शब्दः सर्वत्र पवर्गादिः श्रूयते। स एव ऋग्वेदे 'वन्धुर' इत्येवमन्तस्थादिरूप लभ्यते। उभयोः पाठयोस्तुलनया बन्धुर-वन्धुर शब्दौ समानार्थकौ स्तः, इति निःसंशयं शक्यते वक्तुम्। एतद्विषयेऽस्य वृत्तिकारस्य ऋग्भाष्ये (१।४७।२) अस्मत्सम्पादिते द्वितीये भागे ४६१ तमे पृष्ठे द्वितीया टिप्पणी द्रष्टव्या।

पृष्ठ १९, पं० २७—द्वितीयटिप्पण्या अग्रे परिवर्धनीयम्—अयं वृत्तिकारः ऋ० १।८७।१ मन्त्रव्याख्याने 'अविथुराः'पदस्यार्थे 'अत्र वाहुलकादौणादिकः कुरच् प्रत्ययः'इत्येवाह। भट्टोजिदीक्षितस्तु सिद्धान्तकौमुद्यामेतत्सूत्रव्याख्याने सूत्रस्थं 'घः'पदमपठित्वा 'विथुर'शब्दमेव साधयाञ्चकार।

---

१. अत्र पंक्तिगणनायां शीर्षस्थं पुस्तकनाम सूत्रपाठटिप्पणीनां मध्ये दीयमाना रेखा च नात्र परिगणिता।

प्रौढमनोरमायां च वैदिकं विथुरपदमेव पुरस्कृत्य सूत्रस्थं 'धः'पदं महता प्रपञ्चेन निराचकार। पञ्चपादीदशपाद्युभयपाठयोर्निर्विवादरूपेण पठ्यमानस्य 'धः' पदस्य निराकरणं साहसमात्रमेव। तस्माद् वैदिकस्य 'विथुर' शब्दस्य साधनाय बाहुलकाद् धकारादेशाभाववचनमेव युक्तम्।

पृष्ठ २९, पं० २२—'ह्रस्वान्तोऽनपदं' इत्यस्य स्थाने 'ह्रस्वान्तोऽनुपदं' इत्येवं पाठः शोधनीयः।

पृष्ठ ४३, पं० १६—'जन्म' इत्यत्र टिप्पणी—'जन्म' इत्यपपाठः। मक्प्रत्ययान्तत्वादकारान्तोऽयं शब्दः, तेन नपुंसके 'जन्मम्' इत्येवं शुद्धेन पाठेन भाव्यम्। नान्तस्तु 'जन्मन्' (=जन्म) अग्रे (४।१४६) वक्ष्यते।

पृष्ठ ४४, पं० ५—'कन्' इत्यस्य स्थाने 'क्वन्' इत्येवं शोधनीयम्।

पृष्ठ ४७, पं० ३—'श्वन्नुक्षन्' इत्यस्य स्थाने 'श्वनुक्षन्' इत्येवं पाठः शोधनीयः। द्रष्टव्या चात्र टिप्पणी।

पृष्ठ७८, पं० १४—'जटापूर्वात् जटायुः पक्षिराजः। जटायुशब्दः प्रायेण उकारान्तो दृश्यते। स च जटां याति प्राप्नोतीति,'मृगय्वादयश्च' (उ० १।३७)इत्यनेन 'कु'प्रत्यये द्रष्टव्यः। यद्वा-उकारान्ताद् आयुशब्दान्निर्वक्तव्यः। सान्तस्तु प्रकृतो ज्ञेयः। द्विरूपकोषे सान्तोऽपि निर्दिश्यते। महाभारते आदिपर्वणि ६६ तमेऽध्याये ७०तमे श्लोके सान्तोऽपि प्रयुज्यते। तथाहि—'अरुणस्य भार्या श्येनी तु वीर्यवन्तौ महाबलौ। सम्पातिं जनयामास वीर्यवन्तं जटायुषम्॥' इति।

पृष्ठ ८३, पं० १५—'अनिति अन्नम्' अत्र टिप्पणी देया—यास्कोऽन्नशब्दनिर्वचनमित्थं ब्रूते—'अन्नं कस्माद् आनतं भूतेभ्यः अत्तेर्वा' (नि० ३।९)। एतदनुसारम् आङ्पूर्वान्नमतेर्नप्रत्यये उपसर्गस्य ह्रस्वत्वं धातोष्टिलोपश्च भवति, अदेर्नप्रत्यये दकारस्य नकारः। महाभाष्यकारस्तु 'यो हि मुद्गप्रस्थे लवणप्रस्थं प्रक्षिपेन्नादो युक्तं स्यात्। यदि तावददेरन्नं नादोऽत्तव्यं स्यात्, अथानितेरन्नं नादो जग्ध्वा प्राण्यात्' इत्याह।

पृष्ठ ८७,पं० २६—'तस्य कारणं मृग्यम्।' इत्यंशो निष्कासयितव्यः। टिप्पण्या अन्ते (२७ पंक्तौ) च परिवर्धनीयम्। अथर्वणः ७।३५ (३६)। ३ मन्त्रे 'सूनुः' सायणभाष्यानुरोधेन क्वचित्कः पाठः। अत्र शुद्धपाठस्तु 'सूतुः' द्रष्टव्यः। अत्र उणादेः १।७१ सूत्रेण तुन् प्रत्ययः, कित्त्वविधानाच्च गुणाभावः। अयं 'सूतुः' शब्दः सूनुपर्यायो द्रष्टव्यो मन्त्रार्थसामर्थ्यात्।

पृष्ठ ८८, पं० २१—'द्युमास्था०' इत्यस्य स्थाने 'घुमास्था०' इति पठनीयम् ।

पृष्ठ ९१, पं० २६—'जॄवृशिभ्यां' इत्यस्य स्थाने 'जॄविशिभ्यां' इत्येवं शोधनीयम् ।

पृष्ठ ९३, पं० ११—'कक्षः' इत्यस्य स्थाने 'कक्षम्' इत्येवं शोधनीयम् । अत्रस्था त्रिसंख्याका टिप्पणी चापनेया ।

पृष्ठ ९४, पं ३०—'आदेशप्रत्ययोः' अत्र 'आदेशप्रत्यययोः' इत्येवं शोधनीयम् ।

पृष्ठ १०१, पं० ३—'दधिषाय्यः' इत्यत्र 'दधिषाय्यः'' इत्येकसंख्यासङ्केतः कार्यः ।

पृष्ठ १०१, पं० ४—अस्मिन् सूत्रे 'वरेण्य' शब्दस्याद्युदात्तस्वरसिद्ध्यर्थं श्वेतवनवासीस्वीकृतः 'एण्यन्' प्रत्ययो द्रष्टव्यः । यद्वा—एण्यप्रत्यये 'वृषादीनां च' (अ० ६।१।१९७) इत्यनेनाद्युदात्तत्वं वक्तव्यम् ।

पृष्ठ १०१, पं० २६—'तस्या' स्थाने 'तस्याः' पाठेन भाव्यम् ।

पृष्ठ ११२, पं० ७—'भनन्' स्थाने 'भन्' पाठेन भाव्यम् ।

पृष्ठ ११२, पं० १३, १४—'गिरति ····· तत्रस्थो वा' इत्यस्य स्थाने 'गिरति [निगिरति] गृणात्युपदिशतीति गर्भः जठरं, तत्रस्थः [स्तावकः, उपदेशको] वा' इत्येवं पाठो द्रष्टव्यः । अत्र वृत्तिकारस्य ऋ० १।७०।२ मन्त्रस्य 'गर्भः' पदव्याख्यानम्, तत्रस्था टिप्पणी च द्रष्टव्या ।

पृष्ठ ११८, पं० ५—'शॄपॄवृजां' इत्यस्य स्थाने 'शॄपॄवॄञ्जां' इत्येवं पाठेन भाव्यम् ।

पृष्ठ ११९, पं० २४–'बृहस्पति एव यागकर्ता' इत्यस्य स्थाने 'बृहस्पतिसवनामकयागस्य कर्ता' इत्येवं परिशोधनीयम् ।

पृष्ठ १२०, पं० ५—'कृशृपृ' इत्यस्य स्थाने 'कॄशॄपॄ' इत्येवं शोधनीयम् ।

पृष्ठ १२८, पं० १७—'[; रात्रि]' स्थाने '[; रात्री]' पाठेन भाव्यम् ।

पृष्ठ १३९, पं० २४—'वाटयति' स्थाने 'वटयति' पाठेन भवितव्यम् । 'पट वट ग्रन्थे' (धा० १०।२८३) इत्यदन्तप्रकरणे पाठात् ।

पृष्ठ १४५, पं० ४—'खनिकष्यज्यसि' इत्यस्य स्थाने 'खनिकष्यञ्ज्यसि' पाठेन भवितव्यम् ।

पृष्ठ १४५, पं० ४—'अजिः' स्थाने 'अञ्जिः' पाठेन भाव्यम् ।

पृष्ठ १४७, १४८, सूत्र १४८-१५२—सर्वत्र पञ्चपाद्यां दशपाद्यां चायमेव सूत्रक्रमः । अत्र १४८ सूत्रे 'मनिन्' अनुवर्तने, १४६ सूत्रे 'इमनिच्', १५० सूत्रे 'इमनिन्' प्रत्यय उक्तः । ततः १५२सूत्रे नामनादयो मनिनन्ता निपातिताः । तत्र १४६, १५०, १५१ सूत्रैर्भिन्नप्रत्ययविधायकैर्व्यवधाने कथं १५२ सूत्रे मनिनन्ता निपात्यन्ते ? श्वेतवनवासिनो वृत्तेरेकस्मिन् हस्तलेखे इमनिनन्ता नामनादयो निपात्यन्ते प्रत्ययादेरिकारस्य च लोपः । अस्यां वृत्तौ तु न कश्चिद् दोषः । तस्मादिमनिनन्ता एव नामनादयो निपातनीयाः । विशेषस्तु देवा एव ज्ञातुमर्हन्ति ।

पृष्ठ १५४, पं० ३—'अशित्रादिभ्यः' सूत्रे 'त्रादि' इत्यत्र उभयथा सन्धिविच्छेदः सम्भवति=त्रा+आदि=त्रादि, तृ+आदि=त्रादि । अनेन वृत्तिकारेणेह प्रथमं संधिविच्छेदं (=त्रा+आदि) मत्वा 'उत्र' प्रत्यये 'त्रोत्रम्' पदं निरुक्तम्; परंतु वेदेऽसकृच्छ्रूयमाणस्तरुत्रशब्दोऽप्यनेनैव द्वितीयं संधिच्छेदम् (तृ+आदि) आश्रित्य साधनीयः । द्रष्टव्यमत्र सायणभाष्यम्—ऋ० १।११७।६। तरुत्रशब्दस्याद्युदात्तत्वान्नित्वं वा प्रत्ययस्य कल्पनीयं, छान्दसो वा स्वरनिर्देशो वक्तव्यः ।

पृष्ठ १५६, पं० १६—'दृतिः' ह्रस्वविधानसामर्थ्यादिह गुणो न भवति ।

पृष्ठ १६४, पं० २५—'ऋग्भाष्य १।१६।११' इत्यस्य स्थाने 'ऋग्भाष्य १।१५।११' इत्येवं शोधनीयम् ।

पृष्ठ १६४,पं० २६—'प्रपञ्चयांचकार' इत्यस्याग्रे परिवर्धनीयम्—अयं वृत्तिकारो वेदभाष्येऽस्य सूत्रस्येह निर्दिष्टामेव वृत्तिं स्वीकुर्वाणः धायसे' (ऋ० १।७२।६) पदव्याख्याने 'बाहुलकादौणादिकोऽसुन् प्रत्ययो युट् च' इत्युक्तवान् । यजुषो भाष्ये (१।४) 'विश्वधाया' पदव्याख्याने 'विश्वोपपदे डुधाञ्धातोरसुन्प्रत्ययः, बाहुलकाण्णिच्च' इत्याह ।

पृष्ठ १६६, पं० २—'नृचक्षाः' अत्र '[विचक्षाः ।] नृचक्षाः' इत्येवं पठनीयम् ।

पृष्ठ १६६, पं० ११—'उषाः' अत्र 'उषः' इत्येवं शोधनीयम् ।

पृष्ठ १६६, पं० ९—'सो रमेः' इत्यस्य स्थाने 'सौ रमेः' इत्येवं शोधनीयम् ।

पृष्ठ १७०,पं० १—'यण् णुग्घ्रस्वश्च' इह टिप्पणी देया—अत्र 'यत्' 'यन्' इत्युभयथाऽपि सन्धिविच्छेदः सुकरः, संहितायास्तुल्यत्वात् । यद्यपि ह यति 'यतो नावः' (अ० ६।१।२०७) इत्यनेन यनि नित्त्वाच्च (अ० ६।१।१९१) पुण्यशब्दस्य आद्युदात्तत्वं शक्यते वक्तुम्, तथाप्युत्तरसूत्रेऽन्तस्वरितस्य 'शिक्य'पदस्य साधनात् 'यत्' विच्छेद एव साधीयान् । शिक्यशब्दस्यान्तस्वरितत्वं 'तिल्यशिक्यमर्त्यकाश्मर्यधान्यकन्याराजन्यमनुष्याणामन्तः' इति फिट् सूत्रेण (४।८) विधीयते । यत्यपि 'शिक्य'शब्दे 'यतोऽनावः' (अ० ६।१।२०७) सूत्रेण यदाद्युदात्तत्वं प्राप्नोति, तद् 'क्वचिदपवादविषयेऽप्युत्सर्गः प्रवर्तते' इति न्यायेन तित्स्वरितेनान्तस्वारितत्वं भवति, यथा यत्प्रत्ययान्ते 'मेध्य'शब्दे तैत्तिरीय (४।५।७), काठक (१७।१५) संहितयोरन्तस्वरितत्वं दृश्यते । विशेषविचार इह 'दुष्कृताय चरकाचार्यम्' शीर्षके लेखे (वेदवाणी वर्ष ५ अं० १, कार्तिक २००९) द्रष्टव्यः ।

पृष्ठ १७०, पं० २५—'क्यु जुच्च'……'क्यु नुच्च' इत्यस्य स्थाने 'क्युजुच्च'… 'क्युनुच्च' इत्येवं संमेल्य पठनीयम् ।

पृष्ठ १७२, पं० ४—'अश्व्रादयश्च' इत्यस्य स्थाने 'अश्र्वादयश्च' इत्येवं शोधनीयम् ।

पृष्ठ १७२, पं० १२—'श्मश्रुः' इत्यस्य स्थाने 'श्मश्रु' इत्येवं निर्विसर्गः पाठो द्रष्टव्यः ।

पृष्ठ १७४,पं० ४, १४—उभयत्र 'घातनः' स्थाने 'घतनः' इत्येवं पाठः शोधनीयः । शब्दसूच्याम् (पृष्ठ २३९, कालम २) अपि 'घातनः'पदं निष्कासनीम् । शुद्धो 'घतनः' शब्दोऽपि तत्र निर्दिष्टः ।

पृष्ठ १७६, पं० २—'ऋजः' इत्यस्य स्थाने 'ऋजेः' इत्येवं शोधनीयम् ।



श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित और प्रसारित ग्रन्थ

वेद-विषयक-ग्रन्थ

१. यजुर्वेदभाष्य-विवरण (प्रथम भाग) — अप्राप्य
यजुर्वेदभाष्य-विवरण (द्वितीय भाग) — २०-००

२. ऋग्वेदभाष्य—ऋषि दयानन्द कृत। टिप्पणियों तथा विविध सूचियों के साथ शुद्ध सुन्दर संस्करण। — प्रथम भाग २५-००
द्वितीय भाग २५-००

३. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका — १५-००
भूमिका पर किए गए आक्षेपों के उत्तर — १-५०

४. माध्यन्दिनपदपाठ—(यजुर्वेद का पदपाठ) — १५-००

५. वैदिक-स्वर-मीमांसा — ५-००

६. ऋग्वेद की ऋक्संख्या—(विविध मतों की आलोचना) — १-००

७. वेद-संज्ञा-मीमांसा — ०-७५

८. देवापि और शन्तनु के वैदिक आख्यान का स्वरूप — ०-७५

९. वेद और निरुक्त — ०-७५

१०. निरुक्तकार और वेद में इतिहास — ०-७५

११. त्वाष्ट्री-सरण्यू आख्यान का वास्तविक स्वरूप — ०-७५

१२. वेद में आर्य-दास-युद्ध सम्बन्धी पाश्चात्य मत का खण्डन—
ले० स्व० पं० रामगोपाल शास्त्री वैद्य — ०-७५

१३. वेद में प्रयुक्त विविध स्वराङ्कन-प्रकार — २-००, सजिल्द ३-००

कर्मकाण्ड-सम्बन्धी ग्रन्थ

१४. संस्कारविधि (साधारण संस्करण)— — ३-०० सजिल्द ४-००
आर्य-समाज-शताब्दी संस्करण—११ प्रकार की सूचियों और टिप्पणियों से युक्त — अजिल्द ८-००, सजिल्द १०-००

१५. संस्कार-समुच्चय — सजिल्द १५-००

१६. वैदिक-नित्यकर्म-विधि (व्याख्या-सहित) — १-५०

१७. पञ्चमहायज्ञविधि १-००

१८. पञ्चमहायज्ञप्रदीप ३-००

१९. हवनमन्त्र—(मूलमात्र) ०-२०

२०. सन्ध्योपासनविधि—(अर्थसहित) ०-२०

२१. सन्ध्योपासनविधि—अर्थ और दैनिक हवन-मन्त्र सहित ०-२५

शिक्षा-निरुक्त-व्याकरण-सम्बन्धी ग्रन्थ

✓२२. वर्णोच्चारणशिक्षा ०-४०

✓२३. शिक्षासूत्राणि—आपिशलि-पाणिनि-चन्द्रगोमी प्रोक्त १-५०

✓२४. शिक्षा-शास्त्रम्—पं० जगदीशाचार्य ४-००

✓२५. निरुक्त-शास्त्र—पं० भगवद्दत्त (भाषा-टीका) २५-००

२६. निरुक्तसमुच्चयः ६-००

✓२७. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः १-५०

२८. पाणिनीयं शब्दानुशासनम् (भाग १)—पाणिनीय सूत्रपाठ के विविध पाठ-भेद तथा सूत्रसूची सहित। सजिल्द ४-००

२९. धातुपाठः—धातुसूची-सहित १-५०

३०. संस्कृत-धातुकोषः ३-००

३१. अष्टाध्यायी-भाष्य—(प्रथम भाग) १५-००
द्वितीय भाग १६-००, तृतीय भाग १५-००

✓३२. महाभाष्य यु० मी० कृत हिन्दी-व्याख्या सहित। द्वितीय भाग सजिल्द २०-००, तृतीय भाग—२०-००

३३. संस्कृत-पठनपाठन की अनुभूत सरलतम विधि
प्रथम भाग ५-००, द्वितीय भाग ६-५०

३४. उणादिकोष—विविध टिप्पणियों, सूचियों और परिशिष्ट के साथ स्वामी दयानन्द सरस्वती विरचित व्याख्या का शुद्ध सुन्दर संस्करण। मूल्य ७-००
सजिल्द १०-००

३५. दैवम्-पुरुषकारवार्तिकोपेतम् ८-००

३६. काशकृत्स्न-धातु-व्याख्यानम् ८-००

३७. काशकृत्स्न-व्याकरणम् ३-००

३८. वामनीयलिङ्गानुशासनम्-(स्वोपज्ञवृत्ति-सहितम्) अजिल्द ३-००
सजिल्द ४-००

३९. लिट् और लुङ् लकार की रूप-बोधक सरलविधि २-००

४०. शब्दरूपावली ०-७५

४१. भागवृत्तिसंकलनम्—अष्टाध्यायी की प्राचीन वृत्ति ३-००
४२. संस्कृतवाक्यप्रबोध—स्वामी दयानन्द कृत (मूल मात्र) ०-६०
" " " —आक्षेपों के उत्तर सहित १-२५

अध्यात्मविषयक ग्रन्थ

४३. अनासक्ति-योग—मोक्ष की पगदण्डी १०-००
४४. Aryabhivinaya English Translation and Notes
अजिल्द ३-००, सजिल्द ४-००
४५. विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्रम् (सत्यभाष्य-सहितम्)—४ भाग
प्रति भाग १२-५०
४६. आत्मा की जीवनगाथा १-००
४७. हंसगीता ०-४०
४८. वैदिक ईश्वरोपासना ०-४०
४९. अगम्य पन्थ के यात्री को आत्मदर्शन २-००

इतिहास-राजनीति-विषयक ग्रन्थ

५०. वाल्मीकि-रामायण—(हिन्दी अनुवाद सहित) बालकाण्ड ३-५०
अयोध्याकाण्ड ५-५० अरण्य-किष्किन्धाकाण्ड ६-५०
सुन्दरकाण्ड ४-००, युद्धकाण्ड १०-५०, पूरा सैट ३०-००
५१. विदुरनीति—पदार्थ भावार्थ सहित ५-००
५२. सत्याग्रहनीतिकाव्य—भाषानुवाद सहित ५-००
५३. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास—नया संस्करण प्रथम भाग २५-००
द्वितीय भाग २०-००, तृतीय भाग १५-०० पूरा सैट ६०-००
५४. संस्कृतव्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि
सजिल्द १०-००
५५. ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्म-चरित १-००
५६. ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की संस्कृत साहित्य को देन
सजिल्द १०-००
५७. पूना-प्रवचन (उपदेश मञ्जरी) ३-००
५८. विरजानन्द-प्रकाश २-००
५९. आर्य-समाज के वेदसेवक विद्वान्—डा० भवानीलाल ३-००

विविध-विषयक प्रामाणिक ग्रन्थ

६०. सत्यार्थप्रकाश सजिल्द ६-००, अजिल्द ५-००

सत्याअर्थप्रकाश—(आर्यसमाज-शताब्दी संस्करण)—२५०० टिप्पणियों और ११ प्रकार की सूचियों से युक्त। १५-००

६१. दयानन्दीय लघुग्रन्थ संग्रह—ऋषियों १४-१५ लघुग्रन्थों का संग्रह। टिप्पणियों और विविध सूचियों तथा परिशिष्टों के साथ १५-००

६२. व्यवहारभानु ०-३५

६३. आर्योद्देश्यरत्नमाला ०-१५

६४. भागवत-खण्डनम् ०-५०

६५. अष्टोत्तरशतनाममालिका ५-००

६६. प्यारा ऋषि (ऋ.द. के जीवन की विशेष घटनाएं) ०-७५

६७. अमीरसुधा—भक्त अमीचन्द कृत भजन-संग्रह ०-५०

६८. देवतावाद का भौतिक तथा वैज्ञानिक रहस्य १-००

६९. वेद में मनुष्य इतिहास नहीं २-००

७०. दयानन्द-शास्त्रार्थ-संग्रह ४-००

७१. नाडी-तत्त्व-दर्शनम् सजिल्द १०-००

७२. परमाणु दर्शनम्—ले० जगदीश आचार्य ४-००

७३. षट्कर्मशास्त्रम्— " " ८-००

७४. सिद्धान्तशतकम्—ले० जयदेव शास्त्री १०-००

७५. श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी की जीवनी ०.५०

७६. Vegetarianism Vs: MeatEatings—ले० कर्मनारायण कपूर मूल्य ०-५०

वे द वा णी

यह पत्रिका निरन्तर २५ वर्ष से विना किसी बाधा के प्रकाशित हो रही है। इसमें वेदादि सत्यशास्त्रों के सम्बन्ध में तथा आर्यसमाज के मन्तव्यसम्बन्धी खोजपूर्ण लेख छपते हैं। प्रतिवर्ष एक बृहत्काय विशेषाङ्क भी प्रकाशित होता है। कागज की अत्यधिक मंहगाई के कारण वेदवाणी का सामान्य वार्षिक चन्दा १०) रु० है।

मिलने का पता—

वेदवाणी कार्यालय

पो०—बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)